

साधुमार्ग विशेषांक
सितम्बर-अक्टूबर १९८७
वर्ष १७ अंक ५-६

तीर्थकर

१६७-१६८



सच्चा श्रमणोपासक

जो रात-दिन दुखों के दरिया में गोता खाता रहता है, जो कठिनाइयों को देख कर डर जाता है, वह सच्चा श्रमणोपासक नहीं कहला सकता ।

श्रमणोपासक को किसी भी हालत में दुःख नहीं सता सकता । उसके चेहरे पर सदा हँसी नाचती रहती है ।

जब वह कष्टों या कठिनाइयों से घिर जाता है तो बीरतापूर्वक उनका सामना करता है । निराशा का तो वह नाम ही नहीं जानता ।

सिद्धिचार

विचार-मासिक

सिद्धिचार की वर्णमाला में सदाचार ~~का प्रबन्ध~~

साधुमार्ग विशेषांक

वर्ष १७; अंक ५-६; सितम्बर-अक्टूबर १९८७
भाद्रपद-आश्विन वि. सं. २०४४; वि. नि. सं. २५१३

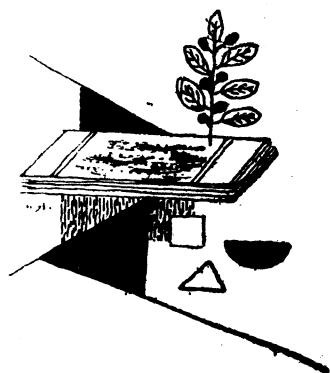
संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटर, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित



“सा मूहिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिए कुछ सिद्धान्तों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही, या उससे कुछ अधिक आवश्यक उन सिद्धान्तों का उपयुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिये। यदि हम ऐसे सिद्धान्तों का भार जन्म-भर ढोते रहें, जिनका उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञात न हो, तो हमारी दशा उस पशु से भिन्न न होगी जिसको बिना जाने ही शास्त्रों और धर्मग्रन्थों का भार वहन करना पड़ता हो।

—महादेवी वर्मा

क्या/कहाँ

श्रमणोपासक आव. २

रास्तों के लिए एक रास्ता

—संपादकीय ५

साधु : विशेषणों का विशेषण

—डॉ. नेमीचन्द जैन ११

अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो (कविता)

—राजमल पवैया १७

‘इदं न मम’—यह मेरा नहीं है (प्रवचन)

—जैनाचार्य श्री जवाहरलाल २१

सूक्ति-प्रसंग

—जैनाचार्य श्री जवाहरलाल ३३

सच्ची स्वतन्त्रता की स्थापना कब ? (प्रवचन)

—जैनाचार्य श्री नानालाल ४६

धरम को मंडन भरम को विहंडन जु (कविता)

—बनारसीदास ४८

धर्मपाल-अभियान : अन्धे-अभिषप्त गलियारों में रोशनी की
चन्दन-सी बौछार

—प्रलयंकर ५३

सूक्ति-शुक्तियाँ (घयनिका) ७५-१२४

—जैनाचार्य श्री जवाहरलाल (८१-१२१)

—जैनाचार्य श्री नानालाल (१२२-१२४)

समता-दर्शन : नये परिप्रेक्ष्य में

—जैनाचार्य श्री नानालाल १२५

समीक्षण-ध्यान : एक अनुशीलन

—शान्ति मुनि १३५

धर्म और विज्ञान

—ज्ञान मुनि १४५

साधुमार्ग : विशेषांक : मैं

—डॉ. नेमीचन्द जैन १५२

आचार्य श्री नानालालजी के साथ २४ घंटे

—डॉ. नेमीचन्द जैन १६३

साधुमार्गी शब्द-कोश (शब्द-संख्या : २००) १७१

साधुमार्ग/साहित्य (चुनें और पढ़ें) १७६

परिचर्चा १८५

पर अब ऐसा नहीं लगता (खत : जो अन्तिम नहीं है)

—गणेश ललवानी १६३

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) १६५

पत्र-पत्रांश २०३

समाचार-परिशिष्ट २०५

जैनधर्म मूलतः साधुमार्गी; सर्वप्रथम मुनिधर्म आव. ३

चलता-फिरता शव आव. ४

प्रतीक-रेखांकन (सूक्ति-प्रसंग) तथा सूक्ति-शुक्तियाँ (सूक्ति क्र. ४३, ५६, ८२)

श्रीमती मधु शर्मा तथा आवरण एवं अन्य प्रतीक-रेखांकन संतोष जड़िया

रास्तों के लिए एक रास्ता

‘साधुमार्ग’ का क्या अर्थ है ? क्या यह सिर्फ एक कोरमकोर संप्रदाय है, या इसका कोई उदात्त अर्थ भी है—ऐसा अर्थ जो जीवन को अच्छाइयों/उत्कृष्टताओं के लिए प्रेरित करता, या कर सकता है ? साधुमार्ग में जो ‘साधु’ शब्द आया है, वह बहुत सार्थक है । जानना चाहिये इसके अर्थ को, उसकी तमाम गहराइयों में ।

‘साधु’ का अर्थ संन्यासी, संयति, मुन आदि तो आमतौर पर है ही; किन्तु एक विशेषण के रूप में इसका अर्थ है आदर्श या मानक । ‘मानक’ के लिए अंग्रजी में ‘स्टैंडर्ड’ शब्द प्रयुक्त है, जिसके मायने हैं ‘वह जो जम कर जूझ सके’ (देट व्हिच केन स्टैंड हार्ड) । साधु का अर्थ भी यही है । साधु यानी वह जो अपने अस्तित्व के किसी भी संघर्ष में बना रहे—टिका रहे। कोई भी वस्तु या स्थिति जो अपने अस्तित्व के किसी भी/कैसे भी संघर्ष में अपनी मौलिकताओं को सुरक्षित रखती है (रख सकती है) वह साधु है । साधु शब्द आदर्श के अर्थ में भी प्रयुक्त है । साधु का एक प्रचलित अर्थ है मानक—वह जिसे मान (स्केल) के रूप में ग्रहण किया जा सके—जिसे इस तरह सामने रखा जा सके कि उससे उस-जैसी अन्य वस्तुओं की गुणवत्ता मापी जा सके ।

‘आदर्श’ बहुत सीधा-सादा शब्द है । मान लीजिये, किसी शिशु को अक्षर-ज्ञान कराना है और वह नागरी वर्णमाला का ‘अ’ लिखना सीख रहा है । इसे बनाना वह कैसे सीखगा ? उस पुस्तक की ‘अ’ आकृति से जो उसे दी गयी है । तो क्या वह बिल्कुल हू-ब-हू वैसा-का-वैसा ‘अ’ बना पायेगा ? नहीं; किन्तु उसके द्वारा बनायी गयी आकृति को देख कर यह भी नहीं कहा जा सकेगा कि उसने ‘अ’ नहीं बनाया है । मानक ‘अ’ जैसा वह है, स्वयं में ही मानक ‘अ’ नहीं है । जो ‘अ’ छपा है, वह भी किसी परम्परित मानक ‘अ’ की अनुकृति है । आकृति, जो अनुकृतियों के लिए एक प्रामाणिक साँचे का काम करे—मानक है ।

इस उदाहरण से हम समझ सकेंगे कि साधुमार्ग का अर्थ क्या है ? वह मार्ग जो मुक्ति के लिए मानक है, साधुमार्ग है । एक दूसरा अर्थ हुआ : ऐसा मार्ग जो किन्हीं साधुओं द्वारा प्रवर्तित है साधुमार्ग है । तीसरा अर्थ हुआ : ऐसा मार्ग जिसमें साधुओं को आदर्श माना जाता है साधु मार्ग है । एक चौथा सहज और प्रेरक अर्थ हुआ : वह मार्ग जिसे देख कर और-और मार्ग स्वयं को निर्विवाद

निष्कण्टक, और सोद्देश्य कर सकें, साधुमार्ग है। अगर हम और ज्यादा आसान शब्दों में इस शब्द के अर्थ को पकड़ना चाहेंगे तो कहेंगे कि ऐसी सड़क जिस पर दूसरी सड़कें चल सकें अर्थात् मार्गों-का-मार्ग साधुमार्ग है।

ख्याल रहे यहाँ यह अर्थ हम किसी साम्प्रदायिक उद्दीपन में नहीं कह रहे हैं, बल्कि सत्य-की-खोज को ले कर कह रहे हैं। यहाँ हम यह मानने को तैयार हैं कि आज जिसे हम साधुमार्ग कह रहे हैं, हो सकता है पहले वह साधुमार्ग रहा हो, आज इस क्षण न हो; या आज इस क्षण साधुमार्ग हो, पहले न रहा हो।

कोई भी सत्यान्वेषी किसी भी मार्ग को कभी अन्तिम निरूपित नहीं करेगा, बल्कि वह साधना करता जाएगा और सत्य को क्रमशः उसकी समग्रता में हासिल करता जाएगा। स्पष्ट है : जो लोग सत्य और सम्यक्त्व के लिए कोई पराक्रम नहीं करना चाहते वे साधुमार्गी नहीं हैं। साधुमार्गी होने की प्रथम शर्त है सम्यक्त्व के लिए तड़प और तत्परता। जो लोग सम्यक्त्व के लिए कमर तो कसते नहीं हैं और स्वयं को साधुमार्गी कहलवाना चाहते हैं, वे भ्रमित हैं—साधुमार्गी नहीं हैं। वे व्यर्थ ही भटक रहे हैं इस गलतफहमी में कि उन्हें सत्य/सम्यक्त्व मिल जाएगा; किन्तु ख्याल रहे उन्हें 'समकित' तो 'समकित' उसकी परछाहीं भी नसीब नहीं होगी और उस बिन्दु पर उन्हें फिर लौट आना होगा जहाँ से वे एक भ्रम पर पाँव रख कर चले थे; वस्तुतः अपने प्रस्थान-बिन्दु को पूरे विवेक से तय करने वाला व्यक्ति ही साधुमार्गी है। साधुमार्ग साधु हो सकता है; किन्तु एकदम सरस और सरल हम उसे नहीं कह सकते, अतः निष्कर्षतः हम कहेंगे कि साधुमार्ग कहने और दीख पड़ने को आसान है, किन्तु वह है तलवार की प्रखर/दिगम्बर धार। धार तीखी हो और बेपर्दा हो तो फिर उसे सहना मुश्किल होता है। साधुमार्ग का मुसाफिर न तो धार की तीक्ष्णता से भय खाता है और न ही उसकी नग्नता से। अक्सर होता यह है कि लोग वस्तु को तो पाना चाहते हैं; किन्तु उसकी परिपूर्ण नग्नता/निर्वस्त्रता से घबराते हैं। वस्तुस्वरूप को उसकी संपूर्ण नग्नता में देखने और पाने वाले व्यक्ति को ही हम असली साधुमार्गी कह सकते हैं। सत्यार्थी काँटे को उसकी असलियत में देख कर उसकी तीखी नोक के सामने कभी अपना सर नहीं झुकाता है, बल्कि उसकी तीक्ष्णता से जूझता है और उसे सर झुकाने पर मजबूर करता है।

सत्य के साथ संघर्ष अनुबद्ध है—जुड़ा हुआ है। जो सत्य-की-राह पर है मानना ही चाहिये कि पग-पग पर जूझना होगा उसे सत्य तक अपनी पहुँच बनाने के लिए। साधुमार्गी को हम सतत् संघर्षरत इसलिए कहेंगे चूँकि सौटंच साधुत्व की तलाश में उसे अशुद्धताओं और शिथिलताओं से जूझना होता है और

कंठीली झाड़ियों में-से गुजर कर अपनी डगर बनानी होती है । कोई साधुमार्गी न तो सुविधा-भोगी हो सकता है और न ही शिथिलताओं और सुस्तियों, दोषों और दुर्गुणों से समझौता कर सकता है । वह अपनी साधना-यात्रा में जो भी उपलब्ध करता है, उसे भावशुद्धि की कसौटी पर कसता है और तदनन्तर अंगीकार करता है । वस्तुतः एक साधुमार्गी का रास्ता एक ऐसा रास्ता है जो चौड़ा, साफ-सुथरा, शुद्ध और निष्कण्टक है; किन्तु जिसे ढूँढ़ना, पहिचानना, और फिर उस पर चलना मुश्किल है ।

साधुमार्ग, जिसे हम 'सड़कों-के-लिए-सड़क' कह सकते हैं, कठोर अनुशासन का मार्ग है । मर्यादाओं का परिपालन साधुमार्ग की प्रथम शर्त है । 'मर्यादा' का अर्थ सीमा-चिह्न है । साधुता के कुछ सीमा-चिह्न हैं, जिनका उल्लंघन संभव नहीं है । ये सीमा-चिह्न/मर्यादाएँ किसी अन्धी राह पर चलने वाले व्यक्ति द्वारा निरूपित नहीं हैं, बल्कि उन साधकों द्वारा प्रवर्तित हैं, जिन्हें स्वानुभूति हुई और जो लगातार स्वयं को विकसित करते रहे । जो आत्मोदय के पथ पर प्रतिपल जागते हैं, हम उन्हें साधुमार्गी कहते हैं । साधुमार्ग उत्कृष्ट संयम के धरातल पर खड़ा एक ऐसा राजमार्ग है जो व्यक्ति-मुक्ति से ले कर समाज-मुक्ति तक निर्विघ्न जाता है ।

अनुशासन साधुमार्ग की अगली शर्त है । जिस अनुशासन की बात यहाँ हम कर रहे हैं, वह राजनीति या अर्थनीति से संबन्धित नहीं है, बल्कि इसका सरोकार स्वयं-पर-स्वयं-के-नियमन से है । हम खोजें स्वयं-को स्वयं-में और निश्चित करें ऐसी सीमा-रेखाएँ जिनके फलस्वरूप हम आत्मोन्नयन की दिशा में अनथक बढ़ सकें । यह आत्मानुशासन दिखावे के लिए बिल्कुल नहीं होगा, यहाँ तो दृश्य और दृष्टा दोनों एक हो रहेंगे । स्वयं को देखने वाला जब बाहर से कोई होता है, तब हम भयभीत रहते हैं और ऐसे सुराख या अवसर ढूँढ़ते हैं, जिनसे हो कर ऐसा कुछ हम करते रह सकें जो अनुचित और असंयत हो; किन्तु जब हम खुद अपनी खुदी के पहरेदार होते हैं तब सारी आशंकाएँ खत्म हो जाती हैं और हम सत्य की राह पर ज्यादा तेज हो जाते हैं । साधुमार्ग को, इसीलिए, हम आत्मोदय का सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं । कठोर/अनुल्लंघ्य अनुशासन के बिना साधुमार्ग से हो कर मोक्ष तक जाना असंभव है ।

आत्मदर्शन के समान्तर हम आत्मशोधन की दिशा में भी अपने पाँव उठाते हैं । इस पड़ाव पर हम अन्तःसमीक्षा करते हैं; जीवन के पूरे पट-पटल की आलोचना करते हैं और उन दोषों को जो पट या पटल को छिन्न या खिन्न करते हैं, पूरी ताकत से निकाल फेंकने की कोशिश करते हैं । एक सच्चा साधुमार्गी यथार्थ-भरक आलोचना और आलुछना के बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ता । वह अपने

दोषों का दीर्घीकरण (मैग्निफिकेशन) करता है यानी उन्हें पूरी तफसील में साक्षि-पूर्वक उचाड़ता है और फिर जिस तरह एक काँटे को हम पूरी सावधानी से जड़-मूल से उखाड़ फेंकते हैं और निष्कण्टक हो जाते हैं, ठीक उसी तरह वह आलोचना द्वारा अपने दोषों को दोषरूप देख कर उन्हें बहुत सावधानी और अप्रमत्तता के साथ निकाल फेंकता है; साधुमार्गी की इस शल्यक्रिया (ऑपरेशन) का कोई उत्तर नहीं है। इसी 'अनुत्तर ऑपरेशन' का नाम साधुमार्ग है।

साधुमार्ग चूँकि जैनधर्म का पर्याय शब्द है, अतः यहाँ हम जैनदर्शन द्वारा निरूपित स्वाधीनता के तथ्य को पूरी तरह स्वीकार रहे हैं। स्वाधीनता लोक का तथा उसके रचयिता द्रव्यों का मूल तत्त्व है। कोई अस्तित्व ऐसा नहीं है, जो पराधीन हो, या जो किसी अन्य द्रव्य की स्वाधीनता को छेड़ता अथवा नष्ट करता, या कर सकता हो। तमाम द्रव्य स्वायत्त हैं और स्वयंपूर्ण हैं। कोई किसी पर आश्रित नहीं है। स्वतन्त्रता उनकी अस्मिता है। सत् उनका मुख्य लक्षण है। एक सत् दूसरे सत् को/किसी तरह डिस्टर्ब नहीं कर सकता—दिलचस्प यह भी है कि एक सत् दूसरे सत् में रूपान्तरित भी नहीं हो सकता। वह वही रह सकता है, जो वह है; जो वह नहीं है, वह, वह कभी हो ही नहीं सकता, इसलिए साधुमार्गी को एक स्वतन्त्र/निःशंक चिन्तक के रूप में उभरना चाहिये इस तरह कुछ कि जो बिना किसी भय, आतंक, या दबाव के सोच सके।

इस तरह का स्वायत्त सोच स्वाध्याय की अनुपस्थिति में असंभव है। आप कहेंगे कि आप स्वाध्याय नहीं करेंगे और स्वतन्त्र सोचेंगे तो यह संभव नहीं है। जब तक आप लोक को, खुद को स्वाध्याय में-से गुज़र कर जानने का मुद्दू और समीचीन प्रयास नहीं करेंगे, स्वतन्त्र चिन्तन की स्वस्थ प्रक्रिया में नहीं उतर सकेंगे। ज़रूरी नहीं है कि स्वाध्याय किन्हीं ग्रन्थों और पौथों का किया जाए—वह चलते-रुकते, बैठते-उठते, जागते-सोते किसी भी हालत में किया जा सकता है। सच्चा स्वाध्याय है अपनी स्वाधीनता को खोजना और उसे अखण्ड उपलब्ध करना।

ज्ञान यदि सम्यक् वह है तो किसी अन्य पर निर्भर वह नहीं है। सम्यग्ज्ञान किसी अन्य पर निर्भर नहीं होता (सापेक्ष होना एक अलग बात है), वह स्वयं में परिपूर्ण होता है। यह ज्ञान की ही महिमा है कि हम स्वयं को पहिचान और जान पाते हैं, अतः स्वाध्याय का सीधा मतलब हुआ स्वयं को, जो स्व नहीं है उससे विविक्त करना और अपने असली रूप को खोजना/पाना। जब हम सारी मिलावटों को पहिचान कर उनमें से हट निकलने की प्रक्रिया में होते हैं, तब हम उसे स्वाध्याय और सामायिक में होना कहते हैं। इस प्रक्रिया के लिए जैनागम में एक तकनीकी शब्द प्रयुक्त हुआ है—भेद-विज्ञान; अर्थ है स्वयं को शरीर से

इस तरह अलगगते जाना कि शरीर अलग रह जाए और आत्मतत्त्व अलग आ जाये । दधि-मन्थन में-से जिस तरह मक्खन अलग आ होता है, ठीक उसी तरह साधना में आत्मतत्त्व अलग आ खड़ा होता है और शरीर-रूपी छाछ अलग आ निकलती है । स्वाध्याय की रई से ही आत्मतत्त्व को अलगगाना संभव है ।

स्वाध्याय की यह खूबी है कि वह स्वाध्याय-में-प्रवृत्त व्यक्ति को समता की ओर ले आता है । समत्व एक अद्भुत ऋद्धि है । यह एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जिसके पाते ही माटी-सोना, सुख-दुख, जीवन-मरण, पुण्य-पाप, सम-विषम, हर्ष-विषाद के तमाम द्वन्द्व खत्म हो जाते हैं । इस दृष्टि के खुलते ही व्यक्ति आपो-आप साधु-मार्ग पर आ जाता है । इस मार्ग को और इससे हो कर मिलने वाली मंजिल को हम आत्म-समीक्षण द्वारा पा सकते हैं । समीक्षा का अर्थ है अपने दोषों को तमाम स्तरों पर पहिचानना, उन्हें सीमित, शान्त, निष्क्रिय और निष्कर्मित करना । इस समत्व में-से ही उपजता है सत्यानुसंधान, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं ।

शिथिलाचार एक ऐसा शब्द है, जो दीर्घकाल से चला आ रहा है । जब हम किसी निर्धारित आचरण को लाँघ कर उसे नष्ट करने लगते हैं, तब हमारे ऐसा करने की शिथिलाचार कहा जाता है, यानी जब हम वह करने लगते हैं जिसे न करने का संकल्प कभी हमने किया था तब हमारा मूलाचार क्षीण होने लगता है और हमारे कदम एक गलत राह पर आ जाते हैं । कोई सच्चा साधु-मार्गी ऐसा नहीं हो सकता जो असंयम या शिथिलाचार की ताईद या तरफ़दारी करे—जो सही रास्ते पर है भला वह गलत काम करने की सलाह कैसे दे सकता है ? इसीलिए जब-जब लोगों ने, जो एक खास कसम खा कर एक विशिष्ट जीवना-चार का पालन कर रहे थे, निर्धारित/स्वीकृत सरणि को भंग किया, या उसका उल्लंघन किया, या उसकी कठोरताओं और प्रखरताओं से बचने के लिए गली निकाली; उनके खिलाफ बगावत हुई यानी शास्त्रीय शब्दों में 'क्रियोद्धार' के हालात बने । क्रियोद्धार का मतलब है स्वलनों को चुनौती देना और मूलाचार की ओर साहसपूर्वक लौटना । संक्षेप में, क्रियोद्धार मूलाचार की ओर वापसी की बागी चेतना की संज्ञा है ।

साधुमार्ग की सर्वोपरि विशेषता है सम्यक्त्व को खोजना और उसमें अविचल होना । सम्यक्त्व क्या है ? वस्तु-स्वरूप के बोध का नाम सम्यक्त्व है । 'क्या' क्या और कैसा है—जो इसे जानने की कोशिश में होता है, वही कर रहा होता है सम्यक्त्व के लिए पराक्रम । लोक-प्रचलित भाषा में इसे 'समकित' कहा गया है । समकित के बिना साधुमार्ग सूना है । जिसके हाथ में समकित की मशाल

है, मानिये उसकी सारी राहें रोशनी से जगमगा रही हैं। मशाल की इस ज्योति में वह किसी भी खतरनाक खाई, या मोड़ को देख सकता है। सम्यक्त्व न सिर्फ जीवन को संतुलित, संयत और नियमित करता है, बल्कि उसे अडिग, अचंचल, और अविकल भी बनाता है। समकित की राह मुश्किल जरूर है; किन्तु एक बार उस पर मजबूती से पाँव आ जाने पर वह बहुत आसान और निरापद है।

सम्यक्त्व एक ऐसा औजार या उपकरण है, जिसके द्वारा हम संपूर्ण तत्परता से सत्य की तलाश कर सकते हैं और अपने मन-के-आंगन को बुहार सकते हैं। जिसे सम्यक्त्व का बोध होता, या हो जाता है, वह मिथ्यात्व या झूठ को भी ज़र्रा-ज़र्रा जानने लगता है। मिथ्यात्व के पर्याय शब्द है—अज्ञान और झूठ, कपट और भ्रम। जो हमें इन खन्धकों में गिरने से बचाता है, वह है समकित। सम्यक्त्व में-से प्रकट होता है अभय। अभय सम्यक्त्व का ज्येष्ठ पुत्र है। उसे ही समकित की सारी जायदाद मिलती है/मिली है। अभय में से प्रकट होता है लोकतन्त्र; स्पष्ट है कि जो अभीत और निर्भीक है वही लोकतान्त्रिक दृष्टि से युक्त हो सकता है। इस जीवन-शैली को हम स्वस्थ दृष्टि-प्रेरित जीवन-शैली कह सकते हैं।

जो लोकतन्त्र को उसकी तमाम उज्ज्वलताओं में अपनाये हुए हैं उसके लिए यह संभव ही नहीं है कि वह आत्मकल्याण और लोक-कल्याण में भेद करे। यदि इन शब्दों को कुछ गहरे में जानने की कोशिश की जाए तो हम देखेंगे कि आत्महित और जनहित दो जुदा अस्तित्व नहीं हैं। शुद्ध आत्महित अपनी यथार्थ व्याप्ति में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दिशा में जाता है; यानी आत्महित में सर्व-भूतहित सन्निहित है। जो स्वयं को खोज रहा है, उसने संपूर्ण समाज को उसके भरपूर सम्यक्त्व में हासिल कर लिया है। जब हम स्वयं को संपूर्ण लोक में व्याप्त पाते हैं यानी स्वयं को इतना उदार, सहिष्णु, और समत्व-संयुक्त कर लेते हैं, तब आप ही बतायें भला कि आत्महित और लोकहित में क्या फर्क रह जाता है? दोनों एकमेक हो जाते हैं। साधुमार्ग वह है जो ऐसी साधु स्थिति की खोज में तन-मन से निरन्तर समर्पित है।

साधुमार्ग का एक बहुत स्थूल स्तर है जन-जीवन को (जन को) व्यसन-मुक्त करना। जब तक हम समाज या संघ को विकृतियों से नहीं बचायेंगे, तब तक हम उसकी आन्तरिक शक्ति को उघाड़ नहीं सकेंगे। कलियुग में संघ-शक्ति बहुत महत्त्व की है। हम एक होंगे, तो ही 'होंगे' बर्ना 'नहीं-ही-होंगे'। विकृतों का या अ-स्वस्थों का होना, न होना बराबर है; किन्तु ऐसे लोग जो अपनी मौलिकताओं में अविभक्त/अविकल हैं, शक्ति के अदम्य पुंज हैं। नियम है कि जो

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

साधु : विशेषणों का विशेषण

जैन साधना की आधार-भूमि है 'साधु', साधु के आगे की सीढ़ी है उपाध्याय, उपाध्याय के आगे का सोपान है आचार्य, आचार्य के आगे का अरिहन्त, और अन्तिम है सिद्ध । इस तरह साधु यदि नींव है, तो सिद्ध शिखर है । नींव से शिखर तक की यह यात्रा स्थूल यात्रा नहीं है वरन् भीतर-भीतर निरन्तर होने वाली एक अत्यन्त अलौकिक और अप्रकट यात्रा है—ऐसी, जिसकी सूचना बाहर के लोगों को कम; किन्तु साधक को अधिक और प्रतिपल मिलती है ।

— डॉ. नेमीचन्द जैन

साधुओं पर तो मेरा ध्यान गया ही है; किन्तु उनके व्यक्तित्व पर विचार करते हुए 'साधु' शब्द के विभिन्न अर्थों पर भी वह गया है । सोचता रहा हूँ कि यह शब्द कैसे बना और कितने अर्थ हैं इसके ? जिस रूप में आज यह प्रचलित है क्या आज साधु-वर्ग इसे उसी अर्थ में जी रहा है, या इसके जीते-जी वह अर्थान्तरों की अन्तहीन मृगमरीचिका में फँस-उलझ गया है ?

व्याकरण की आँख से साधु शब्द संज्ञा भी है और विशेषण भी । संज्ञा के रूप में इसके मायने हैं—मुनि, यति, सज्जन और विशेषण के रूप में सुन्दर, शोभन, प्रतिमित, परिनिष्ठित, मानक, आदर्श, भला, अच्छा, उचित, संतुलित, चतुर, योग्य, मुनासिब, वाजिब ।

प्राकृत में इसका रूपान्तर है 'साहू' और लोकभाषाओं में 'हाउ' । 'साहू' का अर्थ है 'साधु' और 'हाउ' का अर्थ है 'अच्छा' । साहू और हाउ दोनों ही साधु में-से विकसित शब्द हैं ।

संज्ञा और विशेषण के रूप में इसके जो अर्थ सामने आये हैं, वे लोक-प्रयुक्त हैं और समाज की उस मंगल कामना के परिचायक हैं, जो सदैव औचित्य और शालीनता का ध्यान रखती रही है । जब हम 'साधु भाषा' कहते हैं, तब हमारा ध्यान भाषा के उस मानक रूप पर होता है, जिसके द्वारा हम समाज के उस विद्या-क्षेत्र की अभिव्यक्ति करते हैं जिसमें जटिल और गहन विषयों का अध्ययन-अनुसंधान होता है । इसी के द्वारा हमारी वैज्ञानिक, शास्त्रीय, न्यायिक, राजनीतिक, पुरातात्विक, तार्किक तथा कलागत धारणाओं की सूक्ष्मतर विवेचनाएँ होती हैं । इसी में-से मानव की सर्वोत्कृष्ट मेधा अँगड़ाई लेती है ।

जैनधर्म में 'साधु' को साधना की बुनियाद निरूपित किया गया है । जैन साधना की आधार-भूमि है साधु, साधु के आगे की सीढ़ी है उपाध्याय, उपाध्याय

के आगे का सोपान है आचार्य, आचार्य के आगे का अरिहन्त और अन्तिम है सिद्ध । इस तरह साधु यदि नींव है, तो सिद्ध शिखर है । नींव-से-शिखर-तक की यह यात्रा स्थूल यात्रा नहीं है बरन् भीतर-भीतर निरन्तर होने वाली एक अत्यन्त अलौकिक/अव्यक्त यात्रा है—ऐसी, जिसकी सूचना बाहर के लोगों को कम, किन्तु साधक को अधिक और प्रतिपल/प्रतिपग मिलती है ।

साधु की आगमोक्त अस्मिता पर तो विचार हुआ है; किन्तु उसकी लोकोक्त इबारत पर बहुत कम सोचा गया है । 'उत्तराध्ययन' एक ऐसा संकलन-सूत्र है, जिसके पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्खू/साधु के व्यक्तित्व पर, उसकी गुणवत्ता पर गहराई से विचार किया गया है । इसमें आये सोलह श्लोक जहाँ एक और साधु के व्यक्तित्व की उदार समीक्षा करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे 'टॉर्च-बेअरर' (ज्योतिर्धर) का काम भी करते हैं । लगता है जैसे सोलह मशालों का एक जुलूस आगे-आगे चल रहा हो साधु के जो उसे रोशनी देता हो इतनी कि उसकी साधना फलवती हो सके, कामधेनु सिद्ध हो सके ।

कहा गया है कि साधु अपने विहार में चाहे वह अंतस्तत्त्व की खोज के लिए हो, या बाहर—प्रतिपल अप्रतिबद्ध होता है । वह किसी से संचालित नहीं होता बल्कि वह एक ही कसौटी पर तमाम उसूलों को कसता है; निकष है—अध्यात्म-सिद्धि के लिए, आत्मोपलब्धि के लिए कौन-सी स्थितियाँ हेय हैं और कौन-सी उपादेय? उसका परमोच्च लक्ष्य होता है आत्मानुसंधान; आत्मा की मौलिकताओं को अप्रच्छन्न करना । उसकी सारी शक्ति/संपूर्ण सामर्थ्य आत्मगवेषणा में लगता है । वह स्वयं का दीपक स्वयं बनता है; वह मूलतः 'आगमचक्षु' होता है । उसकी साधना इतनी प्रखर और तेजोमय होती है कि उसमें हो कर आगम को जर्ज़र-जर्ज़र देखा जा सकता है । वह न तो बँधता है, और न ही बाँधता है, वह मात्र सम्यक्त्व को खोजता है और यत्न करता है उन सारे मुलम्मों को उतार फेंकने के जो उसे प्रवंचित करते हैं, गंतव्य तक पहुँचने में अड़चन डालते हैं । वह चलता रहता है और होता जाता है इस तरह कुछ कि उसके इस चलने/होने में-से उसका आत्मतत्त्व प्रकट होने लगता है । वह आच्छादनों को हटाता जाता है और विमलताओं को पाने का हर संभव प्रयत्न करता जाता है । वह अनेकान्तदर्शन का मर्मा होता है—अप्रतिबद्ध, पूर्वग्रह-मुक्त, सत्यपथ-का-पथिक । वह यह, या वह, पहले से मान कर नहीं चलता बल्कि खुद खोजता है, पाता है उन लोगों की छत्रछाया में जो उससे पहले हुए हैं, या उसके समकालीन हैं और जिन्होंने आत्मतत्त्व को उसकी संपूर्णता में जानने/पाने का प्रयास किया है ।

साधु वह है, जिसे किसी भी वस्तु, स्थिति, या व्यक्ति में मूर्च्छा नहीं है; जो अनासक्त है प्रतिपल । जो न किसी वस्तु से बँधता है, न कोई वस्तु उसे बाँध

पाती है; वह निबन्ध/निग्रन्थ एकाग्र/एकल चलता है उन तमाम विकारों और दोषों को अलगगता हुआ जो उसकी अध्यात्म-यात्रा में विघ्न बनते हैं; इसीलिए उसे सागर की उपमा दी गयी है। कहा है : वह 'बहिःक्षिप्तमलः' होता है अर्थात् जिस तरह समुद्र अपने भीतर से मलों को मथ-मथ कर फेंकता रहता है, ठीक वैसे ही साधु भी अपनी साधना द्वारा अपने अंतरंग के मल बाहर फेंकता रहता है स्वाध्याय में, प्रतिक्रमण में, सामायिक में — प्रतिपल, प्रतिपग।

जिस तरह वह यह सब करता है, विज्ञान की प्रयोगशालाओं में भी वही/वैसा होता है; किन्तु विज्ञान की प्रयोगशाला का कार्य भौतिक होता है — उसका कोई दृश्य बनता है; किन्तु साधु के भीतर का कोई दृश्य नहीं बनता, वह निरन्तर अपने काम में लीन रहता है और अमूर्च्छित चलता है। 'मूर्च्छा' जैनागम का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है गहन आसक्ति, अन्धा मोह — ऐसा मोह जो अनात्म को आत्मतत्त्व के स्तर पर देखने लगता है। जब कोई किसी वस्तु को, जो उसकी अपनी नहीं है, अपनी — बहुत अपनी — मानने लगता है, तब मूर्च्छा प्रकट होती है। मूर्च्छा गहनतर तब होती जाती है, जब आसक्ति प्रगाढ़ होती है और व्यक्ति 'पर' को 'निज' मानने लगता है — एक भ्रान्ति में धँस जाता है।

जैनागम में परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया है। साधु, इसीलिए, अंतरंग/बाह्य मूर्च्छा को उत्तरोत्तर घटाता है। संयम के द्वारा वह उस पर काबू पाता है। मूर्च्छा के कई द्वार हैं। वह आहार, भय, मैथुन कहीं से भी हमला कर सकती है। साधु सतर्क/अप्रमत्त रहता है और द्वार खुले रख कर पहरेदारी करता है। जो किसी भी वस्तु/स्थिति में मूर्च्छित नहीं है वह है भिक्षु। अमूर्च्छित महामुनि रस/स्वाद के लिए कभी नहीं खाता; वह सिर्फ इसलिए भिक्षा लेता है ताकि जिये और अपने लक्ष्य की ओर कदम उठाये रहे।

'उत्तराध्ययन' के सत्रहवें अध्ययन में कहा गया है कि वह अलोलुप, रस-में-अगृह्य, जिह्वाजयी, अमूर्च्छित रहता है और अपने लक्ष्यबिन्दु पर एकाग्र चलता है। अनासक्ति उसके जीवन का मूलाधार होती है।

वह सब सहता है। हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, माटी-स्वर्ण सब में समत्व रखता है। उसके लिए कहीं कोई मूर्च्छा नहीं होती — सब समान होते हैं। वह निराकुल होता है। आकुलता मूर्च्छा में, विषमता में होती है, समत्व में आकुलता के होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यही कारण है कि साधु समत्व में जीता है और उसी को अपने जीवन की बुनियाद बनाता है। उसके लिए उसकी निजता इतनी उदार हो बनती है कि प्रायः सभी

आत्मवत् हो जाते हैं। उसकी इस सघन आत्मवत्ता में-से अहिंसा का परमोत्कृष्ट रूप प्रकट होता है। वह अभीत हो जाता है, होता जाता है। कहा गया है कि अभय अहिंसा का परिपाक है। वह अहिंसा की चरम सीमा है। अहिंसक न तो किसी से डरता है, और न किसी को डराता है। ऐसी कोई वजह ही नहीं बच रहती कि वह किसी से भयभीत हो। भय को जीतने पर अहिंसा आपोआप अपनी परमोत्कृष्टता में उस पर प्रकट हो जाती है।

साधु आत्मगवेषी होता है। वह दूँढ़ता है आत्मा के स्व-भाव को। शरीर में बैठी उस आत्मा को जिसे लोग अक्सर देख नहीं पाते हैं। होता बहुधा यह है कि लोग देह को ही आत्मा मान बैठते हैं और उसमें मूर्च्छित हो जाते हैं। इन-ऐसी बीहड़ स्थितियों में शुरू होती है साधक की शोध-यात्रा।

ध्यान रहे, सत्य-की-खोज का काम गहन तिमिरान्ध में शुरू होता है। शरीर की जड़ताओं के बीच आत्मा की एक किरण जब साधक को छूती है, उसके भीतर भिदती/उतरती है, तब शुरू होती है उसकी सच्ची गवेषणा। एक संयत, सुव्रत, दूसरे साधुओं के साथ रहने वाला साधु ही आत्मगवेषणा का अधिकारी हो सकता है। सच्चा आत्मगवेषी अमूर्च्छित और परिपूर्ण संयम में चलता है। उसकी यात्रा अविराम चलती है, वह एक पल को भी रुकता नहीं है, तब तक वह पुरसर रहता है जब तक उसे आत्मसिद्धि की परमनिधि नहीं मिल जाती।

भिक्षु कुतुहल नहीं करता। वह कहीं रुकता ही नहीं है; कहीं विधता ही नहीं है; उसके कहीं आरक्त/आसक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह सदा तपस्वी होता है। तप में उसका एक-एक क्षण बीतता है। उसके साधना-के-दीपक-की-लौ अखण्ड-अकम्प बलती है।

वह विद्याओं को केवल आत्मसिद्धि में डालता है, उनका लौकिक उपयोग नहीं करता। वह तन्त्र-मन्त्र/टोने-टोटकों का भूल कर भी इस्तेमाल नहीं करता। आत्म-विद्या की अवाध/उत्तरोत्तर उपलब्धि में जो भी शक्तियाँ उसके भीतर बनती/उभड़ती हैं, उनका वह सिर्फ आत्मानुसंधान में उपयोग करता है, आजीविका उनमें-से नहीं लेता। वह जानता है; किन्तु उनका उपयोग लौकिक लाभ के लिए नहीं करता। कहा गया है: जो विज्जाहि न जीवइ स भिवखू—जो विद्याओं के द्वारा आजीविका नहीं करता—वह भिक्षु है। आज ऐसे साधु बहुत सारे हैं जो लौकिक विद्याओं के जरिये आजीविका कर रहे हैं।

जो साधु 'संथव'—संस्तव/परिचय नहीं करता वह भिक्षु है। भिक्षु कभी कोई ऐसा परिचय नहीं करता जिससे उसे सुविधाएँ मिलें, आराम मिले, सुख

मिले । उसका मार्ग सुविधा-भोग का मार्ग नहीं है, वह कंटकाकीर्ण रास्ता है । वह निराकुल मन से अपनी यात्रा करता है, रुकता नहीं है—सुविधा की याचना नहीं करता, असुविधा या संकट से कभी विचलित नहीं होता । संकट में-से वह परीक्षित होता है और हर आपदा को, उपसर्ग को एक सुविधा मानता है, आध्यात्मिक संपदा की तरह स्वीकार करता है; इसीलिए कहा गया है—जो संयत्न न करेइ स भिक्खू—जो परिचय (संस्तव) नहीं करता वह भिक्षु है ।

जो अनिष्ट योग और इष्ट वियोग में भी अविचलित/अकम्प बना रहे वह है साधु । चाहे जैसी विषमता हो साधु प्रद्वेष (डाह) नहीं करता । जो प्रतिकूलताओं में सुमेरु की तरह अकम्प/अविचल रहता है, वह साधु है और जो अनुकूलताओं की खोज अथवा याचना नहीं करता वह साधु है । संतोष और साधुत्व में घनिष्ठ संबंध है । ऐसा संभव ही नहीं है कि जहाँ साधुत्व हो वहाँ संतोष न हो और जहाँ संतोष हो वहाँ साधुत्व की कोई जीवन्त संभावना न हो । कहा गया है—जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू—जो ऐसी विषमताओं/प्रतिकूलताओं में भी प्रद्वेष नहीं करता वह भिक्खू है ।

जो मन, वचन, और काया से सुसंवृत है, वह भिक्षु है । यहाँ 'सुसंवृत' शब्द पर ध्यान दीजिये । संवृत और विवृत के व्यतिरेक को समझिये । विवृत खुलाव को कहते हैं और संवृत संवरित(बन्द)को कहते हैं; अतः जिसने मन, वाणी, और काया के द्वार/कपाट बन्द कर लिये हैं, वह भिक्खू है, वह साधु है । साधु इन द्वारों पर अप्रमत्त चौकी रखता है । वह प्रतिक्षण देखता है कि कहीं कोई अनचाहा/अयोग्य अतिथि तो द्वार नहीं खटखटा रहा है ? वह तमाम दस्तकों के उत्तर नहीं देता, सिर्फ सम्यक्त्व-की-दस्तक सुनता है ।

जो प्रान्तकुलों (पंतकुलाइं)—सामान्य घरों से भिक्षा लाता है वह साधु है । यहाँ 'प्रान्तकुल' शब्द पर ध्यान दें । सामन्त/भौगिक कुल यहाँ नहीं कहा गया है—प्रान्तकुल कहा गया है; स्पष्ट संकेत है कि वह जो प्रान्तकुलीन (कॉमन मैन) है वह सर्वहारा है और कम-से-कम मूर्च्छाओं में जीवन बिता रहा है । अमूर्च्छित महामुनि ऐसे ही अत्यल्प अपरिग्रही के यहाँ से अपनी भिक्षा का आकलन करता है । जिसे 'अन्तिम आदमी' कहा गया है, प्रान्तकुल में उसी की ओर इशारा है; अतः अन्तिम आदमी का खयाल जो रख रहा है वह साधु है । जो पंक्ति में प्रथम आदमी का ध्यान रख कर अपनी साधुचर्या चला रहा है, वह साधु नहीं है—वह असाधु है या फिर साधुत्व/मुनित्व की बारहखड़ी से अपरिचित है ।

जो डरता नहीं है वह साधु है । यह बहुत सीधी, किन्तु अत्यन्त प्रखर कसौटी है साधुत्व की । साधु डरे क्यों ? कोई कारण नहीं है कि वह भयभीत

हो । वस्तुतः वह कहीं भी/कैसे भी भयाक्रान्त नहीं है । वह न भयभीत है, न भवभीत अपितु भववीत होने के मार्ग में अनवरत यत्नशील है । उसका युद्ध सप्तभयों से है और वह लगातार उन पर अपनी जयपताका फहराता जा रहा है । उसने अपनी इस जययात्रा में, जो निरन्तर है, न तो किसी की दासता को स्वीकार किया है और न ही कहीं किसी निराशा का शिकार वह हुआ है ।

वह 'प्राज्ञ' है अर्थात् जानता है गहराई में समत्व के मर्म को, आगम के परमार्थ को । वैषम्य को, असमंजस को, पसोपेश को वह खत्म कर चुका है । वह जहाँ भी आँख पसारता है, वहाँ उसे समता की धड़कन थिरकती नजर आती है । उसने वस्तु-स्वरूप को जाना है, वह वस्तु-मात्र की अस्मिता का सम्मान करता है; वह किसी का अपमान नहीं करता, और न ही यह मानता है कि उसका अपमान हुआ है/या होता है । जो एक गहन साम्य में जीता है और जिसके लिए माना-पमान में फर्क ही नहीं रह गया है; ऐसे साधु में जहर-अमृत एक-जैसे होते हैं । वह शूल-फूल में भेद नहीं करता और इसीलिए शूल-फूल भी उसमें कोई फर्क नहीं देखते । उस सत्यार्थी की आँखों में सत्य की खोज-पिपासा इतनी विदग्ध और तीव्र होती है कि सब कुछ उसमें निमग्न होता है । उसका एकमेव लक्ष्य होता है खुद-को-अपनी-संपूर्ण-निजता-में-पाना । उसकी साधना, असल में, निजता को खोजने और पाने की साधना होती है ।

वह भीतर-बाहर सब जगह अकेला होता है । भीतर उसके रागद्वेष समाप्त हुए होते हैं इसलिए अकेला होता है और बाहर रागद्वेष के तमाम हेतु निष्क्रिय हो जाते हैं इसलिए अकेला होता है । एक तलस्पर्शी नैष्कर्म्य के कारण उसकी तमाम स्वाभाविकताएँ उन्मुक्त हो जाती हैं और वह निरन्तर शुद्ध तत्त्व के रूप में उभर कर सामने आने लगता है । कहा गया है — चेच्चा गिहं एगचरे स भिवखू—घर छोड़ कर घर पाने के लिए जो अकेला चलता है — रागद्वेष से विविक्त — वह भिक्षु है । यहाँ — 'एगचरे' पद पर ध्यान दीजिये । वह अकेला चलता है । वह स्वायत्तता की खोज में है । पराधीनताओं की जंजीरें उसने निरन्तर काटी हैं, अतः एक सर्वथा स्वाधीन स्थिति में वह लगातार उतरता जा रहा है । जो साधक पराधीनता को समझ कर स्वाधीनता का विलक्षण रसपान करता है, वह भिक्षु है ।

ऐसे साधु विशेषणों में लिप्त नहीं होते, बल्कि संसार को विशेषणों से विभूषित करते हैं । साधु की गरिमा ही इसमें है कि वह भरपूर अप्रमत्तता में जिये और अलंकारों को अलंकृत करे, अलंकारों से अलंकृत न हो; अतः जो विशेषणों-का-विशेषण है, वह भिक्षु है, वह साधु है ।

△ △



अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो

—राजमल पर्वया

अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो, कैसा भावलिग अनगार ।
भावरहित नग्नता व्यर्थ है, झूठा द्रव्यलिग बेकार ॥

(एक)

पंच महाव्रत, पंचसमिति, षट् आवश्यक तक मथा नहीं,
तीन गुप्ति बदनाम कर रहे, बाह्यवेश का पता नहीं,
मात्र नग्न होने से ही क्या जिन मुनिपद हो जाता है,
मोक्ष-मार्ग तो द्वार स्वर्ग-पथ भी सुदूर हो जाता है,
मोहवान् मुनि से तो निर्मोही गृहस्थ उत्तम सागार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो कैसा भावलिग अनगार ॥

(दो)

जब तक नहीं मोह को जीता, बाह्यवेश सारा सविकार,
भावलिग-बिन तो है आगम के विरुद्ध सारा आचार,
निरतिचार अणुव्रत पालन की भी तो जिनकी शक्ति नहीं,
ऐसे मुनि डूबेंगे और डुबोयेंगे अत्युक्ति नहीं,
बिन-विवेक सब क्रियाकाण्ड बनता है दुख का आगार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो कैसा भावलिग अनगार ॥

(तीन)

पहिले कर अभ्यास अरे अणुव्रत का निरतिचार सम्यक्,
पहिली से ग्यारह प्रतिमा तक क्रम-क्रम-से-पालन सम्यक्,
छुलक ऐलक पद ले कर फिर मुनि समान साधना करो,
वीतराग निर्ग्रंथ स्वपद पाने की फिर याचना करो,
भाव द्रव्य संयम मुनि पद ले कर हो जाना भव-पार ।
अंतर्मन निर्ग्रंथ न हो तो कैसा भावर्लिंग अनगार ॥

(चार)

जो दीक्षा देने वाले हैं वे भी इस पर करें विचार,
द्रव्य क्षेत्र अरु कालभाव को समझ दीक्षा दे अनगार,
अनुमति ले परिवार जनों की अरु समाजकालें आधार,
कुछ बरसों अभ्यास करायें फिर मुनिपदवी दें साकार,
बिना परीक्षा दीक्षा देने में पापों का बन्ध अपार ।
अंतर्मन निर्ग्रंथ न हो तो कैसा भावर्लिंग अनगार ॥

(पाँच)

अन्धी श्रद्धा के पीछे पागल बनने वाले दें ध्यान,
कैसे हों गुरु साधु हमारे जिन आगम से लें पहचान,
मुमति-कुमति में भेद करें कुछ, वीतरागता को जानें,
श्री जिनवाणी के माध्यम से ही जिन-मुनियों को मानें,
परम पूज्य पावन जिन-मुनि के दर्शन भव-भव में सुखकार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न, हो तो, कैसा भावर्लिंग अनगार ॥

(छह)

वीतराग निर्ग्रंथ महामुनि-पद इस युग में अरे कठिन,
वीतरागता-के-बिन मुनिपद तीन काल में महाकठिन,
पहिले सम्यक् दर्शन होता फिर होता है व्रत-संयम,
मुनि पद ले कर शिथिलाचारी होना तो है कार्य अधम,
यश को आकांक्षा से विरहित यथाशक्ति लो व्रत आधार ।
अंतर्मन निर्ग्रंथ न हो तो कैसा भावर्लिंग अनगार ॥

(सात)

आड़-फूंक मंत्रों तंत्रों से लेश नहीं है मुनि को काम,
मोटर-गाड़ी चंदा-चिट्ठा आडम्बर का मत लो नाम,
व्यंतर-पूजा का आग्रह तज वीतराग पथ पर आओ,
आँख बंद कर शिष्य-मण्डली बढ़ा न निज को उलझाओ,
यही विनय है सदा चलो प्रभु जिन-आगम के ही अनुसार ।
अंतर्मन निग्रंथ न हो तो कैसा-भार्वलिंग अनगार ॥

(आठ)

द्रव्यलिंग भी यदि सम्यक् धारें तो बड़ी कृपा होगी,
अट्टाईस मूल गण सच्चे पालें बड़ी दया होगी,
जिन-शास्त्रानुसार जिन-मुनियों का आचरण शुद्ध-पावन,
उनको शत-शत नमस्कार है उनको कोटि-कोटि वंदन,
धर्म-मार्ग की विराधना से खुलता अशुभ आस्रव-द्वार ।
अंतर्मन निग्रंथ न हो तो कैसा भार्वलिंग अनगार ॥

(नौ)

केश-लौच बाजे-गाजे से करने का है कहां विधान ?
फिर उद्दिष्टाहार ग्रहण करने में कैसी मुनि की शान ?
हीटर, पंखा, डोली आदिक सुख-सुविधा का कैसा ध्यान ?
क्षेत्रकाल की आड़ न लो मुनिपद त्रिभुवन में महा महान् ।
मुनिपद के बिन मोक्ष नहीं है मुनिपद राग-रहित अविचार ।
अंतर्मन निग्रंथ न हो तो, कैसा भार्वलिंग अनगार ॥

(दस)

साढ़े सात लाख मुनि जाएँगे निगोद में पंचम काल,
जिन-आगम में ही लिक्खा है जो है परम पवित्र विशाल,
सप्त भय-रहित सिंह-वृत्ति से मुनि-पद को लो त्वरित सँभाल
समकित के बिन नहीं साधुपद, सारी क्रिया कर्म-जंजाल,
ऊँचा पद ले कर फिर नीची क्रिया बतायी भव दुखकार ।
अंतर्मन निग्रंथ न हो तो कैसा भार्वलिंग आगार ॥

* श्वेताम्बर सत्ताईस मानते हैं ।

(भ्यारह)

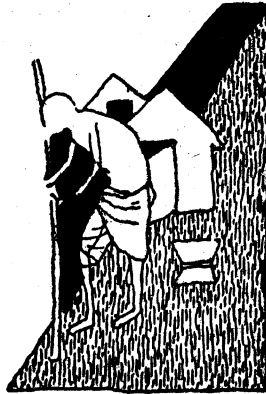
क्रोध मान माया लोभादिक का न हृदय में हो सत्कार,
अगृहीत जा सके न तो फिर दो गृहीत को ही धिक्कार,
सदा सावधानी पूर्वक ही मोक्ष-मार्ग पर करो प्रयाण,
जोर जबरदस्ती से कोई व्रत देना है दोष महान्,
वन्दनीय अभिनन्दनीय मुनिपद की होगी जय-जयकार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो कैसा भावलिंग अनगार ॥

(बारह)

काल-दोष से हंस न मिल पायें तो कोई बात नहीं,
कलहंसों को हंस मानने में क्या कुछ उत्पात नहीं,
सोना सच्चा देख परख कर लेते हैं फिर देते दाम,
पर गुरु बिना परख कर लेते लेश न कुछ विवेक का काम,
ज्ञान-नेत्र से देखो कैसा होता है निश्चय-व्यवहार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो कैसा भावलिंग अनगार ॥

(तेरह)

अपरिग्रही निरारम्भी जो विषय-भोग से हैं विपरीत,
ज्ञान-ध्यान में ही रत रहते मात्र तपस्या से है प्रीत,
वे ही हैं मुनि-साधु हमारे जो भव-अटवी से भयभीत,
निश्चित मुक्ति स्व-पद पायेंगे लेंगे ये कर्मों को जीत,
परमशुद्ध चैतन्य तत्त्व निज का निश्चय ही मंगलकार ।
अंतर्मन निर्ग्रन्थ न हो तो कैसा भावलिंग अनगार ॥



‘इदं न मम’ – यह मेरा नहीं है

जैसे औरों की वस्तु पर आत्मीयता की भावना नहीं है, उसी प्रकार अपनी संपत्ति पर भी आत्मीयता का भाव मत रक्खो फिर तुम्हें उसके नाश से शोक नहीं होगा। तुम्हारे पास धन है तो उस धन के गुलाम बन कर मत रहो; उसका सत्कार्यों में विनियोग करने वाले बनो। जाल में मक्खियाँ फँसती हैं, तुम धन के जाल में मत फँसो। धन को अपने भाग्य का बोझ मत बनाओ। उससे सौभाग्य का मंगल द्वार खोलो।

—जैनाचार्य श्री जवाहरलाल

जो किसी कुटुम्ब का स्वामी है, वह अपने कुटुम्ब को सुखी और समृद्ध देखना चाहता है। देश का राजा अपने देश को सुखी बनाना चाहता है। इसी प्रकार कुटुम्ब वाले कुटुम्ब के स्वामी की जय चाहते हैं और देशवासी देश के राजा की जय कामना करते हैं।

दोनों की तुलना से स्पष्ट है कि कुटुम्ब का स्वामी जितना विकास चाहता है, उसकी अपेक्षा देश का राजा अधिक विकास चाहता है। इसी प्रकार कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय मनाने से देश की जय-विजय अधिक विस्तृत जय-विजय है। इस तरह कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय की अपेक्षा देश के अधिपति राजा की जय-विजय मानना अधिक उदारतापूर्ण है; फिर भी राजा की जय-विजय भी विशुद्ध नहीं है, अपूर्ण है। राजा अपने विकास के लिए, अपने विजय-लाभ के लिए दूसरों का विनाश भी चाहता है। वह दूसरे को हानि पहुँचा कर भी अपने को एवं अपने देश को लाभ पहुँचाना चाहता है; अतएव एक राजा की विजय, समष्टि की विजय नहीं है। जिस विजय का मूल्य, अन्य की पराजय है, वह विजय विशुद्ध विजय नहीं कहला सकती।

सच्ची विजय में किसी के पराजय की कामना नहीं हो सकती। वहाँ समष्टि-गत कल्याण की चिन्ता की जाती है। अतएव किसी एक राष्ट्र का लाभ, जब वह अन्य राष्ट्र को हानि पहुँचा कर प्राप्त किया जाता है; तो अनर्थ का कारण बनता है। इससे राष्ट्रों में समष्टि की भावना नहीं उत्पन्न होने पाती। प्रत्येक राष्ट्र अपने-आपको सुखी और समृद्ध बनाना चाहता है। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का खून चूस कर स्वयं मोटा बनना चाहता है तब विश्व-में-शान्ति कैसे हो सकती है? आज यही अशुद्ध राष्ट्रीयता विश्व में विप्लव मचाये हुए है। राष्ट्रों में परस्पर जो प्रतिस्पर्धा चल रही है, एक दूसरे को अपना भोग बना लेने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न चल रहा है, एक को निर्बल बना कर दूसरा सबल बनता जा रहा है, सो क्या इससे जगत् सुख-शान्ति पा सकेगा? कदापि नहीं। यह प्रतिस्पर्धा और स्वार्थलिप्सा से दूषित राष्ट्रीयता ही राष्ट्रों के सत्यानाश का कारण बन जाएगी; अतएव संसार के समग्र राष्ट्र जितनी जल्दी हो, इसका परित्याग करके शुद्ध राष्ट्रीयता की उपासना करेंगे तो शान्ति-लाभ कर सकेंगे।

शुद्ध राष्ट्रीयता क्या वस्तु है ? उसकी उपासना किस प्रकार होती है ? इस संबन्ध में यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जिस राष्ट्रीयता में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सहायक और पूरक रहता है जिसमें प्रतिस्पर्धा के बदले पारस्परिक सहानुभूति की प्रधानता होती है, जहाँ विश्व-कल्याण के प्रयोजन से राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होता है, वहाँ शुद्ध राष्ट्रीयता है। जैसे शरीर का प्रत्येक अंग दूसरे अंग का पोषक है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र विश्व-शरीर का पोषक होना चाहिये। इस नीति पर पर जगत् के राष्ट्र जब अमल करेंगे तभी शान्ति होगी। मानव-समाज का, मेरे विचार से, यही सर्वश्रेष्ठ सामाजिक आदर्श है, यही समाजवाद का चरम रूप है। इसी से स्थायी शान्ति और बन्धुत्व की स्थापना की जा सकती है।

इस प्रसंग में इतना और कि पाश्चात्य संस्कारों के प्रसार से भारतीय जनता भी धर्म और ईश्वर से विमुख-सी होती जाती है, परन्तु समय सिद्ध कर देगा कि यह विमुखता जगत् के लिए अभिशाप बनेगी। परमात्मा के पवित्र आसन पर भौतिक विज्ञान की प्रतिष्ठा करने वाले अशान्ति की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। वे संहार को निमन्त्रित कर सकते हैं और विप्लव का आह्वान कर सकते हैं। उनसे शान्ति-स्थापना की आशा कदापि नहीं रखी जा सकती। परमात्मा का बहिष्कार करके साम्यवाद की स्थापना करने वाले लोग, मेरे विचार में, भयंकर भूल कर रहे हैं। उनके इस फार्य की तुलना उस व्यक्ति से की जानी चाहिये जो निर्जीव अस्थिपंजर को सिंगारने की असफल चेष्टा करता है, या हवा को नींव बना कर महल खड़ा करना चाहता है। यदि ये प्रयत्न सफल नहीं हो सकते तो ईश्वर को बहिष्कृत करके विश्व-शान्ति के प्रयत्न भी निश्चित रूप से सफल नहीं हो सकते।

यद्यपि विषय कठिन है, फिर भी थोड़े में कुछ स्थूल बातें बताऊँगा।

राजसत्ता का विचार राज्याधिकारी को ही होता है, सबको नहीं होता। राजसत्ता क्या वस्तु है, इसे अधिकारी भले ही समझता हो, सब नहीं समझते; लेकिन राजा तो सभी का है—सिर्फ राजसत्ता समझने वालों का ही नहीं है। वह अज्ञ, अशक्त, और गरीब का भी राजा है।

गृह-कुटुम्बी एक भक्त होता है और दूसरा अभक्त। संसार का काम दोनों ही चला रहे हैं, मगर दोनों में भेद होता है। दोनों में क्या भेद है, यह समझाना ही व्याख्यान का प्रयोजन है। दोनों का भेद एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

दो आदमी रोटी खाते हैं। रोटी खाने का व्यापार यद्यपि दोनों का समान है, फिर भी उनमें-से एक खाने के लिए जीता है और दूसरा जीने के लिए खाता है। सोचिये, इन दोनों के सदृश व्यापार में भी कितनी विसदृशता विद्यमान है ? जो जीवित रहने के लिए खाता है वह उतना और वही खायेगा जिससे उसका जीवन

बना रहे। जीवित रहने के लिए खाने वाला ऐसा भोजन कदापि नहीं करेगा जिससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हो, जो जिन्दगी को बिगाड़े। वह व्यक्ति यह बात कदापि नहीं भूलेगा कि मैं जीवित रहने के लिए खाता हूँ; अतएव विकारजनक पदार्थों का भक्षण करके अपने धर्म और शरीर-रूपी हीरे को नष्ट न होने दूंगा। मैं केवल वही भोजन करूँगा जो जीवन कायम रखने में सहायक हो, जिससे बुद्धि का विकास हो और मानसिक शक्ति की वृद्धि हो। जो वस्तु इन उद्देश्यों का विधात करती है, जो आरोग्य की दृष्टि से हेय है, उसे मैं ग्रहण नहीं करूँगा।

इस प्रकार जीने के लिए खाने वाला पुरुष विवेक के साथ भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार रखेगा और अभक्ष्य का परित्याग करेगा।

इसके विपरीत खाने के लिए जीवित रहने वाला सोचता है—इस जीवन में मैं जितना स्वाद ले सकूँ, ले लूँ। मैं जितना अधिक खा सकूँगा, जितना स्वाद ले सकूँगा, उतना ही मेरा जीवन सफल हो सकेगा।

अब आप विचार कीजिये कि जीने के लिए खाने वाले और खाने के लिए जीने वाले में कितना अन्तर है?

मैं प्रायः सदा इस बात का ध्यान रखता हूँ कि मेरा व्याख्यान सिर्फ विद्वानों के लिए नहीं है; किन्तु स्त्रियों और बच्चों के लिए भी है, अतएव मैं इसी दृष्टि से विवेचन करता हूँ। सभी लोग, जहाँ तक मेरा खयाल है, इसे समझ सकते हैं; समझने का सबको प्रयत्न करना चाहिये। अगर कोई समझने का प्रयत्न ही न करे तो इसका क्या उपाय है?

संसार में जो रोग-शोक फैल रहे हैं उनमें-से अधिकांश उन लोगों की देन हैं, जो भोजन-पान में विवेकहीन हो कर प्रवृत्ति करते हैं। दस आदमियों का भोजन एक आदमी खा जाता है; फिर उसे आनन्द नहीं मिलता। वह अपने लिए अपच, अजीर्ण आदि रोग खरीद लेता है। इस प्रकार वह खा कर मरता है और शेष नौ आदमी भूख के मारे मरते हैं।

सुना जाता है कि भारतीयों की दैनिक आमदनी का औसत १ आना ३ पैसे प्रति मनुष्य है। यदि प्रत्येक आदमी इतने ही में काम चला ले तब तो सब को बराबर भोजन आदि मिलता रह सकता है। अगर कोई आदमी ३ आना २ पैसे खा जाता है तो वह एक आदमी को भूखा मारता है। जो व्यक्ति इससे जितना ही अधिक भोजनादि का व्यय बढ़ाता है वह उतने ही अधिक आदमियों को भूखों मारने का दोषी सिद्ध होता है। सुनते हैं हमारे यहाँ के अनेक रईस तो दो रुपया प्रतिदिन चुरुट और सिगरेट में ही फूँक देते हैं। भला यह कैसी व्यवस्था है? जिस समाज में इतना वैषम्य है, वह समाज कब तक सुख-चैन से सो सकेगा?

जीवित रहने के लिए खाने वाला विवेकी पुरुष ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। उसे जीवन-निर्वाह के लिए सादा और सात्विक भोजन चाहिये। उसकी पूर्ति वह अपने हिस्से की ग्रामदनी से ही कर सकता है; इतने के लिए दूसरों के मुख का कौर छीनने की आवश्यकता नहीं है।

रोम का बादशाह बड़ा रसिक था। उसने अधिक-से-अधिक पदार्थों का स्वाद लेना ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया था; इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह नित्य नये-नये और भाँति-भाँति के सुस्वादु भोजन बनवाता और थोड़ा-थोड़ा सबमें-से खाता। पकवान अनेक और उदर बेचारा एक। जब कभी पेट पकवानों से ठसाठस भर जाता और स्थान न रहने से जवाब दे जाता, फिर भी पकवान शेष रह जाते, तो राजा उन शेष पकवानों का आस्वाद लेने के लिए वमनकारक चूर्ण आदि लेता और वमन के द्वारा पेट खाली करके फिर शेष पकवानों का रसास्वादन करता था। राजा अपनी स्वादलोलुपता का शिकार हुआ। रोगों ने उसे अकाल में ही परलोक का मेहमान बना दिया।

इस बादशाह में और किसी भूखमरे में क्या अन्तर रहा? बल्कि भूखमरा तो पेट ही भरता है; वह जिह्वालोलुप हो कर रसास्वाद के लिए वमन करके पेट खाली नहीं करता। यह बादशाह तो उससे भी गया-बीता है। ऐसी मानव-वृत्ति, देख कर ही जानियों ने व्रतों की स्थापना की है।

जब खाने के लिए जीने वाले बादशाह से भी हम घृणा करते हैं, तब इस घृणा में इस कोटि के सभी लोग सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार खाने के लिए जीवित रहने वाले स्वयं भी दुःख में पड़ते हैं, और दूसरों को भी दुःख में डालते हैं। इससे विपरीत, जीने के लिए खाने वाला चिरायु और नीरोग रहता है। चिरायु और नीरोग रहने के लिए तथा बुद्धि एवं मानसिक शक्ति को बनाये रखने के लिए, साथ ही इच्छा को सीमित करके यथासंभव अधिक-से-अधिक समभाव सीखने के लिए, ज्ञानी महापुरुषों ने मांस-मदिरा आदि हानिकारक वस्तुएँ छोड़ने की प्रेरणा की है और बुरे भोजन का त्याग कराया है।

उपासक का अर्थ है — उपासना अर्थात् सेवा-भक्ति करने वाला। श्रावक, श्रमण का अर्थात् साधु का उपासक होता है, अतएव उसे शास्त्रों में 'श्रमणोपासक' या 'समणोवासग' भी कहा है।

शंका : क्या श्रावक अरिहन्त का उपासक नहीं होता? अगर होता है तो उसे 'अरिहन्तोपासक' क्यों नहीं कहा? 'श्रमणोपासक' कहने का तात्पर्य क्या है?

समाधान : अरिहन्त परिमित होते हैं। किसी काल में होते हैं और किसी काल में नहीं होते। उदाहरण के लिए वर्तमान काल को ही लीजिये। इस समय

यहाँ अन्नसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा चल रहा है। इस समय श्रावक-उपासक तो हैं पर अरिहन्त नहीं हैं। श्रमणों के विषय में यह बात नहीं है। जब श्रमण होते हैं, तब श्रावक भी होते हैं और जब श्रावक नहीं होते तब श्रमण भी नहीं होते; इसी कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा गया है।

एक बात और है। अरिहन्त भगवान् का समावेश श्रमण में हो जाता है। 'श्रमण' पद व्यापक है और 'अरिहन्त' पद व्याप्य है। जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ 'श्रमण' पद व्यापक है और 'अरिहन्त' पद व्याप्य है। जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ व्यापक का होना अनिवार्य है। जहाँ नीम होगी, वहाँ वृक्ष अवश्य होगा। व्यापक के बिना व्याप्य नहीं होता है, वृक्ष के बिना नीम कदापि नहीं हो सकती। इस नियम के अनुसार अरिहन्त अवस्था श्रमण अवस्था के बिना संभव नहीं है; अतएव 'श्रमण' कहने से 'अरिहन्त' का भी ग्रहण हो जाता है। 'श्रमण' की उपासना में 'अरिहन्त' की उपासना भी गर्भित है; अतः श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि श्रावक अरिहन्त का उपासक होता है, क्योंकि अरिहन्त भी एक प्रकार के श्रमण हैं। शास्त्रों में मुनियों के पुलाक, बकुश आदि पाँच भेद बतलाये गये हैं। उनमें एक भेद 'स्नातक' भी है, जिसका अर्थ होता है केवली। अरिहन्त भगवान् स्नातक कोटि के श्रमण हैं।

जैसे व्यापक वस्तु का कथन करने से व्याप्य का ग्रहण स्वयं हो जाता है, वैसे व्याप्य के कथन में व्यापक का ग्रहण नहीं होता। वृक्ष कहने से आम, नीम, पीपल आदि समस्त वृक्षों का बोध होता है, परन्तु नीम कहने से समस्त वृक्षों का बोध नहीं होता। अगर श्रावक को 'अरिहन्तोपासक' कहा जाता तो अरिहन्त की उपासना में साधारण छद्मस्थ मुनियों की उपासना का बोध नहीं हो सकता था। इस हालत में श्रावक छद्मस्थ मुनियों की उपासना नहीं करता। इस अनिष्ट दोष का निवारण करने के लिए श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहना ही उचित ठहरता है।

आप लोग अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादा करें, जिससे शरीर न बिगड़े, बुद्धि भी खराब न हो तथा विवेक भी बना रहे। मर्यादा करते समय विवेक से काम लेना चाहिये। ऐसा न हो कि सच्चित्त वनस्पति का तो त्याग कर दिया और अण्डे खाने लगे। मैंने सुना है, बहुत-सी एलौपैथिक औषधियों में सूअर, गाय, बैल आदि पशुओं एवं पक्षियों की चर्बी, मांस आदि का सम्मिश्रण होता है। अगर कोई हरी (सब्जी) छोड़ कर ऐसी औषधियों का सेवन करने लगे तो विवेक कहाँ रहा? जिसे तस जीवों की हिंसा का विचार नहीं है, वह स्थावर जीवों की अहिंसा का कैसे पालन कर सकता है? अतएव जो कुछ त्यागो, उसमें विवेक से काम लो। अन्तःकरण में अनुक्रम से करुणा-बुद्धि जाग्रत करते हुए प्राणि-मात्र पर मैत्री की भावना स्थापित करो।

आज भी जो खाने के लिए नहीं जीता है, किन्तु जीने के लिए खाता है, उसका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा और उसकी मानसिक शक्ति तथा बुद्धि भी निर्मल रहेगी। लोग खाने-पीने में बेभान रहते हैं और यह नहीं सोचते कि धर्म-भ्रष्ट करने वाली सटर-पटर चीजें खा कर हम श्रावक का पद कैसे निभा सकते हैं? श्रावक-पद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आहार-संबन्धी विवेक अनिवार्य है।

मोटरगाड़ी, घोड़ागाड़ी आदि विलास की वस्तुओं की वृद्धि में, जो जीवन और धर्म को संकट में डालने वाली हैं, लोग सदैव तत्पर रहते हैं, किन्तु भोजन के विषय में बहुत कम यह सोचते हैं कि हम क्या खायें और क्या न खायें?

मित्रो! जबानी जमा-खर्च न करके जैसा कहो, वैसा करो। जो जैसा कहता है वैसा करता है और भोजन-पान के विषय में बेभान नहीं रहता, वह प्रायः रोगी-शोकी नहीं होता और उसका जीवन अनेक आपत्तियों से मुक्त रहता है।

सारांश यह है कि खाने के लिए जीने वाले और जीने के लिए खाने वाले में जो अन्तर है, वही अन्तर भक्त और अभक्त गृहस्थों में है। जो अभक्त है वह ईश्वर को भूल कर धन में ही तन्मय रहता है; लेकिन भक्त गृहस्थ ईश्वर का स्मरण करता हुआ यही समझता है कि यह सम्पदा मेरी नहीं है।

भक्त गृहस्थ कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति रखता हुआ भी उस पर ममत्व नहीं रखता। 'यह मेरा है' इस प्रकार की ममता उसके अन्तस्तल को स्पर्श नहीं कर पाती। वह अपने को धन-सम्पत्ति का रखवाला-मात्र समझता है।

गीता में कहा है—समस्त कार्य यज्ञ के लिए करने चाहिये। यज्ञ के लिए किये गये कार्यों के अतिरिक्त और सब कार्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि 'यज्ञ' वास्तव में क्या है? यज्ञ किसे कहना चाहिये? कोई-कोई अग्नि में घी होमने को यज्ञ कहते हैं। किसी ने पशुओं की बलि चढ़ाना यज्ञ समझ लिया है और कोई तो नर-बलि को भी यज्ञ मानते हैं। तात्पर्य यह कि लोगों ने यज्ञ का मूलभूत अर्थ बदल कर उसे हिंसार्थ में परिणत कर दिया है। इसी कारण यज्ञ के नाम पर घोर हत्या हुई और आज भी अनेक देवी-देवताओं को उद्देश्य करके लाखों पशुओं का निर्दयता के साथ वध किया जाता है। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि यज्ञ के नाम से धरती पर रक्त की नदियाँ बहायी गयी थीं।

लोकमान्य तिलक ने यज्ञ की घोर प्रथा का वर्णन करते हुए लिखा है कि चम्बल नदी का वास्तविक नाम चर्मवती है। इस नदी का चर्मवती नाम पड़ने का कारण भी उन्होंने बताया है। एक राजा ने यज्ञ के लिए इतने पशुओं की बलि

चढ़ाई कि इस नदी के किनारे उन पशुओं के चर्म का ढेर लग गया और उससे रक्त की जो धारा बही उससे नदी का रक्त वर्ण हो गया। तभी से इस नदी का नाम चर्मवती पड़ा, जिसे आज-कल की बोली में 'चम्बल' कहते हैं।

इस प्रकार 'यज्ञ' का अर्थ हिंसा में बदल गया; परन्तु उसका वास्तविक अर्थ हिंसाकारक नहीं है। यज्ञ का वास्तविक अर्थ समझाने का बीड़ा जैन शास्त्रों ने तो उठाया ही है, परन्तु गीता आदि ग्रन्थ भी हत्या वाले यज्ञ को यज्ञ नहीं कहते। गीता में कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे ॥

स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशित व्रताः ॥

—अ. ४, श्लो. २८

अर्थात् द्रव्य, तप, योग, स्वाध्याय और ज्ञान से यज्ञ होता है। परोपकार के लिए द्रव्य आदि को लगाने रूप सात्त्विक दान देने में लगे रहना द्रव्य-यज्ञ है। सात्त्विक तप करना तप-यज्ञ है। ध्यान, धारणा, समाधि आदि योग-यज्ञ कहलाता है। शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय-यज्ञ है और आध्यात्मिक विचार में मग्न रहना ज्ञान-यज्ञ है।

इन पाँच प्रकार के गीता-वर्णित यज्ञों में हत्या को कहाँ अवकाश है? यहाँ तो विशुद्ध आचार का ही प्रतिपादन किया गया है।

'इदं न मम' अर्थात् यह 'मेरी वस्तु नहीं है' इस भाव से, उस वस्तु पर से अपना ममत्व हटा देना और उस पर दूसरे का अधिकार कर देना, 'यज्ञ' है। जो अपने अधिकार की चीजों पर से अपना स्वत्व त्याग देता है और दूसरे का अधिकार मान लेता है, वही सच्चा यज्ञ करने वाला है।

द्रव्य पर ममत्व न रखना और उसे अपना न समझना, द्रव्य-यज्ञ कहलाता है। ऐसा करने के लिए घर-गिरस्ती त्याग कर साधु बन जाना ही आवश्यक नहीं है; द्रव्य पर अपना अधिकार न समझे, जगत् की वस्तु जगत् के लिए है, यह समझ कर उस द्रव्य का अपने आपको 'ट्रस्टी' मात्र समझे और सार्वजनिक हित में द्रव्य का उपयोग करे, यह आवश्यक है। इसी को 'द्रव्य-यज्ञ' कहते हैं।

जैसे द्रव्य का यज्ञ होता है, वैसे ही दान का भी यज्ञ होता है। दान कर उससे मान न कमाना, निष्काम भाव से दान देना, 'दान-यज्ञ' है। जो लोग दान द्वारा मान की कामना करते हैं, वे दान नहीं करते वरन् दान का सौदा करते हैं—किसी वस्तु को दे कर उसके बदले में दूसरी वस्तु की अभिलाषा करते हैं। ऐसे लोगों को कीर्ति या मान कितना मिलता है, यह तो आप भी जानते हैं; परन्तु

उन्हें दान का वास्तविक फल नहीं मिलता। दान के असली फल को प्राप्त करने के लिए फल की आकांक्षा का त्याग करना चाहिये। यही सच्चा 'दान-यज्ञ' है और यही प्रशस्त दान है।

हिन्दी 'नवजीवन' में मैंने पढ़ा था कि शिमला में एक पुरुष और एक स्त्री को देख कर गाँधी जी का हृदय आनन्दित हो उठा था। वे दोनों गाँधीजी के पास आये और उन्होंने सौ रुपये का एक नोट निकाल कर एक संस्था की सहायता के लिए गाँधीजी के सामने रख दिया। वह संस्था सेठ जमनालालजी बजाज द्वारा संचालित होती थी। गाँधीजी ने कहा - 'जमनालालजी के पास पैसे की कमी नहीं है। उनके पास काफी पैसा है। उस संस्था को सहायता की आवश्यकता नहीं है; अतः आप यह रुपया अपने पास ही रहने दीजिये।

यह सुन कर आगन्तुक पुरुष ने कहा - 'जिस किसी भी कार्य में रुपयों की आवश्यकता हो, उसी में यह लगा दीजिये। अमुक कार्य में रुपये लगाने की शर्त लगाना व्यर्थ है - भूल है। इस बात को मेरी अपेक्षा आप अधिक समझते हैं; अतएव अब इस विषय में मैं कुछ न कहूँगा। मैंने सरकारी नौकरी करके तीस हजार रुपया बचाया है और इस समय भी मेरी आय लगभग एक हजार रुपया मासिक है। इस सम्पत्ति को मैं अपनी नहीं समझता। मैं चाहता हूँ कि आप इसकी व्यवस्था करें और अपने हाथ में ले लें। इसी से मुझे आनन्द होगा। मैं इस सम्पत्ति पर से अपना आधिपत्य हटा लेना चाहता हूँ, जिससे अपने उत्तरदायित्व से बच सकूँ।'

मित्रो! आप लोगों के पास जो द्रव्य है, उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और डीन-दुखियों को साता पहुँचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी तुम्हें कठिन हो जाएगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ़ा है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढ़ा है। जब आप बैंक से ऋण-रूप में रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है? उतनी ही चिन्ता पुण्य-रूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पित कर दो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोड़ूँगा तो यह तो यहीं रह जाएगी; लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए भारी पड़ जाएगा।

श्रावक के तीन मनोरथों में-से एक मनोरथ यह भी है कि 'लोभ की वृद्धि करने वाले और खराबी पैदा करने वाले परिग्रह का त्याग करके कब मैं आत्म-कल्याण में लगूँगा?' अतएव परिग्रह के पाश (बन्धन) को ढीला होने दो - उससे बाहर निकलने का प्रयत्न करो।

गाँधीजी ने आगन्तुक से कहा — 'तुम इस धन के ट्रस्टी रहो। जब किसी कार्य में इसे लगाने की आवश्यकता होगी, तब उस काम में उसे लगा दिया जाएगा।

एक महिला को उसके पिता से बहुत-सी सम्पत्ति मिली थी। उसका पति आचार-भ्रष्ट है और उसने दूसरा विवाह भी कर लिया है। वह महिला उससे अलग रहती है। जैसे पूर्वोक्त पुरुष ने अपनी सम्पत्ति का त्याग किया, उसी प्रकार वह भी अपनी पैतृक सम्पत्ति का दान करना चाहती है। वह देश-सेवा के फल-स्वरूप दो बार जेलयात्रा कर चुकी है और चर्खा आदि कात कर उसी की आमदनी से अपना निर्वाह करती है। वह भी एक बार गाँधीजी के पास आयी और अपनी सम्पत्ति के दान के विषय में गाँधीजी से निवेदन किया। गाँधीजी ने उससे भी वही बात कही कि — 'उस सम्पत्ति को तुम अपनी न समझ कर अपने को उसका ट्रस्टी मानते हुए सँभालो'।

मित्रो ! अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी-भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जाएगा ? हाँ, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे; लेकिन बहुत लोगों की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड़ में फँसा रहे और उससे अपने आत्मा को मलिन बना डाले ? उसे परोपकार में न लगावे ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है ? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को क्या धर्म-रूपी बैंक पर विश्वास नहीं है ?

मैं आपका धन नहीं चाहता। मेरे पास जो कुछ था, उसका त्याग कर देना मैंने अपना सौभाग्य समझा है। उससे मुझे शान्ति और सुख मिला है। ऐसा करके मैंने निराकुलता का आनन्द अनुभव किया है। तुम्हें जो त्याग का उपदेश करता हूँ सो इसलिए कि तुम भी सुख-शान्ति का इसी उपाय से लाभ कर सकोगे। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य यही है कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे और स्वयं उससे अलिप्त रहता हुआ अपने को उसका ट्रस्टी अनुभव करे।

रे समदृष्टि जीवडा, करे कुटुम प्रतिपाल ।

अन्तरगत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

गीता में ज्ञान-यज्ञ करने की जो बात कही गयी है, वही बात इस दोहे में कही गयी है। जैसे धाय बालक की सार-सँभाल करती है—उसमें आत्मीयता

का भाव स्थापित नहीं करती, उसी प्रकार आप धन की सार-सँभाल करें—उसके ट्रस्टी बने रहें, पर उसमें लिप्त न हों।

ऐसा करने से आपको दोहरा लाभ है। प्रथम यह कि आप उस धन से पापोपार्जन नहीं कर सकेंगे और दूसरा वह कि प्सका नाश होने पर आपको दुःख न होगा। दूसरों की वस्तु का नाश होने पर आप क्या दुःख मनाते हैं ? 'नहीं'।

क्योंकि आप इस बात को जानते हैं कि यह वस्तु मेरी नहीं थी, किसी और की थी। जैसे औरों की वस्तु पर आत्मीयता की भावना नहीं है, उसी प्रकार अपनी संपत्ति पर भी आत्मीयता का भाव मत रखो—फिर आपको उसके नाश से शोक नहीं होगा। तुम्हारे पास धन है तो उस धन के गुलाम बन कर मत रहो। उसका सत्कार्यों में विनियोग करने वाले बनो। जाल में मक्खियाँ फँसी हैं; तुम धन के जाल में मत फँसो। धन को अपने भाग्य का बोझ मत बनाओ। उससे सौभाग्य का मंगल द्वार खोलो। धन अपने आप में बड़ी चीज नहीं है। उसे पा लिया है तो कौन-सी महत्त्वपूर्ण वस्तु पा ली है ? आखिर संसार तो उन्हीं की चरण-रज अपने मस्तक पर चढ़ाता है, जिन्होंने धन को अपने चरणों से ठुकरा दिया है। धन में यदि कुछ भी अच्छा है तो वह उसके सद्ब्यय पर निर्भर है। जिस धन का सदुपयोग किया जाता है, वही धन सार्थक है।

तुम समझते हो हमने तिजोरी में धन को कैद कर लिया है, पर धन समझता है कि हमने इतने बड़े धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का भी व्यय कर सकता है।

तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो, उसके लिए भले ही जान दे दो, लेकिन धन अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा, नहीं रहेगा। वह दूसरों का बन जाएगा।

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो ? तुम्हीं त्याग की पहल क्यों नहीं करते ? क्यों स्वत्व के धागे को तोड़ कर फँक नहीं देते ?

स्वत्व का त्याग कर देना ही द्रव्य-यज्ञ है। अपने पास जो है उसे 'इदम् न मम' कह कर परोपकार के निमित्त अर्पित कर दो और अपने-आपको उसका सिर्फ ट्रस्टी समझो।

इसी प्रकार जो तप किया हो, उसके फल की कामना से दूर रहो। तप के बदले स्वर्ग आदि के सुखों की आकांक्षा न करो। उसके लिए अहंकार न करो। तप को सत्कार-सन्मान, या साँसारिक सुख की प्राप्ति का साधन मत बनाओ। 'इदं न मम' कह कर परमात्मा को समर्पित कर दो।

तपस्या करना वीरता का काम है। प्रत्येक आदमी तप नहीं कर सकता। तपस्वी अपनी शक्ति का संचय करके तप करे और अहंकार अ जाए तो सारी तपस्या निरर्थक हो जाती है; अतएव तपस्या करके 'इदम् न मम' कह कर भगवान् की सेवा में उसे समर्पित कर देना चाहिये।

इसी प्रकार स्वाध्याय आदि को 'इदम् न मम' कह कर परमात्मा को अर्पित कर देना ही हितकर है। इससे अभिमान का भाव उदित नहीं होता है। इस प्रकार द्रव्य, तप आदि का यज्ञ करता रहे तब तो ठीक है; यदि इनका अभिमान किया तो आत्मा का अधःपतन हो जाता है।

मैं आप से एक बात पूछता हूँ। क्या रसोई बनाने वाली बहिन भी यज्ञ कर सकती है ?

'हाँ !'

यदि उस बहिन का हृदय निस्पृह है, उसमें स्वार्थ की कशुषता नहीं है, उत्सर्ग का भाव है, अगर वह दूसरों को सुखी बनाने के लिए अपनी कला-कुशलता का प्रयोग करती है, तो वह यज्ञ क्यों नहीं कर सकती ? अगर वह अपनों को खिलाने और दूसरों को टरकाने का भाव रखती है तो उसके हृदय में ममता है। इस ममता से उसकी आत्मा पतित हो जाएगी।

मान लीजिये एक घर में चार भाई हैं। बड़े भाई की स्त्री के भी बच्चे हैं और दूसरे भाइयों की स्त्रियों के भी। अब यदि बड़े भाई की स्त्री भोजन बना कर अपने लड़कों को तो खिलावे और दूसरों लड़कों से कपट करे तो आप उसे क्या कहेंगे ?

'चोरी !'

गीता में कहा है कि जिसने दिया है, उसे न समर्पित करके खाने वाला चोर है यथा—

तेर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

—अ. ३, श्लो. १२।

तीर्थंकर : सित. अक्टू. ८७/३१

यदि बड़े भाई की पत्नी यह विचार करे कि जिस घर में मैं और मेरे बालक रहते हैं, उसी घर में दूसरे भी रहते हैं। मेरे बालकों की भाँति वे भी इसी प्रकार भोजन के अधिकारी हैं। मैं कपट करके पाप की भागिनी नहीं बनूँगी। इस प्रकार विचार कर सब भाइयों के बालकों को समान समझे और कपट न करे, तो ऐसी बहिन भोजन बनाती हुई भी यज्ञ कर सकती है। अगर वह अच्छा भोजन बना कर अपने बच्चों को खिलावे और दूसरे बच्चे एक ओर बैठे-बैठे ताकते रहें—फिर भी वह उन्हें न पूछे, तो उसे आप क्या कहेंगे ?

‘राक्षसी !’

वह बहुत ओछे जी की समझी जाएगी। यदि उसी स्त्री के देवर दूर से अपने बालकों को कम और दूसरे बालकों को ज्यादा देते देखें तो क्या उसके देवरो का जी न टूटेगा ?

‘अवश्य टूटेगा !’

मैं आरम्भ करने के लिए नहीं कहता। जो आरम्भ होना था, वह तो भोजन बनाने में हो चुका; परन्तु उस आरम्भ के बाद यदि हृदय निष्कपट और परोपकार-भाव से परिपूर्ण रहा तो भोजन बनाने में भी यज्ञ हो गया सभझना चाहिये।

तप की विशेषता तो साक्षात् दिखायी देती है, मगर जाति की कोई भी विशेषता मनुष्य में दिखायी नहीं देती; अर्थात् जहाँ जाति-भेद होता है, वहाँ आकृति आदि में भी भेद होता है। मनुष्य-मनुष्य सब एक-सी आकृति वाले हैं और उनमें जाति-संबंधी कुछ भी भेद नज़र नहीं आता। इस कारण अनादि जाति-भेद की कल्पना करना निर्मूल है। जाति का कोई मूल्य नहीं है।

सारांश यह है कि जाति का, कुल का, धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य का, यहाँ तक कि शरीर का भी ममत्व हटा देना चाहिये। इन सब के प्रति ‘इदम् न मम’ की भावना जब सुदृढ़ रूप से अन्तःकरण में जम जाती है तो आत्मा निःस्पृह, निष्काम बन जाती है। इसी भावना को ‘यज्ञ’ शब्द से सूचित किया जाता है।

जो महापुरुष निष्काम बन कर निरन्तर प्रशस्त अनुष्ठानों में अपना समय व्यतीत करते हैं, वे ही दुर्लभ मानव-जीवन का लाभ वे अपने आदर्श से अनेक आत्माओं का कल्याण करते हैं और स्वयं कल्याण के भागी होते हैं।

—दिल्ली; ३० सितम्बर १९३१

△ △

प्रस्तुत विशेषांक में वैचारिक दृष्टि से

और इस दृष्टि से भी कि साधुमार्गी विचार-धारा की एक क्रिस्त-दर-क्रिस्त कॉलेज्ड (*Collaged*) तस्वीर बनायी जाए जैनाचार्य श्रीजवाहरलालजी (१८७५-१९४३) की २८ सूक्तियों को कालानुक्रम से संयोजित किया गया है।

जैनाचार्य श्रीजवाहरलाल न सिर्फ एक जैन साधु थे वरन् अपने समय के एक ऐसे मनीषी चिन्तक थे, जिन्होंने शब्द को सिर्फ शब्द ही नहीं रहने दिया वरन् उसे अपनी साँसों में डाला/ढाला और प्रतिपल जिया।

उन्होंने लोगों के सामने कुछ नैतिक आदर्श प्रस्तुत किये और तत्कालीन संदर्भों को इस तरह जीवन्त कुछ किया कि जैनधर्म/दर्शन की मौलिकताएँ उज्ज्वलतर हो कर ग्राम आदमी के सम्मुख आ सकीं। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त को सिरमौर रखा।

जब खादी की बात सामने आयी तब उन्होंने उसके राष्ट्रीय संदर्भ को प्रमुखता दी और अहिंसा को उसके साथ पूरजोर टाँक दिया। मिल-वस्त्रों के उत्पादन में मटन टेलो (चर्बी) का इस्तेमाल तब होता था (आज भी कहीं-कहीं होता है)। तब मैनचेस्टर से तैयार

कपड़ा आता था। लोग जानते थे; किन्तु उनके मन में न तो कोई राष्ट्रीय संदर्भ था और न ही अहिंसा के लिए कोई संवेदना शेष थी। उन्होंने लोगों की मुर्दा होती संवेदनशीलता को ललकारा और खादी के लिए – सत्य और अहिंसा के लिए – उनके मन में एक नया आकाश तैयार किया। खुद ने उसे धारण किया – अपने साधुओं को उसे पहिनाया और पूरे साधु-संघ के लिए उसे पहिनने का नियम बना दिया।

हम दूर क्यों जाएँ? रेशम को ही लें। सब जानते हैं कि ४५४ ग्राम रेशम के उत्पादन में २५ हजार ककूनों की जानें जाती हैं; किन्तु पहिन रहे हैं जैन; सिर्फ पहिन ही नहीं रहे हैं, उसे बेच भी रहे हैं। उसे धन्धे की तरह अपनाये हुए भी हैं; किन्तु जिस जैन फिरके के ये लोग हैं उस फिरके के साधुओं में इतना साहस नहीं है कि वे अपने अनुयायियों से इस धन्धे को छोड़ने के लिए कहें (ये लोग साधुमार्गी नहीं हैं)।

जैनाचार्य श्रीजवाहरलालजी ने सबमें पहला काम यह किया कि लोगों के मरते हुए विवेक को जिलाया, उसमें नयी जान फुँकी। क्या भक्ष्य है,

क्या अभक्ष्य; क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य; क्या हेय है, क्या उपादेय — इस ओर लोगों का ध्यान खींचा। उनके मुर्दा विवेक में एक हरकत पैदा की।

राजस्थान और गुजरात में, जहाँ जैन तत्त्वदर्शन और आचार को ले कर लगभग सत्राटा खिंचा हुआ था, आचार्यश्री ने जैनधर्म की शिक्षा को पुनर्ज्जीवित किया। अपने सुगम-सुबोध प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने जैनत्व को नये सिरे से खड़ा किया।

पृष्ठ ३३ से ४३ तक के पृष्ठों में सूक्ति-प्रसंगों को कुछ इस तरह रखा गया है कि पाठकवर्ग उनमें-से एक नये मनुज की तस्वीर, जिसके लिए जवाहरलालजी पूरी कोशिश करते रहे, पा सके।

इनमें-से जहाँ एक ओर आचार्यश्री के व्यक्तित्व को बिन्दु-दर-बिन्दु उठते देखा जा सकता है, वहीं उनमें-से व्यक्ति-शुद्धि से समाज-शुद्धि तक के उनके प्रयत्नों को भी जाना जा सकता है। इन प्रसंगों की खुली खिड़कियों में-से हम उनके अक्षर-व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में देख सकते हैं। १८९० से १९४२ तक विस्तृत इन उद्धरणों में-से उनकी जो रचनात्मिका चेतना झाँक रही है, वह निखिल मानवता की बहुमूल्य पूंजी है। वे प्रकृति-प्रेमी थे।

प्रकृति का गहन-गहरा स्वाध्याय उन्होंने किया था। झरना कौन नहीं देखता? जैनधर्म का अनुयायी या अध्येता वीतरागता की धारणा से नावाक्रिफ हो यह असंभव ही है; किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि एक पन्द्रह वर्ष की उम्र का बालक झरने के 'झरझर' नाद में-से पूरे जैनधर्म के सार को प्राप्त कर रहा है। उसकी 'झरझर' में-से उसने क्या नहीं सुना? क्या हम वैसा कर सकते हैं? झरने, नदियाँ, अस्पताल, पागलखाने, श्मशान, प्रसूतिगृह सभी दो हमारे दरवाजे खटखटाते हैं; किन्तु क्या कभी उनकी कोई प्रतिक्रिया हमारे मन पर होती है? असल में मर चुके हैं हमारे मन और देहान्त हो चुका है हमारी महावीरकालीन संवेदनशीलता का।

पैदल सब चलते हैं; किन्तु सबकी पगतलियों में आँखें कहाँ होती हैं? जवाहरलालजी की पगतलियों में नेत्र थे जिन्होंने उनसे हो कर देखा कि पैदल-भ्रमण के क्या लाभ हैं और इस जीवन्त माध्यम का जैनतत्त्व-दर्शन और मानवीय संदर्भों में क्या उपयोग हो सकता है?

ज्यादातर साधु स्थान-मोह में अटक जाते हैं। वे लौट-लौट कर एक ही जगह वर्षावास की सोचते हैं। आचार्य जवाहरलालजी ने पैदल-भ्रमण को चरित्र-रक्षा के लिए अपरिहार्य निरूपित किया। उन्होंने कहा कि पैदल-

यात्रा से अ-प्रमाद और अ-मूर्च्छा की जो चेतना बनती है वह एक जगह आसक्त/धिरे साधु या व्यक्ति के चित्त में नहीं बन सकती।

१८९० ई. में उन्होंने पैदल-यात्रा को ले कर अपने जो विचार रखे हैं, वैसे विचार एक प्रौढ़ मुनि के मन में भी मुष्किल से ही पैदा होते हैं। उनकी मनीषा प्रखर थी। वे विचार में प्रखर और चरित्र में प्रबल/अविचल थे। व अग्रभय की ओर कैसे आये, इसे भी एक सूक्ति-प्रसंग में हम देख सकते हैं।

माता-पिता को अपनी संतान को किस तरह अन्धविश्वासों से मुक्त रखना चाहिये और उन्हें किस तरह निर्भीक और आत्मनिर्भर बनाना चाहिये—यह बात तो वे अपने प्रवचनों में लगातार कहते रहे हैं।

उन्होंने अहिंसा को जैनाचार की माँ माना है। इस पर वे क्रदम-दर-क्रदम अडिग रहे हैं। साधुओं के जीवन में-से आसक्तियों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए वे प्रतिपल जूझते रहे। कोई निन्दा करे, या प्रशंसा; साधु का/श्रमणोपासक का उससे क्या बिगड़ता है? निन्दक तो धोबी है— बिना दाम के तन-मन-वचन को स्वच्छ करने वाला। आत्मा पर से यदि कोई आदमी गर्द हटाता है तो उससे बड़ा उपकारक भला और कौन हो सकता है?

छोटे-छोटे उदाहरणों में-से बड़े-से-बड़ा सबक देने में निष्णात वे अप्रतिम थे।

धरती बनो। धरती-जैसे बनो। वैसी अद्वितीय क्षमता अर्जित करो।

कायर कौन है? शूरवीर कौन है? क्या एक सच्चा अहिंसक कायर हो सकता है?

इतिहास में झाँक कर यदि देखें तो लगेगा कि अहिंसक ही वस्तुतः सबमें बड़ा-शूर हो सकता है।

१९२० ई. में पूरे देश में 'असहयोग आन्दोलन' छिड़ा। आचार्य जवाहरलालजी ने भी पूरी दृढ़ता के साथ स्वदेशी का शंखनाद किया। उन्होंने ताजिन्दगी खादी ओढ़ी-पहिनी और एक स्वस्थ परम्परा विकसित की, जिसके फलस्वरूप आज भी साधुमार्गी श्रमण खादी का उपयोग कर रहा है। खादी जहाँ एक ओर स्वदेशी और सादगी का प्रतीक है, वहीं दूसरी ओर वह अहिंसा की परिपूर्णता की द्योतक भी है।

ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जब उन्होंने राष्ट्रीय और धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतनाओं के स्वस्थ समायोजन द्वारा अद्भुत तेजस्विता को जन्म दिया। वे पराक्रमी इतने थे कि उन्होंने अपनी अस्मिता (जैनत्व और मनुजत्व) को कभी दबने नहीं दिया।

जब अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार करना चाहा तब उन्होंने भयभीत न हो कर एक गहन-गम्भीर सिंहनाद किया कि यदि एक जैन साधु गिरफ्तार होता

है तो इसमें गर्व-गौरव है; क्योंकि वह जानता है कि अपनी मर्यादाओं की रक्षा प्रतिकूलताओं में भी किस तरह की जाती है।

अन्त्यजों के प्रति उनके हृदय में गहरी तड़प थी। उन्होंने अस्पृश्यता के कलंक को कभी स्वीकार नहीं किया। साफ कहा उन्होंने कि उच्चता का अर्थ कृतघ्नता नहीं हो सकता। हम सेवा का उत्तर बहिष्कार और घृणा से नहीं दे सकते।

१९२३ ई. में जब कि जैन अन्धी रूढ़ियों की बेड़ियों में जकड़े इस तरह सोच ही नहीं सकते थे, उन्होंने कहा कि मेहतर को नीच गिनना सबसे बड़ी कृतघ्नता है। इसी वर्ष उन्होंने यह भी कहा कि यदि हमने शूद्रों को उपेक्षित रखा तो हमारी संस्कृति धूल में मिल जाएगी। गांधीजी और उनके सोचने में काफी समानता थी। उन्होंने धर्म से पहले राष्ट्र-रक्षा और मानवीयता को महत्त्व दिया था। वस्तुतः वे मानवीयता को धर्म का पर्याय मानते थे।

धन के बारे में उनके विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। इस संबन्ध में उन्होंने कहा— 'जिस धन को तुम अपनी तिजोरी में क्रंद समझते हो, असल में वह तुम्हारा मालिक है जिसने तुम्हें अपनी हिफाजत के लिए पहरेदार तैनात कर रखा है'। इस तरह का सम्यक्त्व किसी मनीषी की वाणी में ही प्रकट हो सकता है— कोई सूक्ष्म-संपन्न क्रान्तदृष्टा ही यह कह सकता है।

स्वाधीनता को उन्होंने सर्वोपरि माना।

जैनदर्शन ने स्वाधीनता का व्याख्यान जितनी प्रखरता और तथ्यपरकता के साथ किया है, शायद ही किसी धर्म या दर्शन ने वैसा किया हो। वस्तु-स्वातन्त्र्य का यही सिंहाद उनके शब्दों में-से जब-तब हुंकार हुआ है। स्वाधीनता की इस धारणा के कारण ही जैन, राष्ट्र की मुख्यधारा में बने रहे और उसके लिए हर संभव उत्सर्ग करते रहे। 'इदं न मम' के द्वारा जहाँ एक ओर उन्होंने गांधीजी के 'ट्रस्टीशिप सिद्धान्त' का समर्थन किया वहीं जैनधर्म के अपरिग्रह ब्रह्म को भी उसकी सारी निर्मलताओं और विशेषताओं के साथ दुनिया के सामने रक्खा।

१९३१ ई. में उन्होंने चतुर्विध संघ को एक नया विचार दिया।

उन्होंने कहा कि साधु की निर्द्वन्द्वता और समाज में सदाचार/जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए एक 'तीसरे वर्ग' की आवश्यकता है। आगे चल कर यह 'स्वाध्यायी' के रूप में बना। तेरापंथ के आचार्य तुलसी ने समण-समणी

(शेषपृष्ठ ५२ पर)



चीतरागता और झरना

प्रकृति की पाठशाला में-से जो संस्कारी ज्ञान मिलता है, वह कॉलेज या हाईस्कूल में मिलना कठिन है।

जंगल में झरझर ध्वनि करके बहते झरने को देख कर महापुरुष क्या विचार करते हैं? वे सोचते हैं—जब मैं इस झरने के पास नहीं आया था तब भी झरना झर-झर आवाज कर रहा था; अब मैं इसके पास आया हूँ तब भी यह झर-झर आवाज कर रहा है। जब मैं यहाँ से चला जाऊँगा तब भी इसकी ध्वनि बंद न होगी। चाहे कोई राजा आवे या रंक आवे, कोई इसकी प्रशंसा करे या निन्दा करे; मगर झरना सबैव एक ही रूप में अपनी आवाज जारी रखता है—न उसे कम करता है, न ज्यादा। वह अपनी आवाज में तनिक भी परिवर्तन नहीं करता। इस प्रकार जैसे यह झरना अपना धर्म नहीं बदलता वैसे ही अगर मैं अपने धर्म को न बदलूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाए। इस झरने में राग-द्वेष नहीं है। जिस पुरुष में झरने का यह गुण विद्यमान है, वह वास्तव में महापुरुष है।

इसके अतिरिक्त झरने में एक धारा से बहने का भी गुण है। यह जिस धारा से बह रहा है, उसी धारा से बहता रहता है। मगर जब हम अपने जीवन की धारा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि हमारे जीवन की धारा थोड़ी-थोड़ी देर में पलटती रहती है। हमारे जीवन की एक निश्चित धारा ही नहीं है धन्य है यह निर्झर जो निरन्तर एक ही धारा से बहता रहता है।

झरने में तीसरा गुण भी है, जो खासतौर से हमारे लिए उपादेय है। यह झरना अपना समस्त जीवन (जल) किसी बड़ी नदी को सौंप देता है और उसके साथ हो कर समुद्र में विलीन हो जाता है। वहाँ पहुँच कर वह अपना नाम भी शेष नहीं रहने देता। इसी प्रकार मैं भी किसी महापुरुष की संगति से परमात्मा में मिल जाऊँ तो क्या कहना है!!

—१८९० ई.

पैदल-यात्रा : लाभ कितने ?

तुम समझे होंगे कि गूंगी प्रकृति तुम्हारी क्या सहायता कर सकती है ? मगर यह तुम्हारा भ्रम है। प्रकृति मौन सहायता पहुँचाती रहती है।

प्रकृति के पर्यवेक्षण का अनुपम आनन्द पैदल चलने वालों को नसीब होता है। रेल, मोटर या वायुयान की छाती पर सवार होने वाले और गोली की तरह सरसराहट करके एक जगह से दूसरी जगह जा पहुँचने वाले इस आनन्द से प्रायः वंचित ही रहते हैं। मार्ग के दृश्य उन्हें भागते हुए स्वप्न के समान दृष्टिगोचर होते हैं। उनके साथ हृदय का कोई संबन्ध स्थापित नहीं होने पाता।

पैदल-यात्रा करने वाला पुरुष रास्ते के ग्रामों और वन-खण्डों के निवासियों के परिचय में आता है। उनसे संभाषण करके प्रेम-संबन्ध स्थापित करता है। यहाँ तक कि जंगल के हिंसक प्राणियों के साथ भी मैत्री जोड़ लेता है। वह धीरे-धीरे विश्वप्रेम की ओर अग्रसर होता है। मार्ग की विषम परिस्थितियों का धैर्यपूर्वक सामना करने से उसके आत्मबल में वृद्धि होती है।

पैदल-यात्रा में ज्ञान-वृद्धि में भी बहुत सहायता मिलती है। मानव-स्वभाव का परिचय प्राप्त करने के लिए पैदल-भ्रमण अत्यन्त उपयोगी है। विभिन्न भाषाएँ, बोलियाँ और संस्कृतियाँ समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

प्रचार की दृष्टि से तो पैदल-भ्रमण अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। महावीर और बुद्ध जैसे संसार के महान् नेताओं ने भी पैदल-भ्रमण करके ही जनता में धर्म-जागृति उत्पन्न की, क्रान्ति का मन्त्र फूँका और युग-युग से चली आयी रूढ़ियों के स्थान पर वास्तविक कर्त्तव्य की स्थापना की। इस युग के आदर्श नेता महात्मा गाँधीजी ने भी डाँडी के लिए पैदल प्रयाण करके जनता में एक अद्भुत जोश पैदा कर दिया था।

चारित्र-रक्षा की दृष्टि से भी साधु के लिए एक नियत स्थान पर न टिक कर पैदल भ्रमण करना आवश्यक है। अधिक समय तक एक स्थान पर टिके रहने से मोह की जागृति का भय रहता है।

-१८९० ई.

वह सब मेरा भ्रम था

आज बालकों के मस्तिष्क में भय के संस्कार बहुत डाले जाते हैं। इससे कितनी हानि होती है, यह बात मैं जानता हूँ। मेरी माता मुझे दो वर्ष का छोड़

कर चल बसी थीं और मेरे पिता पाँच वर्ष का छोड़ कर चले गये थे। मेरा पालन-पोषण मेरे मामा के घर हुआ था। वहाँ से थोड़ी दूर एक मकान था, जो बहुत नीचा होने के कारण अन्धकारमय रहता था। स्त्रियाँ कहा करतीं—इस मकान में भूत रहता है। मैं यह बात सुन कर डरता था और इस कारण रात के समय दुकान से अपने मामा के मकान जाना होता तो उस मकान के पास से न जा कर लम्बा चक्कर काट कर दूसरे रास्ते से जाता। मेरे मस्तिष्क में भूत के जो संस्कार पड़े गये थे, वे दीक्षा लेने के बाद भी समूल नष्ट नहीं हुए। दीक्षा लेने के बाद मेरे दीक्षा-गुरु का डेढ़ मास बाद स्वर्गवास हो गया। उस समय मैं लगभग पाँच महीने विक्षिप्त-सा रहा। मेरे मस्तक में भूत के जो संस्कार पड़े थे उनके कारण उस समय मुझे ऐसा लगता था कि कोई प्रत्यक्ष ही मुझ पर जंत्र-मंत्र कर रहा है; मगर जब मैं स्वस्थ हुआ तो मालूम हुआ कि वास्तव में वह सब मेरा भ्रम था, और कुछ भी नहीं।

—१८९० ई.

अहिंसा जहाँ, निर्वैर वहाँ

अहिंसा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सिंह और हिरन, जो जन्म से ही विरोधी हैं, अहिंसक की जाँघ पर आ कर सो जाते हैं। अहिंसा प्रतिष्ठायाँ वैरत्यागः अर्थात् जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ वैर का नाश हो जाता है। अहिंसक के निकट जाति-विरोधी पशुओं के एकत्र निर्वैर बसने के उदाहरण आज भले ही दिखायी न पड़ते हों, फिर भी अहिंसा की शक्ति के उदाहरणों की कमी नहीं है। अहिंसा के आराधक महात्माओं की चरण-रेणु से हज़ारों को मारने वाला हत्यारा भी शुद्ध हो जाता है।

—१९०८ ई.

लाभ-हानि से अनासक्त

व्यापारी व्यापार में हानि-लाभ का विचार करता है, पर हे मुनियो! तुम व्यापारी की तरह हानि-लाभ के झमेले में मत पड़ो। अपनी उद्देश्य-सिद्धि की ओर और कर्तव्य-पालन की ओर ही ध्यान रखो। लाभ-हानि के द्वन्द्व में न पड़ना संयम का मूल लक्षण है।

—१९१० ई.

आत्मा का निःशुल्क धोबी

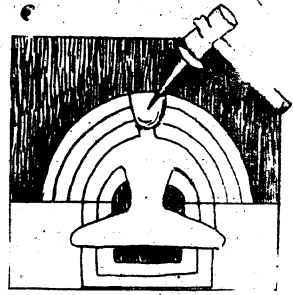
कपड़ा धोने वाला धोबी अगर बिना पैसे कपड़ा धो दे तो प्रसन्नता होती है या अप्रसन्नता? ज्ञानी पुरुष गाली देने वाले को आत्मा का धोबी मानता है—निर्मल बनाने वाला।

—१९१० ई.

बनो : पृथ्वी के समान

तुम पृथ्वी के समान क्षमाशील बनो। पृथ्वी को कोई पूजता है, कोई लतियता है, कोई सींचता है, कोई खोदता है, पर वह सबके प्रति समान है। वह गुण ही प्रकट करती है, अवगुण प्रकट नहीं करती। तुम भी पृथ्वी के समान समभावी बनो।

—१९१० ई.



वीर कौन, कायर कौन

धर्म वीरों का होता है, कायरों का नहीं। वीर पुरुष अपनी रक्षा के लिए लालायित नहीं रहते, वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके भी दूसरों की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते हैं।

—१९१० ई.

स्वदेशी धर्म

तुम जिस देश में जन्मे हो, जहाँ के अन्न, जल और वायु से तुम्हारे शरीर का पालन-पोषण हुआ है, उसी देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का तुम्हें त्याग करना चाहिये। उस वस्तु से तुम्हारा जीवन-निर्वाह सरलता से हो सकेगा और साथ ही तुम महा आरम्भ से भी बच जाओगे।

—१९२० ई.

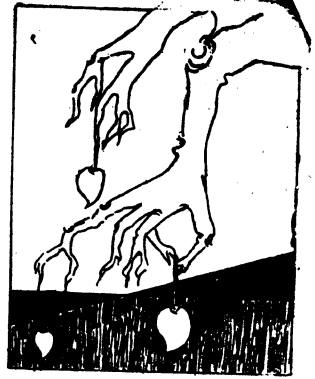
उच्चता बनाम कृतघ्नता

धर्म-भावना का तकाजा है कि मनुष्य-मात्र को भाई समझा जाए। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्य का बन्धु है। बन्धु का अर्थ सहायक है। इस प्रकार शूद्र आपके सहायक हैं और आप शूद्रों के सहायक हैं। चमार ने जूता बनाया और आपको पहना दिया। क्या यह आपकी सहायता नहीं है? भंगी ने आपका पाखाना साफ किया, आपकी नाली स्वच्छ की और आपको बदबू एवं बीमारियों से बचा दिया तो क्या भंगी ने आपकी मदद नहीं की? क्या आपकी सहायता का पुरस्कार यह होना चाहिये कि वह नीच गिना जाए? सफाई करके भयंकर बीमारियों की संभावना को दूर करने वाले मेहतर को नीच गिनना क्या कृतज्ञता की भावना के अनुकूल है? मानव-समाज का असीम उपकार करने वाले वर्ग को अस्पृश्य, घृणास्पद या नीच समझने वाले लोग अपने को जब उच्च वर्ग का कहते हैं तो समझ में नहीं आता कि उच्चता का अर्थ क्या है? क्या उच्चता का अर्थ कृतघ्नता है? —१९२३ ई.

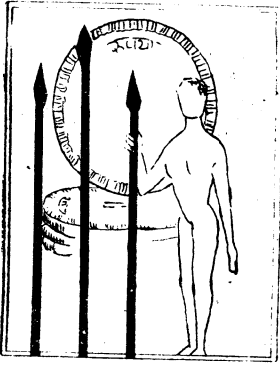
नींव हिल उठेगी

शूद्र आपके समाज की नींव है। महल का आधार नींव है। नींव में अस्थिरता आ जाने से महल स्थिर नहीं रह सकता। अगर तुमने शूद्रों को अस्थिर कर दिया विचलित कर दिया तो तुम्हारे समाज की नींव हिल उठेगी। तुम्हारी संस्कृति धूल में मिल जाएगी।

—१९२३ ई.



कंदी या मालिक



तुम समझते हो हमने धन को तिजोरी में कैद कर लिया है पर धन समझता है कि हमने इतने बड़े धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है। तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का व्यय कर सकता है। तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो उसके लिए भले ही अपनी जान दे दो, लेकिन धन अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा। वह दूसरों का बन जाएगा। तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो? तुम्हीं त्याग की पहल क्यों नहीं करते? क्यों स्वत्व के धागे को तोड़ कर फेंक नहीं देते?

—१९२३ ई.

साधना हो जीवन्त और जागृत

साधु का मार्ग कितना कठोर है! संयम की मर्यादा के लिए कितना सावधान रहना पड़ता है!! सच्चा साधु अपनी निर्मलता में लेशमात्र भी धब्बा लगाना

तीर्थकर : सित. अक्ट. ८७/४१

सहन नहीं कर सकता। उसकी आत्मा मलिनता की आशंका मात्र से कराह उठती है। शारीरिक लाचारी की दशा में अगर संयम की किसी मर्यादा का उल्लंघन हो गया हो तो वह उसे छिपाने का प्रयत्न नहीं करता वन् सर्वसाधारण के समक्ष अपनी नास्तविकता खोल कर रख देता है और इस प्रकार अपने अन्तःकरण को उज्ज्वल बनाता है। यह साधु की साधना है। स्वेच्छा-साधना ऐसी जीवन्त और जागृत होती है।

-१९२४ ई.

जहाँ पराधीनता, वहाँ धर्म कैसा ?

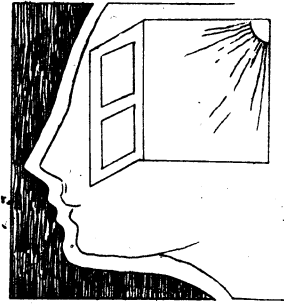
प्रजा में शान्ति, सुव्यवस्था और अमन-चैन रहने पर ही धर्म की आराधना की जा सकती है। जहाँ परतन्त्रता है, जहाँ अराजकता है, जहाँ परतन्त्रता के कारण हाहाकार मचा होता है, वहाँ धर्म को कौन पूछता है ?

-१९२७ ई.

न लगायें स्वार्थ के किवाड़

कार्य करने के लिए व्यक्ति कानून-कायदे तथा बहुमत आदि का आश्रय लेता है; किन्तु यह सब परतन्त्रता है। प्रत्येक में बुद्धि है और उसकी जागृति भी है। जिसने सांसारिक लोभ में पड़ कर उस पर पर्दा डाल दिया है उसकी बौद्धिक शक्ति अवश्य छिप गयी है; किन्तु जिसने अपनी बुद्धि से स्वार्थ-का-पर्दा हटा दिया है, वह तुच्छ-से-तुच्छ आत्मा भी महान् बन गया है। इसी निःस्वार्थ विचार-शक्ति के प्रभाव से वाल्मीकि और प्रणव चोर महर्षि के पद पर पहुँच गये। स्वार्थ के किवाड़ लगा कर विचार-शक्ति को रोक देना उचित नहीं है। अपनी बुद्धि को, विचार-शक्ति को सब प्रकार के विकारों से दूर रख कर जो निर्णय किया जाता है, वही उत्तम होता है।

-१९२७ ई.



इदं न मम

जीवन-व्यवहार के साधारण कार्य, जैसे - खाना-पीना, चलना-फिरना आदि ज्ञानी भी करते हैं और अज्ञानी भी करते हैं। कार्यों में इस प्रकार समानता होने

पर भी बड़ा भेद है। अज्ञानी पुरुष अज्ञानपूर्वक बिना किसी उद्देश्य के काम करता है। ज्ञानी पुरुष छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा व्यवहार गंभीर ध्येय से, निष्काम भावना से वासनाहीन हो कर यज्ञ के लिए करता है। वास्तविक यज्ञ किसे कहा जाना चाहिये; गीता में कहा है : यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। किसी को द्रव्य-यज्ञ करना है तो धन पर से अपनी सत्ता उठा ले और कहे 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं है। बस यज्ञ हो गया।

-१९२७ ई.

अहंकार का विलय, आभा का उदय

अगर सच्चे कल्याण की कामना है तो सब वस्तुओं पर से अपना ममत्व हटा लें। यह मेरा है इस बुद्धि से ही पाप की उत्पत्ति होती है। इस दुर्बुद्धि के कारण ही लोग ईश्वर का अस्तित्व भूले हुए हैं। 'इदं न मम' कह कर अपने सर्वस्व का यज्ञ कर देने से अहंकार का विलय हो जाएगा और आत्मा में अपूर्व आभा का उदय होगा।

-१९२७ ई.

साधु-समाज में निरंकुशता

आज निर्ग्रन्थ-वर्ग की स्थिति कुछ विषम-सी हो रही है। साधु-समाज और साध्वी-समाज में निरंकुशता फैलती जाती है। इसका कारण किस प्रकार के पुरुष और किस प्रकार की महिला को दीक्षा देनी चाहिये, इस बात का पूरी तरह विचार नहीं किया जाता रहा है। दीक्षा-संबन्धी नियमों का पालन बहुत कम हो रहा है।

-१९३१ ई.

तीसरा वर्ग जरूरी

साधु-समाज के निरंकुश होने और साधुता के नियमों में शिथिलता आ जाने के कारणों में-से एक कारण है—साधुओं के हाथ में समाज-सुधार का काम होना। आज सामाजिक लेख लिखने, वाद-विवाद करने और इस प्रकार समाज-सुधार करने का भार साधुओं पर डाल दिया गया है। समाज-सुधार करने का कार्य दूसरा कोई वर्ग अपने हाथ में नहीं ले रहा है; अतएव यह काम भी कई-एक साधुओं को अपने हाथ में लेना पड़ा है, इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में साधुओं द्वारा ऐसे-ऐसे काम हो जाते हैं, जो साधुता के लिए शोभास्पद नहीं कहे जा सकते। इस समस्या का हल ऐसे तीसरे वर्ग की स्थापना करने से ही हो सकता है, जो साधुओं और श्रावकों

के मध्य का हो। यह वर्ग न तो साधुओं में ही परिगणित किया जाए और न गृह-कार्य करने वाले साधारण श्रावकों में ही। इस वर्ग में वे ही व्यक्ति समाविष्ट किये जाएँ जो ब्रह्मचर्य का अनिवार्य रूप से पालन करें और अकिंचन हों अर्थात् अपने लिए धन-संग्रह न करें। वे लोग समाज की साक्षी से धर्माचार्य के समक्ष इन दोनों व्रतों को ग्रहण करें। इस प्रकार के तीसरे त्यागी श्रावक-वर्ग से समाज-सुधार की समस्या भी हल हो जाएगी और धर्म का भी विशेष प्रचार हो सकेगा; साथ ही निर्ग्रन्थ-वर्ग भी दूषित होने से बच जाएगा।

—१९३१ ई.

कर्तव्य-पालन में डर कैसा ?

मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है? मैं साधु हूँ। अधर्म के मार्ग पर नहीं जा सकता; किन्तु परतन्त्रता पाप है। परतन्त्र व्यक्ति ठीक तरह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। मैं अपने व्याख्यान में प्रत्येक बात सोच-समझ कर तथा मर्यादा के भीतर रह कर कहता हूँ। इस पर यदि राजसत्ता हमें गिरफ्तार करती है तो हमें डरने की क्या आवश्यकता है? कर्तव्य-पालन में डर कैसा? साधु को सभी उपसर्ग व परीषह सहने चाहिये, अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिये। सभी परिस्थितियों में धर्म की रक्षा का मार्ग मुझे मालूम है। यदि कर्तव्य का पालन करते हुए जैन समाज का आचार्य गिरफ्तार होता है तो इसमें जैन समाज के लिए किसी प्रकार के अपमान की बात नहीं है। इसमें अत्याचारी का अत्याचार सभी के सामने आ जाता है।

—१९३१ ई.

गाड़ी और इंजीनियर

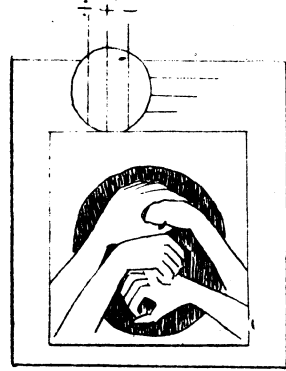
यद्यपि इंजीनियर गाड़ी से छोटा है। गाड़ी का एक पुर्जा भी यदि इंजीनियर पर गिर जावे तो इंजीनियर को दबा सकता है। दूसरी तरफ गाड़ी ऐसी ताकत वाली है कि इंजीनियर को भी जहाँ चाहे वहाँ ले जा सकती है; फिर भी गाड़ी की शक्ति बड़ी नहीं है, किन्तु इंजीनियर की शक्ति बड़ी है; क्योंकि इंजिन में पुर्जे इंजीनियर ही लगाता है। साधारण आदमी और इंजीनियर में यह अंतर है कि गाड़ी के विषय में इंजीनियर जो कुछ कर सकता है साधारण आदमी वैसा नहीं कर सकता। इंजीनियर में यह शक्ति है कि वह जोर-भर दौड़ती हुई गाड़ी को रोक सकता है। रुकी हुई गाड़ी को चला सकता है। इसी प्रकार इंजिन से डिब्बे को अलग भी कर देता है और जोड़ भी देता है। इंजीनियर टूटे-फूटे लोहे को भी इंजिन के रूप में परिणत कर देता है। यद्यपि अग्नि और पानी में शक्ति है, फिर

भी उस शक्ति से काम लेना सब कोई नहीं जानते; लेकिन इंजीनियर उससे काम ले लेता है। इस प्रकार इंजीनियर पाँचों भूतों पर मालिकी करता है, लेकिन देखना यह है कि इंजीनियर जो कुछ भी करता है, वह शरीर की स्थूल शक्ति से करता है या ज्ञान-शक्ति से?

-१९३३ ई.

एक और एक के बीच कुछ न हो

एक और एक के बीच यदि बाकी (—) का निशान होगा तो परिणाम शून्य (०) दिखेगा। यदि जोड़ (+) का चिह्न होगा तो एक ओर एक दो होंगे। यदि एक और एक के बीच में गुणा का चिह्न (×) होगा तो गुणनफल एक आयेगा और यदि भाग का चिह्न (÷) होगा तो भागफल भी एक ही आवेगा। इस प्रकार एक और एक के बीच में किसी प्रकार का भेद रहने पर एक और एक दो से अधिक न होंगे; परन्तु यदि एक और एक के बीच का भेद निकाल दिया जावे तो एक और एक ब्यारह होंगे। यदि तीन एक विना भेद-भाव के होंगे तो १११ हो जावेंगे तथा बिना भेद के चार एक ११११ होंगे। इसी प्रकार यदि भेद-रहित बीस एक हों, तो कैंसी बड़ी शक्तिशाली संख्या हो जावेगी, इसे आप सरलता से समझ सकते हैं; इसलिए मैं आप लोगों से यही कहूँगा कि आप लोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए बीच के भेद को मिटाना सीखें—अन्यथा एक-एक होने पर भी परिणाम एक दो या शून्य ही होगा।



-१९३३ ई.

फिर कुछ नहीं बचता

श्रद्धा को सबने महत्त्व दिया है। पुरुष श्रद्धामय है। जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही बन जाता है। इस प्रकार श्रद्धा को सबने बड़ा माना है। शंका से श्रद्धा में दोष आता है। श्रद्धा में दोष आने के बाद कुछ नहीं बचता; इसलिए शंका मिटाने समय संकोच नहीं करना चाहिये। शंका बनी रहने से हानि होती है।

-१९३५ ई.

सत्य में-से उत्पन्न अचूक बल

सत्याग्रह के बल की तुलना कोई बल नहीं कर सकता। इस बल के सामने, मनुष्य शक्ति तो क्या, देवशक्ति भी हार मान जाती है। कामदेव श्रावक^१ पर देवता ने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया, लेकिन कामदेव ने अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य शक्ति का आश्रय न ले कर केवल सत्योपाजित आत्मबल से ही उस देवता की सारी शक्ति को परास्त कर दिया। भगवान् महावीर ने सत्याग्रह का प्रयोग पहले अपने ऊपर कर लिया था; इससे वे चण्डकौशिक^२ जैसे विषधर सर्प के स्थान पर लोगों के मना करने पर भी निर्भयतापूर्वक चले गये।

-१९३८ ई.

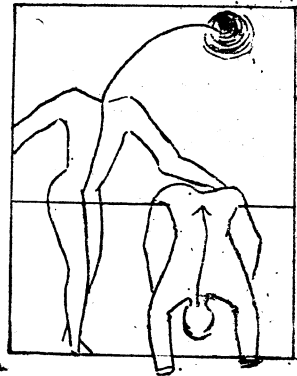
सत्य अधिक प्रिय

मैं सत्य का गवेषक हूँ। सभी को सत्य ही मानना चाहिये। असत्य के लिए मेरा आग्रह नहीं है। मुझे अपनी बात की अपेक्षा सत्य अधिक प्रिय है।

-१९४२ ई.

नये-नये चोगे : कब तक ?

जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। संसार में जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। यह शरीर तो एक प्रकार का चोगा है; जिसे स्वयं प्राणी माता के गर्भ में तैयार करता है और पुराना होने पर छोड़ देता है। पुराने चोगे को छोड़ कर नये-नये चोगे पहिनते जाना जीव के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसमें हर्ष या विषाद की कोई बात नहीं है। हर्ष की बात तो हमारे लिए तब होगी जब हम इस चोगे को इस रूप में छोड़ेंगे कि फिर नया न धारण करना पड़े। वास्तव



१ उपासक दशांग, अष्टययन २ में श्रमणोपासक कामदेव की कथा आयी है। कामदेव पर मरणान्तक उपसर्ग हुए फिर भी वह सम्यक्त्व से विचलित नहीं हुआ; अन्ततः उसी की विजय हुई।

२ इसकी दाढ़ में उग्र जहर था, किन्तु सत्यान्वेषी भगवान् महावीर का वह कुछ भी न बिगाड़ सका।

में नवीन चोगे का धारण करना ही बन्धन है और उसे उतारना छुटकारा है। जब यह चोगा हमेशा के लिए छूट जाएगा तब वही मोक्ष है। अतः यह चोगा छूटने पर भी आत्म-समाधि कायम रहे, यही मेरी भावना है।

-१९४२ ई.

सिलसिला - ए - दुःख

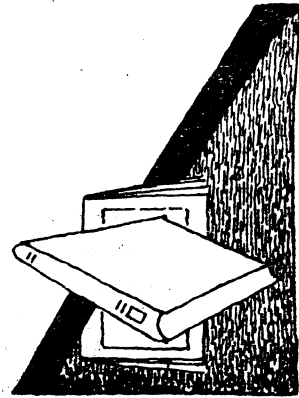
अनादि काल से जड़ का चेतन के साथ संसर्ग हो रहा है। जब तक चैतन्य के साथ जड़ के रहने का सिलसिला जारी है तब तक आत्मा के दुःख का सिलसिला भी जारी रहेगा। जिस दिन जड़-चेतन के संसर्ग का सिलसिला समाप्त हो जाएगा; उसी दिन दुःख भी समाप्त हो जाएगा और एकान्त सुख प्रकट हो जाएगा।

-१९४२ ई.

वह तुम्हारी नहीं है

जो तुम्हारा है, वह तुमसे कभी विलग नहीं हो सकता। जो वस्तु तुमसे विलग हो जाती है या हो सकती है, वह तुम्हारी नहीं है। पर-पदार्थों में आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है। इस भ्रमपूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टों से पीड़ित है। अगर मैं और मेरी की मिथ्या धारण मिट जाए तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरुपम निःस्पृहता और दिव्य शान्ति का उदय होगा।

-१९४२ ई.





धरम को मंडन भरमको विहंडनजु

ग्यान को उजागर^१ सहज सुख सागर,^२
 सुगुन रतनागर,^३ विरागरस भरयो^४ है ।
 सरनकी रीत^५ हरै मरन को^६ भै^७ न करै,
 करनसों^८ प्रीटदे^९ चरण^{१०} अनुसरयो^{११} है ॥
 धरम को मंडन^{१२} भरम को विहंडनजु,^{१३}
 परम नरम व्हेकै^{१४} करमसो लरयो है।^{१५}
 ऐसो मुनिराज भवलोक में विराजमान^{१६}
 निरखी बनारसी नमस्कार करयो है।^{१७}

—बनारसीदास

१. सम्यग्ज्ञान का प्रसार करने वाला। २. समुद्र। ३. समुद्र, रत्नों का भण्डार।
 ४. वैराग्य-के-रस से लबालब। ५. रिक्तता, खालीपन। ६. मृत्यु का। ७. भय।
 ८. करण, क्रियाकाण्ड। ९. हट कर। १०. चारित्र्य, आचरण, चरणानयोग।
 ११. अनुसरण किया है। १२. प्रतिपादन, महिमा का व्याख्यान। १३. भ्रम का
 विध्वंसन। १४. पूर्ण अहिंसक हो कर, अतिशय मार्दव भाव से, विनयपूर्वक। १५.
 कर्म से जूझा है, उनसे संघर्ष किया है। १६. विद्यमान, सुप्रतिष्ठित। १७. बनारसी
 दास ने देख कर उन्हें नमन किया है।

सच्ची स्वतन्त्रता की स्थापना कब ?

भगवान् महावीर के उपदेश सारे विश्व के मानव-समाज के लिए स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक हैं। उनके अनुसार चलने से देश में / विश्व में वास्तविक/सच्ची स्वतन्त्रता की स्थापना हो कर शान्ति का विकास हो सकेगा।

—जैनाचार्य श्रीनानालाल

१५ अगस्त क्या है? आप सिर्फ सोचते हैं कि हम स्वतन्त्र हो गये या बन गये। बाहरी तौर से यह रूपान्तरण है। मतलब यह कि जो परतन्त्रता का अनुभव कर रहा था, वह छूटने के बाद स्वतन्त्र कहलाता है; लेकिन वस्तुस्थिति क्या है?

भारत बहुत वर्षों तक बन्धन में रहा। बन्धन-मुक्त होने के बाद कैसी वृत्ति आ गयी? अंग्रेजों के जमाने में जो मनोदशा थी, उसमें परिवर्तन आया क्या?

जहाँ पहले लोगों की आदत/वृत्ति सत्ता और संपत्ति पाने की थी, अंग्रेजों के समय में सत्ता और संपत्ति पाने के लिए सोचते थे, आपस में झगड़ते थे, पैसा जोड़ने में लगे हुए थे, आज स्वतन्त्रता आयी तो स्वार्थ छिप गया क्या? पैसा कमाने की आदत छूट गयी क्या? आज तो स्वतन्त्रता की आड़ में चाहे जितना पैसा ब्लेक से या और 'किसी तरीके से कमाओ' कोई डर नहीं रहा। आज दहेज-प्रथा मिट गयी है क्या?

स्वार्थ की वृत्ति वैसी ही चालू है। उस समय अंग्रेजों के राज्य में राजकीय सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी; लेकिन अब सत्ता भारतीयों के हाथ में आ गयी है। भारतीय क्या कर रहे हैं? आपस में लड़ रहे हैं। सत्ता और संपत्ति के पीछे स्वार्थवृत्तियों को टकरा रहे हैं। एक-दूसरे की बुराई कर रहे हैं; एक-दूसरे को नीचे गिराने की कोशिश की जा रही है। ऐसे स्थिति में इसको स्वतन्त्रता कहें या परतन्त्रता, यह प्रश्न विचार अथवा चिन्तन में आ गया है।

अंग्रेजों के नाम की स्थिति तो स्वतन्त्रता आने के बाद से हट गयी है, लेकिन अंग्रेजों के काम करने की स्थिति और उनकी संस्कृति भारतीयों के मस्तिष्क में कूट-कूट कर भरी हुई है। आज जनतान्त्रिक पद्धति में सोचते हैं कि अन्न की समस्या को कैसे हल किया जाए? सोचेंगे कि इंग्लैण्ड ने इस समस्या का हल किस प्रकार किया था, तो बात सामने आयेगी कि वहाँ मुर्गीपालन-उद्योग, मच्छी-पालन उद्योग और कत्लखानों को बढ़ावा दिया गया था, इसलिए हमें भी अब यही करना है। अब तो भारत स्वतन्त्र है, लेकिन स्वतन्त्र कैसे हुआ था? महात्मा गाँधी ने अहिंसा का बल लिया था, अहिंसा के सहारे स्वतन्त्रता प्राप्त की गयी थी; लेकिन अब वे क्या कार्य कर रहे हैं? अन्न की समस्या हल करनी है, तो मुर्गीपालन-

उद्योग, मछली-पालन उद्योग, कल्लखाने कितने तैयार हुए हैं और उनका प्रचार-कितना हो रहा है, इसके बारे में क्या कुछ कहा जाए, किस दृष्टि से कहा जाए ?

अंग्रेजों के जमाने में यह सोचा जाता था कि जो लोग माँसाहारी नहीं हैं, जो धर्मी हैं, उनके समीप अण्डा, माँस और मदिरा की दुकानें नहीं रहनी चाहिये। ऐसा कुछ प्रतिबन्ध था कि उनके मन को ठेस नहीं पहुँचे। अब अंग्रेज तो चले गये, लेकिन सुनने को मिलता है कि सामिष भोजन के नजदीक में दुकानें नहीं थीं, वे दुकानें अब आ गयी हैं और माँस बेचने वाले तो सर्वत्र बस गये हैं, अब तो स्कूल-कॉलेज की पाठ्य-पुस्तकों में भी कैसा-कैसा स्वरूप सामने आ रहा है, कैसी-कैसी बातों का समावेश हो रहा है? पाठ्य पुस्तकें तैयार करने वालों को ऊपर से इशारा रहता है। जनता के समक्ष अण्डे-माँस खाने की बात सीधी कही जाएगी तो जनता भड़क जाएगी, इसलिए कोमल वय के बालकों के मस्तिष्क में यह बात बँटा दी जाए कि अण्डे खाने से शरीर पुष्ट बनता है और यह सब्जी-आहार (शाकाहार) है, माँसाहार नहीं है; ऐसा उनके मन में बैठाने की कोशिश की जा रही है। स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया जाए, तो अण्डा भी माँस ही है, यह तटस्थ डॉक्टरों की राय है; लेकिन इसका प्रचार कोमल वय के बच्चों में किया जा रहा है और यह समझा/समझाया जा रहा है कि बुजुर्ग तो धीरे-धीरे अपने रास्ते चले जाएँगे, और यह (माँसाहार-पोषक) संस्कृति धीरे-धीरे पल्लवित/पुष्पित होती चली जाएगी। आप सोचिये, पाश्चात्य संस्कृति आज भी हमारे मस्तिष्क से नहीं निकली है। यदि वे इस मनोवृत्ति को ले कर नहीं चलते, तो स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं होता। जितनी स्वतन्त्रता है, उसका मूल्यांकन कीजिये। मेरा मतलब यह नहीं है कि जितने जनहित के कार्य किये गये हैं, उस ओर दूसरा दृष्टिकोण नहीं है; लेकिन सन्तुष्टि मान लेने से जो विकृतियाँ आ गयी हैं, उनको सही मान कर चल रहे हैं, इस विषय में चिन्तन करने की आवश्यकता है। मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो रहा है, लेकिन संशोधन नहीं हो रहा है। उसके बिना स्वतन्त्रता की स्थिति नहीं आ रही है।

लोगों में अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ व्याप्त हो रही हैं। इसके लिए मन को शिक्षित किया जाए, तभी परिवर्तन हो सकता है और स्वतन्त्रता वास्तविक रूप में आ सकती है। यदि भारतवासियों का इस तरह इस तरह ध्यान नहीं है, तो ऊपर स्वतन्त्रता का नाम है, भीतर स्वतन्त्रता का प्रसंग अभी तक उभर नहीं रहा है।

लोग सोचते हैं कि अलग-अलग नारा लगीयेंगे। 'भारत बचाओ' यह नारा राजनीतिक लोग देते हैं, लेकिन मैं भी नारा दूँ क्या? आप सोचेंगे कि महाराज राजनीति में जा रहे हैं क्या? मेरा राजनीति से कोई वास्ता नहीं है। मैं कूटनीति को अच्छा नहीं समझता। मैं तो धर्मनीति को जानता हूँ। राजनीति का

दूसरा ही अर्थ करता हूँ। आत्मा को राजा कहा है और आत्मा की नीति को आत्मा की राजनीति कहता हूँ।

‘मानव बचाओ’ ‘मानव बचाओ’ का नारा हम तभी बुलन्द कर सकेंगे, जब हम अपने जीवन में संशोधन करेंगे। कुरीति-रिवाजों को छोड़ कर भगवान् महावीर की प्रवचन-विधि के अनुसार आपके मन की बुरी वृत्तियों को रोक कर सन्मार्ग को धारण करेंगे, तब आप वास्तविक रूप में स्वतन्त्र हो सकेंगे। आप ही क्या, सारे भारतवासी और सारी मानव-जाति में जब तक यह संशोधित वृत्ति नहीं आयेगी, सत्ता और संपत्ति को गौण करके इस बात को जो सिर पर है, उसे चरणों में रखेंगे, और यही हमारा सही स्थान है। आत्मिक निष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता को ग्रहण करेंगे, तो भारत अवश्य स्वतन्त्र बनेगा, मानव स्वतन्त्र बनेगा। इस रास्ते को अपनाएने की आज आवश्यकता है।

गाँधीजी ने अंग्रेजों को हटाने का आन्दोलन किया था। आज अंग्रेज नहीं हैं; लेकिन उनके छोटे संस्कार इस देश में ज़रूर हैं, जिनके कारण मानव-मानव में संघर्ष हो रहा है। मानव वृत्ति दानव-वृत्ति में परिणत हो रही है। अंग्रेजों के उन संस्कारों को हटाना आवश्यक है। इसे हटाने के लिए तीर्थंकरों का मार्ग अपनाएना आवश्यक है। आप सोचेंगे कि भगवान् महावीर तो जैन हैं। कौन हैं जैन? जैन जाति नहीं है, यह तो धर्म है। राग-द्वेष को जीतने वाले भगवान् महावीर क्षत्रिय थे। गौतम गणधर ब्राह्मण थे। धन्ना शालिभद्र सेठ वैश्य था और अर्जुनमाली जाति का माली था। वे सब एक झण्डे के नीचे आ कर एक धारा जोड़ कर चले। कोई मतभेद नहीं रहा। सब एकसूत्र में चले तो सबका उद्धार हो गया। क्या हम भी सच्चे मायने में भगवान् महावीर के अनुयायी बनेंगे या ऊपरी बातों को ले कर लड़ते-झगड़ते रहेंगे? यदि जिन्दगी चली गयी, तो भले ही संवर की बात करें, तप करके सूखी लकड़ी के डंठल की तरह हो जाएँ, लेकिन जब तक जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक वास्तविक संवर का रूप नहीं आयेगा।

भरत-बाहुबली के प्रसंग का जब हम अवलोकन करेंगे, तब ज्ञात हो सकेगा कि कैसी होती है स्वतन्त्रता, किसे कहते हैं विजय? हम स्वतन्त्रता चाहते हैं। इस स्वतन्त्रता के आने पर अवलोकन करें कि हम क्या हैं? क्या करना चाहते हैं? चित्त की वृत्तियों में संशोधन करें। कीचड़ में-से कमल निकालने की स्थिति है। वैसे ही मानव-तन-रूपी कीचड़ में पैदा होने वाले कमल के तुल्य शुद्ध वृत्तियाँ बना कर कल्याणकारी मार्ग, प्राणिमात्र के हित की कामना मनुष्य के मन में चले। स्वतन्त्रता के प्रसंग से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बन जाएँ। दूसरे शब्दों में कहूँ, मन के ऊपर अंकुश हो जाए — मन अनुशासित हो सके।

कोई कहते हैं कि हम इतना तप कर रहे हैं, हम श्रेष्ठ हैं। यह श्रेष्ठता की बात, अभिमान की वृत्तियाँ मस्तिष्क में मँडरा रही हैं। चाहे व्यक्ति विशेष पर हो, चाहे समाज/राष्ट्र विशेष पर हो, जब तक ऐसी तुच्छ भावना चलती रहेगी, एक-दूसरे को गिराने की दुर्भावना चलती रहेगी, तब तक मन की परतन्त्रता भी रहेगी। यह परतन्त्रता की निशानी है। इससे वास्तविक स्वतन्त्रता आना कठिन है। ऊपरी उपलब्धियाँ चाहे कौसी भी हो जाएँ, लेकिन जब तक जीवन का परिमार्जन/संशोधन नहीं होगा, तब तक व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र की स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप में उभरना कठिन है।

भगवान् महावीर के उपदेश सारे विश्व के लिए स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक हैं। उनके अनुसार चलने से मानव-समाज को सच्ची स्वतन्त्रता मिलेगी और सर्वत्र शान्ति स्थापित होगी।

— जोधपुर, 15-8-78

(सूक्ति-प्रसंग : पृष्ठ ३६ का शेष)

का जो पद स्थापित किया है, वह आचार्य जवाहरलालजी की प्रेरणा का फल है। हालाँकि तीसरा वर्ग सामने आया है, किन्तु वह क्या करे, कितना करे, कैसे करे — इसे परिभाषित करने का काम अभी बाकी है। इसके खतरे, इसकी सीमाएँ, और इसके फायदे अभी बहुत स्पष्ट नहीं हैं; अतः इसकी स्वस्थ संरचना पर अभी ध्यान देने की ज़रूरत है।

१९३३ ई. में उन्होंने गणित के जरिये समाज-संगठन के तथ्य को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया; जिस तरह और जिस तर्ज में उन्होंने अपनी बात कही थी, वह तर्ज और वह तरह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है।

जीवन की क्षणभंगुरता के तथ्य को जिस गहराई और गंभीरता से उन्होंने १९४२ ई. में कहा, उसे हम एक क्षण को भी विस्मृत नहीं कर सकते।

१८ जून १९४२ को उन्होंने ग्यारह कलमों में अपने जो विचार रखे हैं, वे निखिल मानवता की बहुमूल्य विरासत हैं। इन्हें हम 'मानवता का मेनीफेस्टो' (घोषणापत्र) कह सकते हैं। इसमें वह सब है जो एक मनुष्य को परिपूर्ण मनुष्यता प्रदान करता है और उसे मात्र मानव के स्तर से उठा कर महामानव के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित करता है। पृष्ठ ४४ पर 'नये-नये चोगे : कब तक?' उनके इसी घोषणा-पत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। जो आदमी अपने जीवन की साँझ में यह कह सकता हो कि 'मुझे से भूल हो सकती है। मैं सत्य का गवेषक हूँ। सभी को सत्य ही मानना चाहिये। असत्य के लिए मेरा आग्रह नहीं है। मुझे अपनी बात की अपेक्षा सत्य अधिक प्रिय है।'—भला उसे कौन अभाग्य प्रणाम नहीं करेगा ?



क्या उच्चता का अर्थ
कृतघ्नता है ?

'शूद्र आपके सहायक हैं और आप शूद्रों के सहायक हैं ।
चमार ने जूता बनाया और आपको पहना दिया । क्या यह
आपकी सहायता नहीं है ?

भंगी ने आपका पाखाना साफ किया और आपको बदबू
एवं बीमारियों से बचा दिया; क्या भंगी ने आपकी मदद
नहीं की ? क्या आपकी सहायता का पुरस्कार यह होना
चाहिये कि वह नीचा गिना जाए ? सफाई करके भयंकर
बीमारियों की संभावना को दूर कर देने वाले मेहतर
को नीच

गिनाया क्यों कृतज्ञता की भावना के अनुकूल है ? मानव-
समाज का असीम उपकार करने वाले वर्ग को अस्पृश्य,
घृणास्पद या नीच समझने वाले लोग अपने को जब उच्च-
वर्ग का कहते हैं तो समझ में नहीं आता कि उच्चता का
अर्थ क्या है ? क्या उच्चता का अर्थ कृतघ्नता है ?

धर्मपाल-अभियान : तथ्यों का विहंगावलोकन

परिकल्पना : २२ मार्च १९६४; ग्राम-वनवना (मालवा, मध्यप्रदेश) ।
सूत्रपात : २३ मार्च १९६४; ग्राम-गुराड़िया (मालवा, मध्यप्रदेश) ।
प्रवर्तन : आचार्य श्री नानालालजी महाराज; पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की वन्दना के साथ सहज स्फूर्त नाम ।

कार्य क्षेत्र : मालवा, मध्यप्रदेश; लगभग ३०० वर्गमील में विस्तृत क्षेत्र ।
ग्राम-संख्या : ६०० ।

प्रमुख जिले : उज्जैन, रतलाम, धार, मन्दसौर, शाजापुर, देवास, इन्दौर ।
संबंधित जन : बलाई; लगभग एक लाख ।

'धर्मपाल' शब्द का अर्थ : जो अपने दोष स्वयं देखे और उन्हें दूर करे तथा एक अहिंसक/व्यसनमुक्त, सादगी/संयम पूर्ण जीवन के लिए संकल्पवद्ध हो ।
लक्ष्य : संयम, ममता, सादगी, सुसंस्कार (व्यसन-मुक्ति/व्यसन सात हैं—जुआ, मांस, शराब, चोरी, परस्त्री-गमन, वेश्या-गमन, शिकार का त्याग); सुस्वास्थ्य तथा स्वच्छता के लिए जन-जागृति ।

धर्मपाल-सम्मेलन : १९६४/चीकली, १९७३/जावरा, १९७५/दिशनोक, १९७६/नोखामंडी, १९७९/इन्दौर ।

धर्मपाल शालाएँ : ११ छात्र/१९६९, २२ छात्र/१९७३ ।

धर्मपाल नवयुवक रैली : नव. १९७४, अक्टू. १९७६, जन. १९७८ ।

चिकित्सा-शिविर : १९७५/बदनावर ।

धर्मपाल प्रशिक्षण शिविर : १९७५/मक्सी ।

क्षेत्रीय धर्मपाल-सम्मेलन : दिस. १९७५/नागदा-खाचरौद; जून १९७६/नागदा ।

धर्म-जागरण पद-यात्राएँ : अप्रैल/१९७५, मार्च/१९७६, अप्रैल/१९७८, मार्च/१९७९, मार्च/१९८० ।

धर्मपाल स्नेह-सम्मेलन : १२ जन. १९७६/सरसी, १६ जन. १९७६/खोबरा, १८ जन. १९७६/शिवपुर रामपुरिया ।

धर्मपाल स्वास्थ्य-परीक्षा : मई १९७६/मक्सी ।

धर्मपाल शिक्षक प्रशिक्षण शिविर : मई १९७६/मन्दसौर, मई १९७७/रतलाम ।

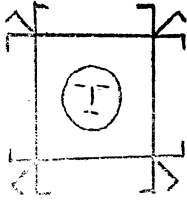
कार्यकर्ता प्रशिक्षण शिविर : सित. १९७८/रतलाम ।

धर्मपाल जैन छात्रावास : दिलीपनगर, रतलाम/७ जुलाई १९७९ ।

समाज-रचना के पाँच सूत्र : धर्मेश मुनि/गुराड़िया/२६ फर. १९७९—
एक/आत्मशुद्धिकरण (अविकृतिकरण); दो/व्यसन-मुक्त जनों से सामाजिक संबन्ध; तीन/मासिक अगता (संपूर्ण जीवहिंसा का संकल्प); चार/आपसी विवादों के निराकरण के लिए धर्मपाल-पंचायतों की स्थापना; पाँच/अहिंसक समाज-रचना के लिए भरपूर कोशिश ।

धर्मपाल युवा-शिविर : जून १९८०/रतलाम ।

धर्मपाल दिवस : २३ मार्च ।



धर्मपाल-अभियान : अन्धे-अभिषप्त गलियारों में रोशनी की चन्दन-सी बौछार

जब हम साधुमार्गी जैन संस्कृति पर विचार करने को होते हैं तब हमारा ध्यान उन गाथा-पंक्तियों की ओर जाता है, जो जातिगत संदर्भ में आज से हज़ारों साल पहले भारत के आकाश में पूरे बल से गूँजी थीं।

वह भगवान् महावीर और अमिताभ बुद्ध का जमाना था।

मूल शब्द जो भी रहे हों; किन्तु उनके भीतर जो भावना निहित थी वह इतनी बागी, उत्तेजक, मंगलमय, और पतित-पावनी थी कि आज भी आधुनिक विज्ञान की बुनियाद लिये खड़ी नयी समाज-व्यवस्था के बीच हम उसके रोमांच का जीवन्त अहसास करते हैं।

उत्तराध्ययन के २५ वें अध्ययन की ३१ वीं गाथा में जो सामाजिक क्रान्ति धधक/धड़क रही है उसे हम बहुत साफ-साफ सुन सकते हैं। जब कोई युगपुरुष कह रहा हो कि

बाह्यण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसी निकम्मी संज्ञाएँ 'जन्मना' नहीं 'कर्मणा' अर्थवान् होंगी तब वह सचमुच बदल रहा है उन खोखले-जर्जर आधारों को जिन पर आ खड़ी हुई थी हमारी संपूर्ण व्यवस्था।

व्यवस्था चाहे जितनी उपयोगी हो किन्तु जब उसके इर्दगिर्द क्षुद्र स्वार्थों का कूड़ा-करकट आ जमा होता है तब उसकी धार कुण्ठित हो जाती है, उपयोगिता घट जाती है, और फायदे क्षीण हो जाते हैं।

महावीर ने कहा—'कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ। वइस्सो कम्मुणा होइ सुदो हवइ कम्मुणा ॥'

उन्होंने ये शब्द संस्कृत या किसी स्थापित/क्लेश-क्लिष्ट भाषा में नहीं कहे वरन् अन्तिम आदमी की भाषा में पाँव-पैदल चल कर गाँव-गाँव/डगर-डगर कहे।

इन दर्जन-भर शब्दों की आँच में किसी भी समाज-व्यवस्था की काया पलट सकती है। आज भी जीवन के किसी भी क्षेत्र पर आँख डालिये लगेगा आपको कि वहाँ भी पुश्तैनी धाक और धन्धेबाजी चल रही है। महावीर ने पूरी बुलन्दी से कहा – पुश्तैनी कहीं कुछ नहीं है। जन्म किसी एक खास घर या घराने, कुल या कुनबे में हो जाने से कोई शख्स छोटा या बड़ा, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ नहीं हो सकता; न ही उसे कोई सामाजिक दर्जा इसलिए मिल सकता है कि उसने फलाँ घर/घराने, कुल/वंश में जन्म ले लिया है— ये सारी कसौटियाँ खोटी और अविश्वसनीय है। खरी और सच्ची कसौटी है आचरण, कर्म।

जिसका जैसा कर्म होगा उसी से वह छोटा या बड़ा, ब्राह्मण या शूद्र कहलायेगा। मतलब साफ हुआ इसका कि

कोई भी व्यक्ति साधु बन सकता है। तप कर सकता है। शास्त्राभ्यास कर सकता है। कहीं कोई बंदिश नहीं है। समाज के सारे बन्द द्वार ऐसी ही युगान्तरकारी विभूतियाँ खोलती हैं।

भगवान् महावीर की सब में बड़ी देन यही है कि उन्होंने धर्म और दर्शन के तमाम द्वार, झरोखे, उजालदान 'अन्तिम आदमी' के लिए खोल दिये और उसकी चेतना को अन्धविश्वासों और साम्प्रदायिक बेड़ियों से मुक्त कर दिया। उस एक-अकेले महा जन ने संपदा और सत्ता को चुनौती दी और एक मानवीय दृष्टि की स्थापना की। वह न सिर्फ मानवतावादी था वरन् एड़ी-से-चोटी तक प्राणिमात्र के कल्याण के प्रति समर्पित था।

साधुमार्ग का 'धर्मपाल-अभियान' भी एक इसी तरह का अभियान है, जो युगयुगों से दलित-दमित/पतित-पीड़ित मानवता के लिए प्रगति और मुक्ति के द्वार उन्मुक्त करता है। वह जैन समाज जो शास्त्रों में तो उदार था, किन्तु मैदान में उदारता की क्या शकल हो इसे नहीं जानता था उसे इस अभियान ने एक नयी दिशा और एक नया जीवन-दर्शन दिया। इसमें-से फिर एक बार वही झंक्रत हुआ जो महावीर के युग में कभी सुनायी दिया था।

भगवान् महावीर ने जैन धर्म/दर्शन के द्वार जन-जन के लिए खोल दिये थे। उन्होंने समता और समन्वय, माध्यस्थ और मैत्री के माध्यम से जैन समाज की सीमाओं को विस्तृत, और दुराग्रहों को खत्म किया। लोगों को महसूस हुआ कि धर्म का काम शोषण नहीं है बल्कि जीवन को उज्वलताओं की ओर ले जाना है। उसका काम शुरू होता है झूठ और मिथ्यात्व से हट कर सत्य और सत्यक्त्व के रणांगण में। जैन तीर्थंकरों ने वह नहीं किया जो हमारे आज के नेता और तथाकथित साधुजन कर रहे हैं बल्कि उन्होंने अपनी समकालीन समस्याओं को पूरी समवेदना से समझा और तदनुसार कोई

मार्ग बनाया, निर्धारित किया ।

ऐसा नहीं किया कि प्रवचन कुछ दिये और आचरण में कुछ और ही प्रकट किया ।

महावीर महावीर ही इसलिए थे चूँकि उन्होंने धर्म का बहुत सीधा-सादा ग्रंथ लिया कि 'जो बोलो उसे ही आचरण में खोलो और जो करो उसे तोल लो कि क्या वह ऐसा/इतना संतुलित और खुला है कि जिस पर कोई अँगुली न उठा सके?' उन्होंने अपने 'शब्द' और अपने 'कर्म' के बीच न तो कोई दीवार रहने दी और न कोई खाई। वे निरन्तर करते गये और निरन्तर होते गये ।

उनका समूचा जीवन तीर्थ बना । हिमालय बना । गंगा बना । समंदर बना ।

उन्होंने दूसरों के तिरने के लिए एक सम्यक् डगर बनायी । वे उदात्तों में उदात्त थे । वे सर्वोच्च थे । वे पावन थे । पतित-पावन थे । गहरे थे ।

विस्तृत थे । क्या धर्म या धार्मिक अब इतना बहुआयामी रह गया है ? क्या

आज हम उतने उदार और सहिष्णु, असंकीर्ण और निर्विघ्न हैं ? क्या आज हम एक अप्रत्याशित तंगदिली के दौर से नहीं गुज़र रहे हैं ?

छोड़िये उन लोगों को जो जैन नहीं हैं ; किन्तु जो जैन हैं, किसी गण-गच्छ के हैं क्या उनके प्रति हमारे मन में कोई भाईचारा/बन्धुत्व शेष है ?

महावीर-वाणी को पारदर्शन के लिए एक्स-रे के आगे खड़ा करने की जरूरत आज है, ताकि हम देख सकें कि हम कितने खोटे और कितने खरे हैं और

हमारी प्रशस्तियाँ और हमारी निन्दाएँ कितनी वस्तुनिष्ठ/सम्यक् या रागरंजित/असम्यक् हैं ?

साधुमार्गी समाज में अभी वह दम है जो अन्यों में नहीं है ; किन्तु बगल से

झाँकती यह सचाई भी है कि यदि इस समाज में भी शिक्षा का प्रसार उस तीव्रता और तेजी के साथ नहीं हुआ जो अपेक्षित है तो वह भी उसी सड़क पर आ खड़ा होगा जिसे वह दूसरों के लिए अनुपयुक्त बता रहा है ।

हम जिस धर्मपाल-अभियान की बात करने जा रहे हैं वह एक ऐसा लोककल्याण-

कारी अभियान है जो समूचे जैन समाज को ही नहीं अपितु भारतीय समाज

को धन्य करता है । धर्म का अर्थ ही मंगल, शिवम्, कल्याण, स्वस्ति, और

व्यापक भलाई है । धर्म का एक अर्थ कर्तव्य भी है । जो धर्म मनुष्य में प्राणि-

मात्र के लिए मंगल कामना को जन्म नहीं देता या जो समता और सम्यक्त्व

की भावना उत्पन्न नहीं करता अथवा जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के मन्त्र को

उसकी रग-रग में नहीं फूँकता हम भला उसे धर्म कैसे कहेंगे ?

एक ऐसे विचारक ने जो 'धर्मपाल' शब्द से अपरिचित था और जिसका देहावसान हो चुका है इस शब्द की बहुत सटीक/स्वस्थ व्याख्या की है । उसने कहा है :

'धर्म-पालन का अर्थ है अपने दोषों को दोष समझ लेना और धर्म-पालक या धर्म-पाल वह है जो अपने दोषों को दोष समझ रहा है ; ऐसा नहीं कर रहा

है वह कि यदि कोई उसके दोषों को दोष कह रहा है तो वह उस पर तमतमा रहा है बल्कि वह समझ रहा है साफ-साफ कि असन क्या है और वि+असन (व्यसन) क्या है? आहार क्या है और विकृत आहार क्या है ?'

जो इस भेद को समझ रहा है और उसे अपने जीवन में प्रकट कर रहा है वह है 'धर्मपाल'।

धर्मपाल कोई 'बलाई' ही हो यह जरूरी नहीं है, वह 'जैन' भी हो सकता है। क्या कोई जैन अपने दोषों को दोष देख कर उन्हें छुपाने या अनालोचित या अनालुछित छोड़ने/खने का प्रयास करेगा? यदि करेगा तो वह तत्क्षण जैन ही नहीं वरन् मनुष्य ही ठीक से नहीं रह पायेगा।

आइये, हम चलते हैं साधुमार्गी समाज के इस रचनात्मक अभियान की अँगुली पकड़ कर अतीत में चौबीस सौ वर्ष पूर्व।

यह वैयाकरण पाणिनी का युग है — उस पाणिनी का जिसने 'अष्टाध्यायी' की रचना की और भारतीय मेधा/प्रज्ञा की तेजस्विता को विश्व में स्थापित किया। 'अष्टाध्यायी' केवल व्याकरण ही नहीं है, वह समाज और व्यक्ति के अंतरंग और बहिरंग की स्पष्ट व्याख्या भी है। वह इतिहास का व्याकरण भी है। उसके सूत्र न सिर्फ व्यक्ति की वाणी पर अनुशासन करते हैं वरन् वे उसके सामाजिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व का व्याख्यान भी करते हैं।

पाणिनीकालीन भारत अपूर्व था। उसकी अपनी परम्पराएँ थीं।

उस समय भी 'वर्ण' और 'जाति' शब्द प्रयुक्त थे।

वर्ण के कई अर्थ हैं। वर्ण मामूली शब्द नहीं है। वह सदियों से स्निग्ध होता हुआ खूब चिकना और रंगबिरंगा हो गया है।

वर्ण का अर्थ वर्ग/समुदाय तो है ही, उसका अर्थ लेटर/हर्फ भी है। रंग भी उसका एक अर्थ है।

वर्ण-आश्रम भारतीय जीवन के अभिन्न अंग थे। वे हमारी जीवन-शैली के नियामक तत्व थे।

दिगम्बरों में जो 'वर्णी' पाये जाते हैं, वे पाणिनीकालीन परम्परा के अवशेष हैं।

'वर्णी' का अर्थ एक जानवान् ब्रह्मचारी है। पाणिनीकालीन भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी 'वर्णी' कहलाते थे। यह एक व्यवस्था थी।

वर्णी यानी ज्ञानी भी होता है। वर्णी अर्थात् वह व्यक्ति जिसने वर्ण को, उसकी तमाम छबियों और रंगतों में समझ लिया है। जो वर्ण के सारे वर्ण (रंग) जान चुका है और जीवन में उन्हें प्रकट करने की चेष्टा कर रहा है वह है

वर्णी। बहुत कम शब्दों में, रंगों का गणितज्ञ वर्णी है।

जैनधर्म का संपूर्ण ढाँचा रंगों पर (बैरंगों पर नहीं) खड़ा है। णमोकार मन्त्र, ध्यान, लेश्या सारे रंगविज्ञान/मनोविज्ञान की नींव पर अवस्थित हैं।

पाणिनी के युग में, जो महावीर से कुछ बाद का युग था, जातियाँ बहुत थीं; किन्तु वर्ण चार ही थे।

और ये वर्ण उपजे कहाँ से? कभी ध्यान गया आपका कि जब भगवान् आदिनाथ ने वर्ग-विभाजन किया तब सेवा का जो महत्त्वपूर्ण काम एक वर्ग को सौंपा गया वह उसे किस तरह सौंपा गया?

क्या कोई वर्ग या व्यक्ति यूँ ही मान ले सकते थे उनकी यह बात कि उन्हें समाज का मैला/उसकी गंदगी साफ करने का काम करना है? क्या उस परम योगी ने उस समय कोई गुलाम-प्रथा खड़ी की थी? नहीं, ऐसा नहीं था। जो लोग समाज में सर्वश्रेष्ठ थे उन्होंने गाँव/शहर को साफ-सुथरा/स्वच्छ-सुन्दर रखने की जिम्मेवारी स्वेच्छा से स्वीकार की थी।

आप ही सोचें कि जो लोग स्वयं गंदे, मैले-कुचेले और अस्वच्छ हों और जिनका मन-मानस कलुषित हो क्या वे किसी ग्राम या नगर या समाज को साफ-सुथरा रख सकते थे/हैं? जिसे हम शूद्रवर्ण कहते हैं वह भगवान् आदिनाथ के युग में श्रेष्ठतम लोगों का स्वेच्छया बना वर्ण (संगठन) था, जो स्वच्छता के शास्त्र को गंभीरता से जानता था और जो वास्तु तथा स्थापत्य से वाकिफ था।

भगवान् आदिनाथ के युग में शूद्र या हरिजन होना एक विशिष्ट कार्य और सम्मान था। हरिजन, जिन्हें हमने किसी सामाजिक आवेश में एक निचला दर्जा दिया, भगवान् आदिनाथ के जमाने में स्वास्थ्य और स्वच्छता के विशेषज्ञ थे। चूँकि आज हम सब उस वर्ण-विज्ञान को भूल गये हैं

अतः हमारी आँखों पर गहन भ्रम छा गये हैं, और हम उस धुएँ-धुन्ध/कलुष-कल्मष को धो नहीं पा रहे हैं जो युगयुगों से पत-दर-पत जमता रहा है। ध्यान रहे, साधुमार्गी समाज का धर्मपाल अभियान/आन्दोलन इस धुन्ध के समाधान का एक ऐसा नवोद्घोष है जिसे और-और समाजों को भी अपनाना चाहिये।

पाणिनी के युग में एक और संस्था का विकास हुआ था। यह संस्था शिक्षण का काम करती थी। उन दिनों शिक्षण-संस्थाओं को 'चरण' कहा जाता था— 'चरण' का अर्थ तब 'आचरण' था। शिक्षण-संस्थाएँ छात्रों में, चाहे वे किसी भी वर्ग-वर्ण के हों, आचरण की गरिमा, उसकी मर्यादाएँ और गहराइयाँ उत्पन्न करने का प्रयत्न करती थीं। प्रसन्नता की बात है कि रतलाम और कानोड़ की शिक्षण-संस्थाओं ने इस ओर ठोस कुछ किया है। वहाँ धर्मपालों के

आवासीय शिक्षण की विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि साधुमार्गी समाज में धर्मपाल-समूह एक अलग से टापू नहीं है बल्कि वह उसकी एक अभिन्न सर्जनात्मक प्रवृत्ति बन चुका है— वह समत्व और समन्वय का प्रतीक है, किसी अलगाव या स्वार्थ या नामवरी की हवस का प्रतीक नहीं है; हाँ, कालान्तर में यदि ऐसा कुछ होता है तो वह हम सबके लिए एक बहुत बड़ा धक्का/भूचाल होगा, जो उसकी तमाम साधना और तपश्चर्या को ध्वस्त कर डालेगा। पाणिनीकालीन चरण अध्ययन के लिए बनीं संस्थाएँ होते थे, जिनके अध्यक्ष 'आचार्य' कहलाते थे।

यह सारी व्यवस्था सुदीर्घकाल तक चलती रही; किन्तु विदेशियों के आने से हमारा स्वाभाविक सामाजिक ढाँचा गड़बड़ा गया — असंतुलित हो गया। हम सोच ही नहीं पाये कि विदेशियों को क्या नाम/सम्बोधन दें? यद्यपि हमने उन्हें पचाया, तथापि हमारा पाचन-तन्त्र इस अचानक आये बोझ से चरमरा गया।

मैं स्टीफन फ्यूक्स की वियाना से १९५० में प्रकाशित 'द चिल्ड्रन ऑफ हरि' के सफ़हे पलट रहा हूँ और बलाइयों की सामाजिक संरचना को अधिक गहराई से जानने/समझने की कोशिश कर रहा हूँ।

इस बीच गाँधीजी का 'हरिजन' शब्द भी मेरी देहलीज़ पर आ खड़ा हुआ है और संतों की इस पंक्ति ने भी दरवाज़ा खटखटाया है कि 'हरि को भजै सो हरि का होई। जात-पाँत पूछै नहि कोई।।'

यह लाइन जाने-अनजाने 'उत्तराध्ययन' की इस पंक्ति से टकरा गयी है कि 'कम्मूणो बम्भणो होई'। असल में मध्ययुग के संतों की स्वस्थ मानसिकता और महावीरकालीन संतुलित मानसिकता में बहुत बड़ी संगति है। दोनों में एक ही प्राण धड़क रहे हैं।

मेरा ध्यान संतों पर तो है ही; किन्तु दो-तीन ऐसी महान् विभूतियों पर भी है जो हमारी इस सरज़मीं पर तो नहीं हुई; किन्तु हवा, बादल, और धूप में-से छन कर जिन्होंने हमें छुआ और हमने जाना इस वैश्विक छुहन में कि दुनिया में ऐसे लोग भी हुए जो उठे दलितों-पतितों में-से किन्तु अनगिनत पीड़ाओं और जुल्मों में हो कर भी वे पूरी दुनिया के लिए जिये। उन्हें अपने जमाने की झूठ को चुनौती देने के लिए और सत्य के रू-ब-रू होने के लिए क्या नहीं करना/झेलना पड़ा?

सुकरात (४६९-३९९ ई. पू.) ने स्थापित व्यवस्था को कैसे ललकारा और उसमें-से पैदा अत्याचारों को किस तरह सहा-भोगा— है कोई मिसाल वैसी हमारे सामने?

वह चिन्तक था। पत्थरों की जुड़ाई करने वाला राज – किन्तु उसने जिस तरह सोचा उसके उस तरह सोचने में तत्कालीन सड़ी-गली समाज के कर्णधारों को चिन्ता में डाल दिया। आखिर को उसे ज़हर पिलाया गया और मार डाला गया।

ध्यान रहे जो भी सत्याग्रह करेगा – सत्य को जानने, तलाश करने, और व्यक्त करने की कोशिश करेगा

उसे विषपान तो करना ही पड़ेगा फिर चाहे वह आचार्य जवाहरलाल के रूप में प्रतिष्ठित हो, या आचार्य नानालाल के रूप में।

दार्शनिक सुकरात की वह सुबह है जिस दिन उसे ज़हर दिया जाने को है – किन्तु यह क्या? अपने दोस्तों के साथ वह निःशंक आत्मा और सत्य के स्वरूप पर चर्चा कर रहा है यह जानते हुए भी कि उसके जीवन का सूरज सूर्यास्त के साथ ही डूब जाएगा!!! ग़ज़ब है: वह आत्मा के स्वरूप पर विचार कर रहा है और अपने अजीब दोस्तों की शंकाओं का समाधान कर रहा है!! कह रहा है सुकरात अपने मित्रों से कि यह भाई जो मुझे ज़हर की घूंट देने आया है उसकी आँखें डबडवाई हुई हैं। इसके आँसू कीमती हैं। क्या मुझे इनकी कद्र नहीं करनी चाहिये? मुझे ज़हर की घूंट इन आँसुओं के कारण ही पीना है चूँकि करुणा ही इस जगत् को जिन्दा रख सकती है।

सुकरात से नीचे आते ही आप मिलें महात्मा ईसा से। वह एक ऐसा आदमी था जिसने अपने युग को चुनौती दी और ललकारा उन लोगों को जो झूठ को ओढ़ कर उसके झूठे साये में जी रहे थे। ध्यान रहे: जहाँ जो भी लोग ऐसे हुए हैं/होते हैं/होंगे उन्हें अपनी अरथी/अपना क्रूस/अपनी सलीब खुद ही ढोनी पड़ी है। पिलातुस कह रहा है: इसे मृत्यु की सजा नहीं दी जा सकती, इसका कोई कुसूर नहीं है। येरूसलेम के लोगों से कहा जा रहा है –

बीहोल्ड, नर्थिंग डिजबर्ड्ड डेथ हेज बीन डन बाइ हिम – इसने ऐसा कुछ नहीं किया है जिसकी वजह से इसे मौत की सजा दी जाए –

किन्तु जिसे जुल्म ही ढाना है उसके सामने न्याय का कोई महत्त्व कैसे हो सकता है?

कोड़े बरसने लगे; कैसे कोड़े, कैंसी चाबुकें? जिनकी चमड़े की बंदियों पर धातु और हड्डियों के पैने टुकड़े गुँथे हुए थे। कोड़ों की मार से लहुलुहान ईसा अपनी सलीब ढो रहा है और उसकी आँखें तलाश रही हैं उस सत्य को जो इन ज्वालामुखियों के बीच मुस्कराता खड़ा है।

उन दिनों यह काली प्रथा थी कि तिरस्कृत/कुसूरवार शक्स को अपना कूस खुद ही ढोना पड़ता था। ढो कर लाये हुए कूस पर रक्तरंजित ईसा को लिटाया गया और उसके हाथ-पाँवों में खीलें ठोक दी गयीं। फिर क्या हुआ, सिर्फ इतना ही कि ईसा के होठ हिले और आवाज़ निकली – 'ईश्वर, तू इन्हें मुआफ़ कर, चूँकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं'। ऐसा कष्ट दृश्य तब सामने आता है जब गाँधीजी से कहा गया कि वे ढेढ़ों के बीच नहीं जाएँगे और वे मंच से कूद कर वहीं जा पहुँचे जहाँ ढेढ़ों का समूह अलग से विठायी गया था। उन्होंने वहीं खड़े-खड़े पूरी सभा को संबोधित किया। उनके 'हे राम' में भी 'ईसा' शंकृत हैं।

इससे पूर्व कि हम 'धर्मपाल अभियान' पर विचार करें देखें कि साधुमार्ग के वर्तमान आचार्य, जिन्होंने नागदा से लगभग चार मील के फासले पर स्थित ग्राम बनबना में इसका सूत्रपात किया, में अतीत की कौन-सी प्रतिध्वनियाँ गूँजीं जिन्होंने इस अभियान की शकल ली।

१९०४ ई. में आचार्य जवाहरलालजी ने इन्दौर में चातुर्मासि किया था और जब लगभग ६० साल बाद उनका उत्तराधिकारी इन्दौर में वर्षावास के लिए आया तो 'बनबना' में क्या बना, क्या अनबना?

'बनबना' शब्द पर ध्यान दें। यों यह एक गाँव का नाम है, पर 'धर्मपाल अभियान' से जुड़ कर इसने एक अद्भुत अर्थ ग्रहण कर लिया है। 'बनबना' में दो शब्द हैं— 'बन' और 'बना'। इन्हें पूर्वापर भी देखिये। 'बना' पहले नहीं है 'बन' पहले है यानी पहले 'बन' फिर 'बना'। जो पहले खुद नहीं बनता, आप ही सोचें, वह भला दूसरों को बनने की प्रक्रिया में कैसे डाल सकता है?

आचार्य नानालालजी जैसे बहुआयामी चिन्तक के सामने 'बनबना' शब्द एक जीवित चुनौती बन कर आया (उनके सामने, उनके साधुओं के सामने और अनुवर्तों श्रमणोपासकों के सामने) कि यदि वे स्वयं योग्य नहीं हैं तो उन्हें कोई हक नहीं है कि वे बनबना से दो मील आगे गुराड़िया से उस अभियान का श्रीगणेश करें जो न सिर्फ उनके लिए चुनौती है, किन्तु स्पृश्यता में आस्था रखने वाले तमाम लोगों के लिए भी एक करारी ललकार है। तो इस तरह गाँव के नाम में-से ही यह बात प्रकट हुई कि जो होगा वह 'कर्मणा' होगा 'जन्मना' को हम आधार नहीं बना सकते। मालवा की धरती के अंतरंग से प्रतिध्वनित हुआ कि यदि तुम इन बलाइयों के जीवन को कोई उत्थान देना चाहते हो तो पहले खुद बनो यानी समाज की मानसिकता को बदलो; उसमें एक नया और स्वस्थ मोड़ लाओ; उसके सम्मुख विचार और आचार का एक नया मानवतावादी आयाम उद्घाटित करो।

२३ मार्च १९६४ को बनबना से दो मील दूर गुराड़िया ग्राम में 'नाना गारुडी' ने एक क्रान्तिकारी मन्त्रोच्चार किया — 'धर्मपाल'।

यह कोई जैन बनाने का आन्दोलन नहीं था; बल्कि सड़े-गले, अंधे-जर्जर सामाजिक मूल्यों पर एक करारा/अचूक प्रहार था—उन लोगों को तेजाब में डालने वाला रचनात्मक आन्दोलन जो 'सामायिक' का अर्थ एकान्त में बैठ कर अपने व्यक्तिगत जीवन को आलोकित करने की निर्जीव कोशिश मानते हैं।

बनबना और गुराड़िया से जिस सामाजिक और नैतिक क्रान्ति का उद्घोष हुआ उसने स्पष्ट कर दिया कि सिर्फ इतना ही नहीं है धर्म का अर्थ कि व्यक्ति ऊँचा उठे, किन्तु उसका अर्थ यह भी है कि वह अपने इर्दगिर्द के दलित-पतित, शोषित-पीड़ित लोगों को भी उठने की हैसियत और हौसला प्रदान करे।

अधिक विस्तार में जाने से पहले हमें उन्नीसवीं सदी में विकसित विचार-धारा को समझने का भी प्रयास करना चाहिये। इस शताब्दी में समाज के कुछ समाज-सुधारकों का ध्यान अछूतोद्धार की समस्या पर गया। उन्होंने देखा कि समाज में कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें किसी भी अन्य अभिजात, रईस, सामन्त, या अमीर की तरह जीने का अधिकार तो है; किन्तु जो दलित-पतित हैं और अपने मूल मानवाधिकारों से वंचित हैं। वे रूढ़ियों और अन्धी परम्पराओं की बेड़ियों में जकड़े चीख रहे हैं और उनके घावों पर मरहम लगाने वाला कोई नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने १८७५ ई. में (जब आचार्य जवाहरलाल (१८७५-१९४३) का जन्म हो रहा था) आर्यसमाज की स्थापना की और छुआछूत के भूत को ललकारा। रामकृष्ण परमहंस का भारत के क्षितिज पर आना एक बहुत बड़ी क्रान्तिकारी घटना है। परमहंस (१८३६-१८८६) ने देशवासियों के आत्मसम्मान पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने कहा— 'हमें मनुष्य-मात्र की सेवा करना अपना धर्म मानना चाहिये'। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने 'दरिद्र-नारायण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और साधुओं को मैदान में आने की चुनौती दी। जब मध्यभारत में उन्होंने कलकत्ते में एक आदमी के भूख से मरने के समाचार को पढ़ा तो अश्रु-विगलित स्वरो में पुकारा— 'हमने, धर्मात्मा प्राणी कहे जाने वाले संन्यासियों ने, जनता के लिए क्या किया है?'

यह घटना १८९२ ई. की है, जब जवाहराचार्य १७ वर्ष के थे और वर्तमान आचार्य को जन्म लेने में २९ वर्ष का समय था।

इतना ही नहीं स्वामी विवेकानन्द ने एक क्रान्तिकारी स्वर को पूरे भारत के आकाश में निनादित/झंकाया— कहा : 'हम उस धर्म के अन्वेषी हैं, जो मनुष्य का उद्धार करे . . . हम सर्वत्र उस शिक्षा का प्रसार चाहते हैं, जो मनुष्य को मुक्त करे। मनुष्य का हित करें ऐसे ही शास्त्र हम चाहते हैं।'

और हम देखते हैं कि 'धर्मपाल अभियान' द्वारा स्वामी विवेकानन्द के ही स्वप्न की अंशपूर्ति हुई है। स्वामी विवेकानन्द से पहले रामकृष्ण ने कहा था— 'मैं जिधर देखता हूँ धर्म के नाम पर लोगों को झगड़ते हुए पाता हूँ . . . एक ही ताल के अनेक घाट हैं। एक से हिन्दू घड़ा भरते हैं वह 'जल' होता है, दूसरे से मुसलमान मशक भरते हैं वह 'पानी' होता है, तीसरे से ईसाई जो लेते हैं वह 'वाटर' होता है? कौसी मूर्खता होगी वह !'

यह सब आचार्य जवाहरलाल और बाद को आचार्य गणेशीलालजी में-से होता-गुजरता नानालालजी में प्रकट हुआ।

हमने प्रस्तुत विशेषांक में जो 'सूक्ति-प्रसंग' और 'सूक्ति-चयनिकाएँ' दी हैं उनमें-से साधुमार्गी समाज की वैचारिक संरचना (बनावट) को समझने का प्रयास किया जा सकता है। कोई भी विचारधारा किसी एक विचारक से नहीं बनती बल्कि वह एक धारावाहिक प्रक्रिया है, जिसके परिपाक में सदियाँ लग जाती हैं।

गाँधीजी (१८६९-१९४८) ने भी समाज की तस्वीर को बदला। उन्होंने वह सब किया जो रवीन्द्र, शरद, बंकिम, ईश्वरचन्द्र, राममोहन आदि कर रहे थे— किन्तु उन्होंने समाज के साथ-साथ पूरे देश की आर्थिक और राजनैतिक तस्वीर को भी सिर-से-पैर तक बदला। उन्होंने अस्पृश्यता को एक नया ही अर्थ दिया। उन्होंने कहा— 'यदि हम भारत की आबादी के पाँचवें हिस्से को स्थायी गुलामी की हालत में रखना चाहते हैं और उन्हें जान-बूझ कर राष्ट्रीय संस्कृति के फलों से वंचित रखना चाहते हैं, तो स्वराज्य एक अर्थहीन शब्दमात्र होगा।' —यंग इंडिया : २५-५-१९२१। लिखा उन्होंने — 'प्रारम्भ में अस्पृश्यता स्वच्छता के नियमों में-से एक थी और भारत के बाहर दुनिया के कई हिस्सों में आज भी उसका यही रूप है। वह नियम यह है कि चीज गंदी हो गयी हो या आदमी किसी कारण गंदा हो गया हो तो उसे छूना नहीं चाहिये, लेकिन ज्यों ही उसका गंदापन दूर हो जाए या कर दिया जाए त्यों ही उसे छू सकते हैं।' —हरिजन : ११-२-१९३३।

लोग समझते थे कि अहिंसा एक वैयक्तिक गुण है; किन्तु उन्होंने उसके मैदानी प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि वह एक अचूक रचनात्मक हथियार है जिसका

इस्तेमाल शोषण और हिंसा पर उतारू किसी भी समूह और सत्ता के खिलाफ सफलतापूर्वक किया जा सकता है। अछूतोंद्वार को ले कर उन्होंने कहा— 'हरिजनों के मामले में तो हरेक हिन्दू को यह समझना चाहिये कि हरिजनों का काम उनका अपना काम है'।

वो बात महात्मा गाँधी ने कही ठीक वैसी ही १९२३ में साधुमार्गीरम्परा के महान् आचार्य जवाहरलालजी ने नासिक में कही। उन्होंने कहा— शूद्र आपके सहायक हैं और आप शूद्रों के सहायक हैं। चमार ने जूता बनाया और आपको पहिना दिया। क्या यह आपकी सहायता नहीं है ?

भंगी ने आपका पाखाना साफ किया और आपको बदबू एवं बीमारियों से बचा दिया; क्या भंगी ने आपकी मदद नहीं की ? क्या आपकी सहायता का पुरस्कार यह होना चाहिये कि वह नीच गिना जाए ? सफाई करके भयंकर बीमारियों की संभावना को दूर कर देने वाले मेहतर को नीच गिना क्या कृतज्ञता की भावना के अनुकूल है ? मानव-समाज का असीम उपकार करने वाले वर्ग को अस्पृश्य, घृणास्पद या नीच समझने वाले लोग अपने को जब उच्चवर्ग का कहते हैं तो समझ में नहीं आता कि उच्चता का अर्थ क्या है ? क्या उच्चता का अर्थ कृतघ्नता है ?'

१९६४ ई. में वर्तमानाचार्य नानालालजी ने उनके इन सारे प्रश्नों का उत्तर 'धर्मपाल अभियान' के रूप में दिया। वास्तव में यह उनकी गुरु-दक्षिणा है, जिसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा।

२२ मार्च १९६४ को, पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ की वन्दना करते-करते उन्हें ऐसा अहसास हुआ कि इस कौम को जो सदियों से दमित-शोषित है 'धर्मपाल' कह कर संबोधित किया जाए। उन्होंने सीताराम (नागदा) के माध्यम से पूरी बलाई कौम को असीसा और उन्हें मनुष्य होने का ताजा-टटका चटखदार अहसास दिया। उस दिन आसमान और धरती दोनों जयघोष से गूँज उठे; लगा, जैसे कोई अभिनव सांस्कृतिक क्रान्ति घटित हुई है। २३ मार्च के सूर्योदय की हर किरण ने गुराड़िया के बलाइयों के अंधे जीवन-गलियारों में रोशनी को जन्म दिया और उन्हें एक नये जगत् में नये उत्साह के साथ पाँव रखने का अवसर दिया। उनके मन में एक नयी समाज-रचना के लिए अदृष्ट ललक जगी और और एक ऐसा बहुमूल्य क्षण उनके जीवन में उपस्थित हुआ जिसमें वे अपने जीवन की समीक्षा कर सकें और आने वाले कल के लिए कमर कस सकें। उन्हें सहसा लगा कि वे दुनिया-की-दौड़ में पीछे छूट गये हैं और उन्हें समय के साथ चलने के लिए पूरी उमंग और उत्साह के साथ तैयारी करनी चाहिये।

आचार्य जवाहरलालजी के सन् १९२३ के ये वाक्य कितने प्रासंगिक और सार्थक हैं— 'शूद्र आपके समाज की नींव हैं। नींव में अस्थिरता आ जाने से महल स्थिर नहीं रह सकता। अगर तुमने शूद्रों को अस्थिर कर दिया— विचलित कर दिया तो तुम्हारे समाज की नींव हिल उठेगी। तुम्हारी संस्कृति धूल में मिल जाएगी।'

मैं 'चिल्ड्रन ऑफ हरि' के आरम्भिक पृष्ठों का अवलोकन कर रहा हूँ और श्रमण संस्कृति के उन्नायकों की ओर टकटकी लगाये देख रहा हूँ, जिनका दायित्व है कि जहाँ-जहाँ मानवता की देह पर छुआछूत या असमानता का कलंक है वहाँ-वहाँ वे पहुँचें और उसे जड़-मूल से उखाड़ फेंकें/प्रक्षालित करें; समता और श्रम के गौरव की स्थापना करें और दुनिया को बतायें कि जो काम १९वीं शताब्दी में अधूरा छूट गया था उसे हम पूरा करने के लिए कटिबद्ध हैं।

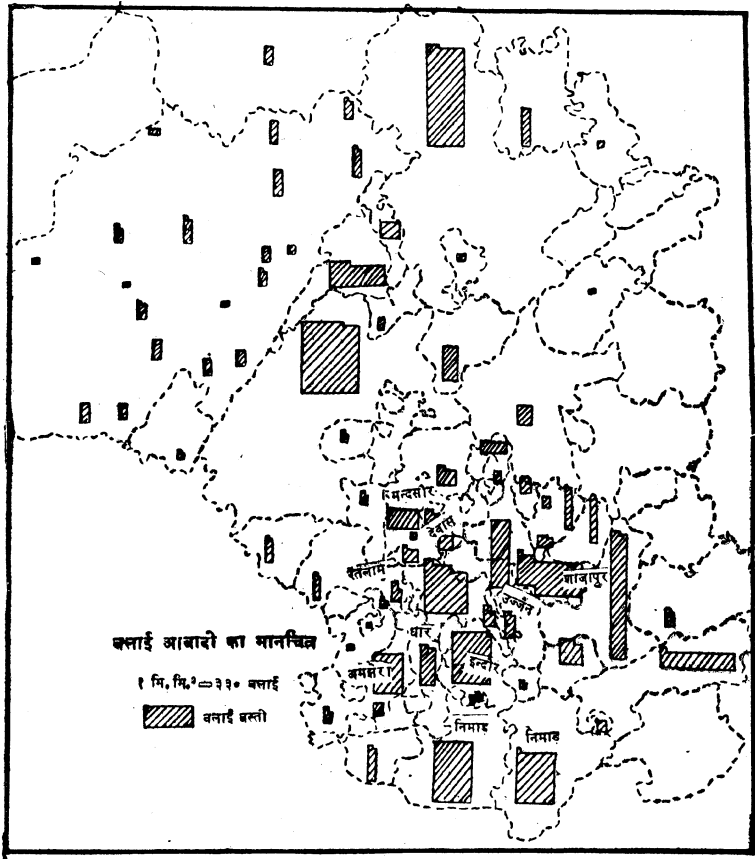
राजनीति जो काम नहीं कर सकती, धर्म को उसे आगे आ कर करना चाहिये। धर्म और सम्प्रदाय दो अलग अस्तित्व हैं। इन्हें मिला कर देखने की भूल नहीं होनी चाहिये। सम्प्रदाय काम रोकता है, धर्म रुके हुए कामों के लिए नये द्वार खोलता है और पाँवों में नयी गति और स्फूर्ति उत्पन्न करता है। जैनधर्म धर्म है, सम्प्रदाय नहीं है।

महावीर और बुद्ध ने पतितों को गले लगाया था। वे उन्हीं की भाषा में उनके द्वार तक गये थे। जो धर्म और दर्शन तिजोरी में बंधक थे उन्हें उन्होंने रिहा किया था और सीधी-सादी भाषा में समाज के 'अन्तिम आदमी' तक उन्हें पहुँचाया था।

उन्होंने चाहा कि यदि संस्कृत के जरिये मुक्त हुआ जा सकता है तो प्राकृत और अर्द्धमागधी जैसी सक्षम लोकभाषाओं के द्वारा भी मुक्ति की मंजिल तक अवश्य पहुँचा जा सकता है। आचार्य जवाहरलालजी ने भी वही किया और वही अब कर रहे हैं साधुमार्गी समाज के वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी।

'चिल्ड्रन ऑफ हरि' में बलाइयों का— पूरे देश के बलाइयों का— व्यापक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, और औद्योगिक सर्वेक्षण किया गया है।

१९३१ ई. की जन-गणना के अनुसार पूरे देश में बलाइयों की आबादी ५,८४,६४८ थी और मध्यप्रदेश में ९७,९९९ अर्थात् लगभग १ लाख। प्रश्न उठता है कि ये बलाई हैं कौन? क्या ये हमारे देश के मूल निवासी हैं या किसी सामाजिक तिरस्कार अथवा अलगव्योझे के विषफल हैं?



भगवान् आदिनाथ के युग में शूद्र या हरिजन होना एक विशिष्ट कार्य और सम्मान था। हरिजन, जिन्हें हमने किसी सामाजिक आवेश में एक निचला दर्जा दिया, भगवान् आदिनाथ के जमाने में स्वास्थ्य और स्वच्छता के विशेषज्ञ थे। चूँकि आज हम सब उस वर्ण-विज्ञान को भूल गये हैं अतः हमारी आँखों पर गहन भ्रम छा गये हैं, और हम उस धुँ-धुन्ध/कलुष-कल्मष को धो नहीं पा रहे हैं, जो युगयुगों से पत-दर-पत जमता रहा है। ध्यान रहे, साधुमार्गी समाज का 'धर्मपाल अभियान/आन्दोलन' इस धुन्ध के समाधान का एक ऐसा नवोद्घोष है जिसे और-और समाजों को भी अपनाना चाहिये।

‘बळाई’/‘बलाई’ शब्द का अर्थ क्या है? कैसे बना यह शब्द?

‘चिल्ड्रन ऑफ हरि’ के विद्वान् लेखक ने बलाई की व्युत्पत्ति ‘बुलाही’ में-से मानी है। उनके अनुसार बलाई वह है जो विभिन्न सामाजिक अवसरों पर गाँव में बुलावे का काम करता है। उन्होंने इसे द्राविड़ शब्द ‘पल्ली’ से निःसृत माना है। राजस्थान में भील के लिए ‘पालवी/पालव्या’ शब्द भी काम में आते हैं। वहाँ भील-बस्तियों को ‘पाल’ भी कहा जाता है। ‘पाली’ राजस्थान का एक प्रसिद्ध ग्राम भी है। इन्दौर-रतलाम के बीच एक स्टेशन है ‘पालिया’।

‘पल’ या ‘पाल’ से ‘बल’/‘बळ’ या ‘बाल, बलाई, बळाई’ (ग्रामवासी) शब्द बन सकते हैं।

‘पू’ अघोष वर्ण है, ‘वू’ सघोष। ध्वनि-परिवर्तन में घोषीकरण होता है, अतः

‘पिल्लै’ से ‘बल्लै’ शब्द बन सकता है; इस तरह बलाई शब्द का सहज अर्थ हुआ ग्रामवासी।

जैनों को द्रविड़ मूल का माना जाता है। बलाई शब्द भी द्रविड़ मूल का हो सकता है? यदि इत्तफाकन ऐसा है तो ‘धर्मपाल’ शब्द काफी सार्थक है।

क्या हम ‘धर्मपाल’ शब्द का अर्थ ‘धर्मग्राम’ नहीं कर सकते?

यद्यपि भाषाविज्ञान और प्रजातिविज्ञान की दृष्टि से बलाइयों के पास ऐसा कुछ अवशिष्ट नहीं है जिसे ले कर यह सब सिद्ध किया जा सके, तथापि कुछ संभावनाएँ हैं जिन्हें ले कर खोजबीन की जानी चाहिये।

मालवा के बलाई मालवी बोलते हैं। वे मूलतः गुजराती हैं। वे ग्रामवासी हैं।

उन्हें धन्धे की दृष्टि से हेटा माना जाता रहा है।

वे कबीरपंथी हैं। कबीर अहिंसक थे। उन्होंने अपने एक पद में ‘बलाही’ शब्द का प्रयोग किया है। संपूर्ण पद-पंक्ति है—

‘खोटो महतौ विकट बलाही, सिरकस दम का पारै।’—कबीर ग्रन्थावली, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, पृ. २७८। अर्थ है— महता (प्रधान) खोटा है, बलाही (बलाधिकृत) विकट है, कोई उनके समक्ष सिरकस (बागी) होने का दम (साहस) कैसे कर सकता है?

यहाँ बलाही का अर्थ ‘बलाधिकृत’ किया गया है। ‘बल+अधिकृत’ सेना का एक प्रमुख अधिकारी होता था; किन्तु मुगलकाल में वह कर/लगान उगाहने (वसूलने) वाला अधिकारी मात्र रह गया।

श्रीकृष्ण के रथ में जुतने वाले एक प्रमुख अश्व का नाम भी ‘बलाहिक’ है। लगता है बलाही/बलाई/बळाई कौम के साथ बल का कोई संबन्ध अवश्य है।

‘बलाई’ शब्द का एक अर्थ ‘काँख-का-फोड़ा’ भी है। यदि बलाई कौम का सावधान सर्वेक्षण हम करें तो कह सकते हैं कि यह या ऐसी ही अन्य जातियाँ समाज की ‘काँख-का-फोड़ा’ ही रही हैं। इस दृष्टि से धर्मपाल अभियान को हम इस फोड़े का स्वस्थ/सामयिक उपचार (शल्य) कहेंगे।

धर्मपाल अभियान की परिकल्पना भले ही आकस्मिक हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह अभियान अत्यन्त लोकोपयोगी है और इसके द्वारा निर्धारित पगडंडियों पर, इसी तरह के अभियान और-और राज्यों में भी चलाये जाने चाहिये ।

प्रस्तुत लेख में जानबूझ कर उन नामों को हम नहीं दे रहे हैं - धर्मपालों के/श्रमणोपासकों के - जिन्होंने इस अभियान को आगे बढ़ाने में समर्पित चित्त से काम किया है, क्योंकि हम मानते हैं कि जो भी काम हुआ है वह अनाम है, किसी नामवरी की कामना से वह नहीं हुआ है ।

ध्यान रहे, अनाम सेवा का जो महत्त्व है, वह सनाम सेवा का नहीं है । वृत्ति आज सनाम सेवा की है; किन्तु हमें यह कहते/लिखते प्रसन्नता है कि 'धर्मपाल अभियान' अनाम सेवा की ओर अपने कदम उठाये हुए है और अब इसकी प्रगति को रोक पाना कठिन है ।

सुखद संयोग है कि जिस तरह १९६४ ई. में साधुमार्ग के वर्तमान आचार्य नानालालजी नागदा के निकट गुराड़िया ग्राम में बलाइयों के बीच रहे

ठीक वैसे ही उनसे ७१ साल पहले इसी मध्यप्रदेश (तब मध्यभारत) में एक भंगी कुटुम्ब के बीच स्वामी विवेकानन्द रहे थे ।

रोमारोलाँ ने लिखा है कि 'उन्होंने निःकृष्टतम जाति के चोर-उचक्कों की संगत की और बटमारों में भी ऐसे पापियों के दर्शन किये जो चाहते तो सन्त हो सकते थे' (विवेकानन्द, हिन्दी-अनुवाद, १९७८, पृष्ठ ७३) ।

ऐसी ही अनुभूति २३ मार्च, १९६४ को आचार्य श्रीनानालाल जी को हुई; इसीलिए उन्होंने कहा कि 'कोई भी व्यक्ति न जन्म से महान् होता है न छोटा । छोटे-बड़े अथवा उँच-नीच का आरोप व्यक्ति के कार्यों-कर्मों के आधार पर होता है । जैनधर्म की यह स्पष्ट घोषणा है कि अपने कुत्सित कर्मों-कार्यों का परित्याग करके कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है । जैनधर्म का सन्देश है कि कोई भी व्यक्ति अपने बुरे कार्यों को छोड़ कर जैन कहलाने का अधिकारी हो सकता है ।'

मूलतः धर्मपाल की संज्ञा उन लोगों के लिए है - चाहे वे जैन हों या बलाई- जो व्यसन-मुक्त जीवन जीने के लिए प्रतिबद्ध हैं ।

व्यसन कितने हैं और क्या हैं इसे आचार्यजी ने बहुत सरल शब्दों में बलाइयों को समझाया । उन्होंने कहा व्यसन सात हैं - जुआ खेलना, मांस खाना, शराब पीना, चोरी करना, परस्त्री-गमन, वैश्यागमन और शिकार । अहिंसा का

संबन्ध तो इनके त्याग से है ही, समाज के नैतिक ढाँचे और उसकी आर्थिक बुनावट से भी इनका सीधा संबन्ध है। समाज में एक स्वस्थ नैतिक वातावरण बने—एक सदाचरणमूलक समाज का उद्भव हो—सप्त व्यसनों के त्याग में यह शुभ सन्देश सन्निहित है।

कल्पना कीजिये : गुराड़िया ग्राम में ७० गाँवों से आये ५३३ बलाई-परिवारों के प्रतिनिधि आचार्य श्रीनानालालजी से मुखातिब हैं और वे उन्हें व्यसन-मुक्त जीवन का मर्म बता रहे हैं। दृश्य रोमांचक है। बलाईजन संकल्प ले रहे हैं और एक जैनाचार्य उन्हें 'अरिहंतो मह देवो जावज्जीवाए सु साहुणो गुरुणो। जिणपण्णं तत्तं, इअ सम्मत्तं मय गहियं ॥' के रूप में समकित' सम्यक्त्व—सही बात को सही परिवेश में समझना) दे रहे हैं। मन्त्रोच्चार के बाद उन्हें 'धर्मपाल' का गौरवशाली संबोधन दिया गया है। सारे दृश्य में उत्साह झनझना रहा है—सांस्कृतिक युगान्तर के इन क्षणों को शब्दों में व्यक्त करना शायद संभव नहीं है। दृश्य जीवन्त है और देहलीज पर खड़ा परिवर्तन जयवन्त। श्रमणोपासकों ने इस बदलाव के अभिनन्दन में अपनी भुजाएँ पसार दी हैं और व्यसन-मुक्ति की गंगा का प्रवाह आक्या ग्राम में आ गया है। यहाँ का दृश्य भी अद्भुत है। ८१ गाँवों के ७६३ परिवार-प्रतिनिधि उपस्थित हैं और व्यसन-त्याग का सुदृढ़ संकल्प ले रहे हैं। कह रहे हैं कि वे न तो मांसाहार करेंगे और न ही शराब पियेंगे। कह रहे हैं कि अब से उनके जीवन में अहिंसा होगी और ब्रह्मचर्य होगा। वे वह सब करेंगे जो देश की और समाज की भलाई में होगा।

जैनाचार्य कह रहे हैं : 'मैं आप लोगों से कोई रुपये-पैसे तथा नारियल आदि की भेंट ले कर पूजा अथवा चढ़ावा लेने नहीं आया हूँ। मैं तो आपसे दुर्व्यसनों की भेंट ले कर आपके सिर पर बलाई यानी नीच जाति के लगे हुए काले टीके को मिटाने आया हूँ। यदि आप कुछ भी भेंट देना चाहें तो बस यही दीजिये; जिससे आपका यह जीवन और आगामी जीवन भी सुखी हो सके। आप इन दुर्व्यसनों से मुक्त हो कर जैनधर्म जैसे महान् धर्म के उपासक भी बन सकते हैं।' इस तरह सामूहिक व्यसन-मुक्त जीवन जीने की जो चेतना २३ मार्च १९६४ को गुराड़िया की भाग्यशालिनी धरती पर अंकुरित हुई वह लगातार फैलती गयी और जिसकी परिधि में लगभग पन्द्रह वर्षों में पूरा मालवा आ गया।

उज्जैन, रतलाम, धार, मन्दसौर, शाजापुर, देवास और इन्दौर के सैकड़ों ग्राम के हजारों बलाई इस रचनात्मक अभियान से प्रभावित हुए और उन्होंने हँसते-मुस्कराते एक व्यसन-मुक्त जीवन जीने का संकल्प लिया।

राजस्थान और मालवा के श्रमणोपासकों ने १९६४ ई. के बाद कई व्यक्तिगत

और सामूहिक दौरे किये तथा गाँव-गाँव में बिना किसी भेदभाव के एक सुखद सांस्कारिक जीवन का शंखनाद किया।

चिकित्सा की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। डॉ. नन्दलाल बोरदिया जैसे राष्ट्रीय ख्याति के चिकित्सक धर्मपाल-प्रवृत्ति से जुड़े और इस तरह चारों ओर एक समता-मूलक जीवन की सुहावनी/पतित-पावनी चाँदनी छिटक गयी।

कहीं, किसी ने ऐसे भेदभाव का अहसास नहीं किया कि 'जैन अलग, धर्मपाल अलग'। ऐसा लग रहा था जैसे सबके बीच किसी महापुरुष ने सामाजिक समन्वय का कोई 'मांगलिक' पढ़ दिया हो—सुना दिया हो।

विगत दस वर्षों में धर्मपालों के बीच कई प्रवृत्तियों को आरंभ किया गया। पाठशालाएँ खोली गयीं। 'समता भवन' बनाये गये। प्रशिक्षण शिविर आयोजित हुए। धर्म-जागरण-पद-यात्राएँ हुईं।

धर्मपाल अभियान की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसने धर्मपालों में झूठा लालच या मिथ्या लिप्सा और होड़ की वृत्ति को नहीं बढ़ाया; बल्कि उसने उन्हें उन्हीं के आत्मवैभव और पुरुषार्थ से परिचित कराया—उन्हें अपने पाँवों पर खड़ा किया। जब उन्होंने निकट से देखा कि जैन लोग, जो व्यसन-मुक्त जीवन बिता रहे हैं, काफी संपन्न हैं, तब उन्होंने भी वैसा किया और अपनी आँखों से देखा/अनुभव किया कि दुर्व्यसनों को छोड़ कर संपन्न हुआ जा सकता है, आत्म-शान्ति हासिल की जा सकती है, और एक तनाव-रहित स्वच्छ जीवन जी कर अपने गाँव को स्वर्ग बनाया जा सकता है।

जनाचार्य नानालालजी के प्रभाव से उनका ध्यान पैसों की ओर न जा कर सुसंस्कारों की ओर गया और आज हम देख रहे हैं कि उन में-से कई लोग संपन्न हैं और अपना-अपना व्यवसाय सफलतापूर्वक/निर्विघ्न कर रहे हैं।

धर्मपाल अभियान जिस सुझबूझ के साथ चलाया जा रहा है उसे देखते लगता है कि जैनों को जहाँ-भी-वे-हैं-वहाँ इस तरह की रचनात्मक प्रवृत्ति का शुभारंभ करना चाहिये और अपने देश की माटी का ऋण चुकाना चाहिये।

ऐसा ही अभियान कभी पश्चिम बंगाल में बड़ौत के स्व. पं. बाबूलाल जमादार ने 'सराकों' के बीच चलाया था (सराक शब्द पर ध्यान दीजिये/ यह वीतराग की तर्ज पर सराग (सराक) से बना शब्द है। सराक को श्रावक का रूपान्तर भी माना जाता है। कहा जाता है कि ये लोग पहले कभी जैन थे—अब नहीं हैं; किन्तु आज भी ये अहिंसा में विश्वास रखते हैं और मांसाहार नहीं करते।)।

आज 'सराक अभियान' की स्थिति क्या है यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु इतना अवश्य है कि जैनों को सामाजिक विषमता को मिटाने के लिए साधुओं के मार्गदर्शन में ऐसा ही उदाहरणीय कार्य करना चाहिये जैसा साधुमार्गी समाज ने ३०० वर्गमील में फैले मालवा के भूभाग में किया है।

रही होंगी इस अभियान की सीमाएँ, कमियाँ, खामियाँ, असफलताएँ – क्योंकि इसका एक अत्यन्त तटस्थ और वस्तुनिष्ठ अहवाल हमारे सामने नहीं है, तथापि जितना/जो भी सामने है उससे यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस कार्य को और अधिक व्यवस्थित किया जाना चाहिये और इसे वहाँ तक विस्तृत करना चाहिये जहाँ सम्प्रदाय-मुक्त मानवता मात्र है।

मदर टेरेसा के आश्रम (शिशु-हृदय/निर्मल हृदय, कलकत्ता) में मरणासन्न व्यक्तियों की शैया पर जब यह तख्ती टँग सकती है कि 'हिअर इज समर्थिग बिउटीफुल फॉर यू' तब निश्चित ही हम अपने भाइयों तक अपनी आत्मीयता को निःसंकोच और पूरी ताकत से विस्तृत कर सकते हैं।

प्रस्तुत विशेषांक में आचार्य जवाहरलालजी तथा वर्तमान जैनाचार्य श्री नानालालजी के प्रवचनों से चुनी हुई कुछ सूक्तियाँ और प्रसंग दिये गये हैं जिन्हें जोड़ कर साधुमार्गी की रचनात्मक मानसिकता की एक प्रेरक प्रतिमा बनायी जा सकती है।

ताज्जुब यह है कि एक ऐसा धर्म-समुदाय, जिसने शिथिलाचार के विरुद्ध ऐतिहासिक सरकसी की थी, पराक्रमपूर्ण धर्मयुद्ध जूझा था और बड़ी दिलेरी से उन सारी अन्धी, सड़ी-गली परम्पराओं को मटियामेट किया था जो एक जैन साधु की गौरव-गरिमा को नष्ट/कलंकित करती थीं, ने एक सार्वभौम (काथलिक) प्रवृत्ति के आन्दोलन का प्रवर्तन किया और उसे सफलतापूर्वक निभाया।

साधुमार्गी श्रमणों की मर्यादाएँ अन्य जैन साधुओं की तुलना में अधिक कठोर, निर्मम और शुद्धतावादी हैं। उनमें कदम-दर-कदम अहिंसा के अप्रमत्त परिपालन का ध्यान रखा गया है और ध्यान रखा गया है ऐसी स्थितियों का जो शील और अनुशासन को कुतर-कतर कर नष्ट कर सकती हैं।

ईसाइयों में जिस तरह काथलिक और प्रोटेस्टेंट दो वर्ग हैं, उसी तरह श्वेताम्बरों में भी दो शिबिर हैं – शुद्धतावादी और सुधारवादी। शुद्धतावादी खेमा सुधारवादी खेमे से असहमत तो नहीं है, किन्तु सुधार-की-बलिवेदी पर वह जैनधर्म की मौलिकताओं की बलि देने से इनकार करता है। आचार्य श्रीनानालालजी का शिबिर जिस समुदाय का नेतृत्व करता है वह शुद्धतावादी है और अहिंसा को अपने हर कदम और कार्य की कसौटी मानता है। वह मानवतावादी, राष्ट्रीय और वैश्विक सदाचार को मान कर भी जैनधर्म और आचार की मूल मान्यताओं— उसके अनुत्तर/आगम-प्रतिपादित स्वरूप पर अविचल है। वह माइक/ध्वनि विस्तारक

का उपयोग नहीं करता, टेपरिकॉडर काम में नहीं लेता, फोटोग्राफी के पचड़े में नहीं है—

वह जहाँ-जहाँ जीव-हिंसा की आशंका है, वहाँ-वहाँ से दूर रहता है नतीजतन आज भी वह सादगी और सरलता में अन्य संप्रदायों से दो पग आगे है। इन सब वर्जनाओं की पृष्ठभूमि क्या है, यह तो हम नहीं जानते (न जानना ही चाहेंगे); किन्तु खादी पहिनना, स्वदेशी वस्तुओं पर जोर देना, यन्त्रों का न्यूनतम उपयोग करना (या कहा जाए उनका बिलकुल ही इस्तेमाल न करना); सादगी की ओर जीवन को अवश्य मोड़ता है। यही वजह है कि

‘धर्मपाल अभियान’ भरपूर सादगी से चला, प्रवर्तित हुआ। यह स्तुत्य है कि उसने संबन्धितों में सत्ता और संपदा की होड़ को जन्म नहीं दिया बल्कि ‘जीवन का परिष्कार हो, व्यसनों को हटाया जाए’ इस पर बल दिया। धर्मपालों को शिक्षित किया। उन्हें नयी रोशनी और वैज्ञानिक उपलब्धियों से परिचित कराया; किन्तु आगाह किया कि परिग्रह की सीमाएँ हैं उसकी अधिकता से जीवन में जटिलताएँ बढ़ जाती हैं।

हमें आशा करनी चाहिये कि यह अभियान भविष्य में भी ‘सादगी और उच्च विचार’ पर जोर देगा और मालवा से निकल कर और-और अंचलों में विस्तृत होगा, तथा गाँधी-की-अहिंसा और महावीर-की-अहिंसा में-से फैल-वन कर राष्ट्र के जीवन में गहरे पैठ गयी प्रदर्शन-की-भूख को कम कर एक स्वस्थ-मुक्त जीवन की जनकांक्षा को जन्म देगा।

हमें विश्वास है जो लोग इस आन्दोलन के सूत्रधार हैं वे तत्त्व-मीमांसा की शुष्कताओं में न फँस कर सेवा के नये-पुराने सन्दर्भों को जानेंगे और जैनधर्म के सम्यक्त्व में परिगणित वात्सल्य, उपगूहन और निर्विचिकित्सा गुणों से प्रेरित हो कर एक नव वैयावृत्य, जिसे हम सामाजिक वैयावृत्य कह सकते हैं, को विकसित करेंगे।

मैं फिर एक बार ‘चिल्ड्रन ऑफ हरि’ के सफहे पलट रहा हूँ और साथ ही देख रहा हूँ :

जुगताराम दवे की लोकप्रिय कृति ‘गाँधीजी’ (१९४१ से १९५२ तक ५०,००० छपी) के पृष्ठ ८१-८३,

तोक्यो (जापान) के बुक्यो देंदो क्योकाई (बुद्धिस्ट प्रमोटींग फाउंडेशन) द्वारा चीनी और अंग्रेजी में १९८२ में प्रकाशित ‘द टीचिंग ऑफ बुद्धा’ का २३५वाँ संस्करण, रोमा रोलॉ द्वारा प्रणीत ‘विवेकानन्द’ (अनुवाद— सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय/ रघुवीरसहाय),

जैनाचार्य जवाहरलालजी की शोभाचन्द्र भारिल्ल/इन्द्रचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित जीवनी और कहीं से स्वस्ति का यह आश्वासन ढूँढ़ रहा हूँ कि देश की आजादी के ठीक सत्रह साल बाद शुरू हुआ यह अभियान दिनोंदिन समृद्ध हो; और बलाइयों में तो वह पूरी ताकत से सक्रिय हो ही- आम लोगों में एक ऐसी जोत प्रज्वलित करे अहिंसा, सत्य और शाकाहार की कि दुनिया में जहाँ-तहाँ मानवता पर हिंसा, झूठ, मांसाहार के काले टीके हों उन्हें धोये और उनके स्थान पर उसके ललाट पर मंगल अक्षत सुशोभित करे।

हमें विश्वास है साधुमार्गी समाज के वर्तमान आचार्य द्वारा १९६४ और इसी संघ/समाज के परम मेधावी आचार्य श्रीजवाहरलालजी द्वारा अनजाने में १९२३ में प्रज्वलित इस नवजागरण की मशाल को समाज का तरुण अपने मजबूत हाथों में लेगा और

सिर्फ पूरे देश में ही नहीं वरन् विश्व-भर में अपने पुरुषार्थ से इसकी अमर ज्योति स्थापित करेगा।

महावीर के इस अजर-अमर वाक्य को कि

'कोई जन्म से नहीं कर्म से ही

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

(मन्त्री, सेवक, अध्यापक, चिकित्सक, अभियन्ता आदि) हो सकता है'

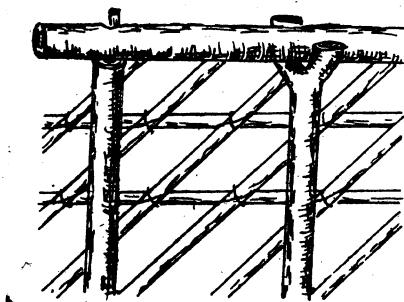
न सिर्फ धर्मपाल या जैन के मनःप्राण में बल्कि पूरी दुनिया के दिलो-दिमाग में

बो देना चाहिये

ताकि देर से ही सही किन्तु समत्व की उस डगर पर हम चल सकें जो

सार्वभौम शान्ति और कल्याण की एकमात्र डगर है।

—प्रलयंकर।



सत्य की सीप में यदि अपने मन, वचन, काय को डाल दोगे तो वे मोती बन जाएँगे। ये ऐसे मोती बनेंगे जो राजा-महाराजाओं के आदर के ही पात्र नहीं होंगे वरन् देवता भी इनकी पूजा करेंगे।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

सूक्ति-शुक्तियाँ

‘सूक्ति’ और ‘शुक्ति’ शब्द सुनायी एक-जैसे देते हैं; किन्तु इन दोनों के मायने अलग-अलग हैं। सूक्ति का अर्थ एक ऐसे मंगलकारी वचन से है, जो जीवन-भर पाथेय की तरह काम दे और जहाँ-जहाँ अँधेरा आये, वहाँ-वहाँ रोशनी दे; किन्तु प्रश्न उठता है कि ये सूक्तियाँ आती कहाँ से हैं/आ कहाँ से सकती हैं।

विभूतियाँ, जिनके जीवन में शब्द और आचरण के बीच द्वैत समाप्त हो जाता है, ऐसी सूक्तियों की जननी होती हैं। ये सूक्तियाँ छाया की तरह साथ चलती हैं और कड़ी धूप में छाँव और कड़ाके की ठंड में धूप का काम करती हैं।

सूक्ति-रचना के पीछे अनुभव, ज्ञान, और चारित्र्य की त्रिवेणी उमंगित रहती है। हमने पृष्ठ ८१ से १२४ तक ३८५ सूक्तियों को संयोजित किया है। हम इसे सूक्ति-सुचयनिका कहेंगे। इनमें-से पृष्ठ ८१ से १२१ तक की ३६० सूक्तियों का संबन्ध जैनाचार्य श्रीजवाहरलालजी से है तथा ३६१ से ३८५ तक की सूक्तियाँ जैनाचार्य श्रीनानालालजी से संबन्धित हैं।

आप यदि चाहें तो ३६० सूक्तियों को अपनी दैनंदिन चर्या का एक अभिन्न अंग बना सकते हैं और इनमें-से हर-एक को प्रतिदिन अपने स्वाध्याय के लिए चुन सकते हैं।

प्रतिदिन प्रातः एक सूक्ति को लें और सोने से पहले तक उसकी जुगाली करें जहाँ भी हों जगत् में/धर में — उसे न भूलें — और देखें कि किस तरह ३६० व दिन आपके जीवन का पूरा नक्शा ही बदल गया है।

आपको लगेगा कि इन सूक्तियों के वाचन-पाचन ने आपके जीवन की दिशा ही बदल दी है। जहाँ एक ओर आप एक अच्छे श्रमणोपासक/सद्गृहस्थ बने हैं, वहीं दूसरी ओर इनके द्वारा आपको एक अच्छे नागरिक और भारतीय बनने का अवसर भी मिला है।

हमारा तो यह दावा है कि यदि इन सूक्तियों को उन बड़े-बड़े पोथों की जगह, जो प्रायः कठिन-क्लिष्ट भाषा में लिखे होते हैं, पढ़ा गया/स्वाध्याय के समय सुनाया गया, और उन पर परिजनों ने मिल-बैठ कर चर्चा की तो निश्चित ही एक ऐसा साधु मार्ग बन जाएगा जो पूरे विश्व का कल्याण कर सकेगा, करने में समर्थ होगा।

सूक्ति के साथ दूसरा शब्द है 'शुक्ति'। शुक्ति की तरह ही एक शब्द बनता है शुक्त। शुक्त संस्कृत की शुच् धातु का बेटा है। शुच् से शुचि, शुचिता, शौच आदि शब्द बने हैं। शुक्त का अर्थ है चमकीला, स्वच्छ, पवित्र और शुक्ति का दीप्ति, दमक, पावनता, स्वस्ति, निश्छलता आदि जो हमारे जीवन को अपवित्रताओं से विविक्त/उदासीन करती हैं और ऐसी राहों पर ले जाती हैं जो कल्याणकारी हैं।

शुक्ति का परम्परित अर्थ सीपी है। कहा जाता है कि स्वाति, जो पन्द्रहवाँ नक्षत्र है, की वृष्टि सीपी के गर्भ में उतर कर मोतियों का रूप धारण कर लेती है। इस तरह कल्याण-कामना और करुणा मिल कर मनुष्य को जो वस्तु प्रदान करती हैं, वह अद्वितीय है। सूक्ति-की-शुक्ति में जब किसी संतत्व का स्वाति-बिन्दु पड़ता है तब चारों ओर मुक्ता-ही-मुक्ता बिखर जाते हैं; मंगल-ही-मंगल, प्रकाश-ही-प्रकाश फैल जाता है।

जो सूक्तियाँ यहाँ दी गयी हैं उनका उद्देश्य यही है कि आप इन्हें अपने स्वाध्याय में सम्मिलित करें और अपने विवेक-की-सीपी में स्वाति नक्षत्र की ज्ञान-वृष्टि पड़ने दें ताकि आपको विचार-के-मोती मिल सकें और आपका जीवन न केवल अलंकृत हो अपितु एक अदृष्ट आलोक में जगमगा उठे।

जो सूक्तियाँ यहाँ चुन कर प्रस्तुत हैं, उनमें-से कुछेक में संतोष जड़िया और कुछ में मधु शर्मा ने अपनी तूलिका से एक नयी उपयुक्तता और सार्थकता को निष्पन्न किया है। जिन सूक्तियों को चित्रांकित किया गया है, वे विशिष्ट हैं और जीवन को एक रचनात्मक बोध देने वाली हैं। इन सूक्तियों के माध्यम से आप अपने भीतर एक ऐसी छवि/एक ऐसी आभा उत्पन्न कर सकते हैं जो आपको ताजिन्दगी काम दे, और तमाम अंधेरों से जूझे। इन्हें चुनते वक्त हमें भी अपूर्व रोमांच हुआ है। जवाहरलालजी-जैसे संत को उनकी संपूर्ण जीवन्तता में छुआ जा सका है। वस्तुतः यदि किसी संत, या साहित्य-मनीषी को छूना हो तो उसे शब्द-में-अनुगुंजित अर्थ में-से ही छुआ जा सकता है। इन सूक्तियों में जो वरदान अलथी-पलथी लगाये बैठा है

वह ठीक ऐसा ही है जैसे कोई संत पद्मासनी मुद्रा में समाधिलीन हो । इन सूक्तियों में-से हर एक को आप ऐसी ही मंगल मुद्रा में देख सकते हैं; अपनी अनुभूतियों और साँसों में ढाल सकते हैं । इन्हें आप अपने एकान्त का; अपने जीवन की निर्जनताओं, भयानकताओं, और आकुलताओं के बीच अपना बहुत ईमानदार साथी मानिये । आदमी/रिश्तेदार/जिन्हें आप बहुत अपना समझते हैं वे — आपको एक बार धोखा दे सकते हैं; किन्तु ये आपके साथ कोई कपट नहीं करेंगी, बल्कि आपकी डूबती नौका का सहारा बनेंगी, और आपको उस तट तक ले जाएँगी जहाँ पहुँचने पर आप एक ऐसे उल्लास का अनुभव करेंगे, जिसकी आप जाने-अनजाने निरन्तर प्रतीक्षा करते रहे हैं ।

साधुमार्गी समाज का भी एक कॉलाजिग इन सूक्तियों में-से संभव है । चूँकि विचार में-से ही व्यक्ति का बोध होता है, अतः इनमें हो कर हम समाज की उन धड़कनों तक जा सकते हैं, जिन्हें वर्तमान आचार्य श्रीनानालालजी जीवन्त किये हुए हैं । साधु या श्रमणमार्ग नया नहीं है । जबसे साधु हैं, तबसे वह है, यानी जब से णमोकार महामन्त्र है, तबसे वह है । ध्यान रहे : संबोधन या अभिधान या नामकरण के साथ ही किसी वस्तु या वृत्ति का जन्म नहीं होता; बल्कि वह संबोधन-से-पूर्व एक अनुभव के रूप में भी प्रकट हो चुकी होती है । जब हम 'णमो लोए सब्ब साहूण' कहते हैं, तब हमारा ध्यान साहूमग्ग की ओर सहज/अनायास चला जाता है ।

किसी भी समाज या समुदाय को हम उस समाज या समुदाय के आदर्श पुरुषों से ही जान सकते हैं । साधु आदर्श पुरुष की संज्ञा है । जिन्होंने अपने आचार में किन्हीं चले आ रहे सम्यक विचारों को आकृत किया है, वे साधु हैं और ऐसे साधुओं द्वारा प्रवर्तित/प्रतिपादित जो मार्ग है वही साधुमार्ग है ।

इस समय सारे जैन समाज में ९,२१६ साधु-साध्वी हैं, जो तीर्थंकर महावीर की परम्परा को चला/मान रहे हैं । इनमें श्वेताम्बर स्थानकवासी, श्वेताम्बर तेरापंथी, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, और दिगम्बर सम्मिलित हैं । साधुमार्गी साधुओं की संख्या अल्प है; किन्तु किसी संख्या का कम होना उसकी गुणवत्ता के कम होने का सूचक नहीं है । संख्या अक्सर वहाँ कम होती है, जहाँ संयम अपनी पूरी श्रेष्ठताओं या निर्ममताओं में या सम्यक्त्व में प्रकट होता है । दिगम्बर साधुओं की संख्या के कम होने का राज भी यही है । साधुमार्ग तलवार की तीखी धार है, जिस पर चाहे जो नहीं चल सकता — एक परम तपोधन ही चल सकता है ।

साधुमार्गी साधुओं की संख्या ४६ है और साध्वियाँ २१९ । इस तरह कुल २६५ साधु-साध्वियाँ साधुमार्गी समाज में हैं । यह प्रतिशत कुल संख्या का २.८ है । जब हम इन तथ्यों का विश्लेषण करते हैं, तब देखते हैं कि साध्वियों की संख्या अधिक है और साधुओं की कम । भगवान् महावीर के युग में भी ऐसा ही था, आज भी वही है — हमें खोजना चाहिये उन कारणों को जो साध्वियों की बढ़ती हुई संख्या की ओर इशारा करते हैं ।

देखा गया है कि जब-जब धर्म का आचार-मार्ग शिथिल हुआ है, कोई-न-कोई क्रान्ति घटित हुई है और कुछ समय के लिए उसने उत्पन्न शिथिलाचार की तेजी को/उसके बढ़ते क्रदमों को रोका है । आचार्य सुधर्मा, देवद्विगण से होती हुई जो आचार्य-परम्परा हम तक आती है, आइये, हम उस पर एक दृष्टिपात करें ।

कहा जाता है अहमदाबाद में ६१ वें आचार्य ज्ञानश्रीजी शास्त्रों की पांडुलिपियों की साल-सँभाल कर रहे थे । इस बीच लोकाशाह नामक एक सर्राफ़ उनसे मिला । लोकाशाह की आँखों में एक युगान्तर था; उनमें अदम्य दीप्ति थी और कुछ कर गुज़रने का स्पष्ट संकेत था । उनकी लिखावट बहुत सुन्दर, मोती-सी, सुपाठ्य और प्रामाणिक थी । उन्हें नागरी लिप्यक्षरों को सावधानी से; किन्तु त्वरा-तरुणाई में लिखने का शौक था । उनसे निवेदन किया गया कि वे जीर्ण-शीर्ण/नष्टप्रायः शास्त्रों के पुनरुद्धार में सहायता करें । वे तुरन्त तैयार हो गये । पुनर्लेखन का काम शुरू हुआ ।

लोकाशाह सर्राफ़ थे । उन्हें सोना-चाँदी के खरे-खोटे की परख थी । वे किसी भी विषय को सामान्य नहीं मानते थे । उस पर पूरी गंभीरता से विचार करते थे; अतः शास्त्र-पृष्ठों को लिखते जाते और उनके अर्थ को अपनी मनीषा में उतारते जाते । अक्षरों की बनावट में गर्भित अर्थ उन्होंने गुना । इस प्रक्रिया में उनका ध्यान तत्कालीन साधुओं के आचार पर गया । उन्होंने देखा कि उनके समकालीन साधु/आचार्य उस तरह नहीं जी रहे हैं, जिस तरह उन्हें जीना चाहिये । वे साध्वाचार की मर्यादाओं से या तो नावाकिफ़ हैं, या फिर उनमें उनकी कोई अभिरुचि नहीं है ।

लोकाशाह के भीतर एक बिजली कौंध गयी । उन्हें लगा कि कोई रचनात्मक क्रान्ति उनकी मनीषा का द्वार खटखटा रही है । किसी तरह साध्वाचार के शुद्धिकरण का कार्य होना चाहिये । उन्होंने शास्त्रोक्त अनगार-धर्म का तफसीलवार अध्ययन किया । उसे अपने स्वाध्याय का

हिस्सा बनाया और ४५ श्रावकों को तदनुसार दीक्षित होने के लिए प्रेरित किया। ध्यान रहे, मध्यकालीन साधु-क्रान्ति का शंखनाद लोंकाशाह की विद्रोहिणी चेतना का ही सर्वोत्तम परिणाम है। लोंकाशाह की इस क्रान्ति को सँभाला लालचंदजी महाराज ने।

लोंकाशाह एक सुघड़/पारंगत वर्णकार थे और लालचंदजी एक संवेदनशील चित्रकार। लोंकाशाह ने समाज की जो रेखाकृति तैयार की, लालचंदजी ने उसमें रंग भरना शुरू किया।

लालचंदजी ७३ वें आचार्य हुए। यह ईसा की उन्नीसवीं सदी का आरम्भ था उनके जो आठ परवर्ती आचार्य हुए उन्होंने उनके द्वारा निरूपित क्रान्ति को एक स्वस्थ आकार देने की कोशिश की।

साधुमार्गी आचार्य-परम्परा का जो इतिहास हमें मिलता है, उसमें आठ आचार्यों की विशिष्ट भूमिका है। साधुमार्गी समाज में इन आचार्यों को ले कर एक अष्टाक्षरी प्रचलित है। यह अष्टाक्षरी चौहत्तरवें आचार्य से ले कर वर्तमान इक्यासीवें आचार्य के प्रथम नामाक्षरों से बनायी गयी है। यह संपूर्ण इस प्रकार है—हु शि उ चौ/श्री ज ग ना।

सर्वश्री हुक्मीचंदजी, शिवलालजी, उदयसागरजी, चौथमलजी/श्रीलालजी, जवाहरलाल जी, गणेशीलालजी, नानालालजी। इन आचार्यों के युग को हम दो कालखण्डों में बाँट सकते हैं : १८०१ से १९०० और १९०१ से १९८७ ई.।

सुविधा के लिए हम इन्हें प्रथम और द्वितीय उत्थान कहेंगे ताकि आने वाले परिवर्तनों को क्रमशः आगामी उत्थानों में रखा जा सके।

आचार्य हुक्मीचंदजी को क्रियोद्धारक कहा गया है। उन्होंने अपने सम-कालीन शिथिलाचार के विरुद्ध शंखनाद किया। क्रान्ति और शुद्धिकरण का विगुल बजाया। उनका जन्म कब हुआ यह अज्ञात है; किन्तु निघन का वर्ष १८६० ई. है। यदि हम उनका जीवन-काल साठ साल का मानते हैं, तो पूरे १८६ वर्ष की साधुमार्गी चेतना के विकास के सूत्र सहज ही हमें इन अष्टाचार्यों की भूमिकाओं में से मिल जाते हैं। लगभग दो शताब्दियों में साधुमार्ग के आचार-विचारगत उतार-चढ़ाव को भी इन आचार्यों के वचनों-प्रवचनों में से देखा-झाँका जा सकता है।

आचार्य हुक्मीचंदजी आत्मल्याणरत एक ऐसे तपोधन थे, जिन्होंने आगम-सम्मत आचार का पुनःसंस्थापन किया। उन्होंने शुद्धताओं पर बल दिया और अनध्यायी या स्वाध्याय में प्रमाद करने वाले साधुओं को आगम के अप्रमत्त स्वाध्याय में प्रवृत्त किया।

उनकी दीक्षा १८२२ ई. में हुई ।

वे धर्म की कथोलिसिटी में आस्था रखते थे । धर्म की मर्यादाओं के अनुपालन में कोई सुस्ती या शिथिलता को उन्होंने कभी नहीं माना । इस तरह, जो कलुष-कल्मष उनसे पहले साधु-परम्परा में संचित हो गया था, उन्होंने उसका प्रक्षालन किया और साधुमार्गी परम्परा को एक नया जीवन दिया । १८६० ई. में उनका देहावसान हो गया ।

उनके बाद आये आचार्य शिवलालजी । उनका जन्म-वर्ष भी अप्राप्य है । उनका निधन १८७६ ई. में हुआ । उन्होंने ज्ञान और क्रिया के मणि-कांचन-योग पर जोर दिया और चतुःसंघ को संयम की प्रेरणा दी । आ हुक्मीचंदजी की तरह वे भी संयम पर अविचल थे अतः उन्होंने अपने साधु-परिकर में ऐसे साधुओं को स्वीकार नहीं किया जो आचार-शिथिल थे या जिनमें किंचित् भी प्रमाद था ।

उनके बाद साधुमार्गी आचार्य-परम्परा के क्षितिज पर आये उदयसागरजी । उनका जन्म १८१९ ई. में और निधन १८९७ ई. में हुआ । वे संयम-साधना में बहुत जागरूक थे । छोटी-छोटी क्रिया के पालन में भी वे पूरी अप्रमत्तता और होशियारी बरतते थे । उनका जीवनादर्श था : विद्वत्ता बाद में, संयम पहले । वे चाहते थे दोनों हाथ-में-हाथ डाल कर चलें; किन्तु विद्वत्ता को शिथिलता का आच्छादन बनने का मौका उन्होंने कभी नहीं दिया ।

आज यह चल पड़ा है । कई वाग्मी/विद्वान् संत-साधु अपनी वाग्मिता या विद्वत्ता का पर्दा अपनी शिथिलताओं और प्रमादों पर डाल लेते हैं और लोकमत/लोकहृदय का शोषण करते हैं । इससे पूरे साधु-समाज में अनाचार फैलता है और चारों ओर एक ऐसी फजा बन जाती है, जो भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित साधु-परम्परा के लिए एक विकराल चुनौती होती है, अतः आचार्य उदयसागरजी ने संयम को शीर्ष महत्त्व प्रदान किया और अपने साधु-परिकर में रेशे-भर भी असंयम को स्वीकार नहीं किया ।

उदयसागरजी के बाद आचार्य चौथमलजी का युग शुरू हुआ । उनका जन्म-वर्ष भी अज्ञात है । देहान्त उनका १९०० ई. में हुआ । इस तरह क्रियोद्धार की जो सदी आचार्य हुक्मीचंदजी से शुरू हुई उसका अवसान आचार्य चौथमलजी में हुआ । हमने इसे प्रथम उत्थान कहा है । यह १८०१ से १९०० तक रहा । इसमें संयम-पर-बल दिया गया । इसे हम 'संयम के पुनरुद्धार की सदी' की

(शेष पृष्ठ १६६ पर)

पहली सीढ़ी

१. दूसरों को कष्ट से मुक्त करने के लिए स्वयं कष्ट सहिष्णु बनो और दूसरों के सुख में अपना सुख मानो। मानव-धर्म की यह पहली सीढ़ी है।



तप : ध्यान की आग

२. तप एक प्रकार की अग्नि है, जिसमें समस्त अपवित्रता, संपूर्ण कल्मष एवं समग्र मलिनता भस्म हो जाती है।

आधार-शिला

३. अहिंसा का पालन करो। जीवन को सत्य से ओतप्रोत बनाओ। जीवन-रूपी महल की आधार-शिला अहिंसा और सत्य हो। इन्हीं की सुदृढ़ नींव पर अपने अजेय जीवन-दुर्ग का निर्माण करो। विलासिता तजो। संयम और सादगी को अपनाओ।

चंचलता का निग्रह

४. जैसे आहार करना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार आहार का

त्याग — उपवास भी, जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक है। उपवास इन्द्रियों की रक्षा करने वाला है। धर्म-सम्पत्ता का संवर्धन साधन है। इन्द्रियों की चंचलता का निग्रह उपवास से ही होता है।

वही तप, तप है

५. जो तप करता है उसकी वाणी पवित्र और प्रिय होती है और जो प्रिय-पथ्य तथा सत्य बोलता है उसी का तप, तप कहलाने योग्य है। तपस्वी को असत्य या अप्रिय भाषण का अधिकार नहीं है। वह सत्य और प्रिय भाषा ही बोल सकता है।

कितनी गंभीर भूल

६. जैसे काल का अन्त नहीं है, वैसे ही आत्मा का भी अन्त नहीं है। यह बात जानते हुए भी दो दिन टिकने वाली चीज के लिए प्रयत्न करना और अनन्त काल तक रहने वाले आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न करना कितनी गंभीर भूल है ?

सत्य नहीं, कुछ नहीं

७. सत्य विचार, सत्य भाषण, और सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य ही उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिस मनुष्य में सत्य नहीं है, समझना चाहिये कि उसकी देह निर्जीव काष्ठ-पाषाण की तरह धर्म के लिए अनुपयोगी है।

जैनधर्म : अनासक्ति-प्रधान

८. जैनधर्म केवल निवृत्ति-प्रधान नहीं है, इसकी प्रकृति अनासक्ति-प्रधान है। जैनधर्म में वेष या बाह्य आचार को वाड़ की तरह सहायक माना है, धान्य का स्थान

वह नहीं ले सकता। वेग मुक्ति का कारण नहीं है।

होना, न होना:

१. अनासक्ति के अभाव में निवृत्ति अकर्मण्यता है। काम-भोगों में मूर्च्छा, गूढ़ि, या आसक्ति का होना संसार का कारण है और न होना मोक्ष का कारण है।

असल में आसान

१०. अक्सर लोग सरल काम को कठिन और कठिन काम को सरल समझ बैठते हैं। यह बुद्धि का विकार है। इसी बुद्धि-विकार के कारण परमात्मा का स्वरूप समझना कठिन कार्य जान पड़ता है; वस्तुतः उसे समझना सरल है।

प्रेम का प्रपात

११. वैर भूल जाओ। परस्पर प्रेम का झरना बहाओ, जिससे तुम्हारा और दूसरे का संताप मिट जाए, शान्ति प्राप्त हो और अपूर्व आनन्द का प्रसार हो।

उसे भुला दो

१२. लेन-देन में, बोल-चाल में, किसी से कोई झगड़ा हुआ हो, मनमुटाव हुआ हो, कलह हुआ हो तो उसे भुला दो। किसी प्रकार की कलुषता हृदय में मत रहने दो।

होली : दीवाली : राखी

१३. चित्त के विकारों की होली जलाओ, आत्मिक प्रकाश की दीपमालिका जगाओ, प्राणिमात्र की रक्षा के बन्धन में बंध जाओ तो इस महामहिमामय पर्व पर्युषण में सभी पापों की समाप्ति हो जाएगी।

धर्म : अंतरंग-शक्ति

१४. धर्म कोई बाहर की वस्तु नहीं है। वह अन्दर से पैदा होती है। खराब

कामों से वचना और सदाचार के साथ संबन्ध जोड़ना ही धर्म है।

दूसरे बल अनायास

१५. कोई भी बल चारित्र-बल की तुलना नहीं कर सकता। जिसमें चारित्र का बल है, उसे दूसरे बल अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

जो करे, वह कराये

१६. जो देता है उसी को लेने का अधिकार है। इसी प्रकार जो सेवा करता है, उसी को सेवा कराने का अधिकार है।

आवरण हटायें

१७. मनुष्य अनन्त शक्ति का तेजस्वी पुंज है। मगर उसकी शक्तियाँ आवरण में लिपटी हैं। उस आवरण को हटा कर विद्यमान शक्तियों को प्रकाश में लाना शिक्षा का ध्येय है।



बोये बबूल, खाये आम ?

१८. अच्छी और सदाचारी संतान उत्पन्न करने के लिए पहले माता-पिता को अच्छा और सदाचारी बनना चाहिये। बबूल के वृक्ष में आम का फल नहीं लग सकता।

ईंट-पत्थरों से नहीं

१६. त्यागी महात्मा का सब से बड़ा स्मारक जो उसके अनुयायी बना सकते हैं, वह है उस महात्मा के कार्य को पूरा करना। ईंट और पत्थरों का बना स्मारक अस्थिर होता है।

आत्मबल : अप्रतिम बल

२०. आत्मबल में अद्भुत शक्ति है। इस बल के सामने संसार का कोई भी बल नहीं टिक सकता। इसके विपरीत जिसमें आत्मबल का अभाव है, वह अन्यान्य बलों का अवलम्बन करके भी कृतकार्य नहीं हो सकता।

चाहिये : सच्चा अन्तःकरण

२१. आत्मबल प्राप्त करने की क्रिया है तो सीधी-सादी, लेकिन क्रिया करने वाले का अन्तःकरण सच्चा होना चाहिये। वह क्रिया यह है कि अपना बल छोड़ दो अर्थात् अपने बल का जो अहंकार तुम्हारे हृदय में आसन जमाये हुए बैठा है उस अहंकार को निकाल बाहर करो। परमात्मा की शरण में चले जाओ। परमात्मा से जो बल प्राप्त होगा वही आत्मबल है।

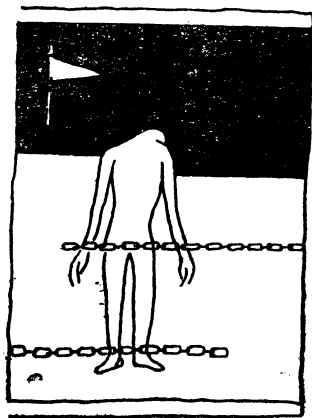
हृदय से देखो

२२. दया का दर्शन करना हो तो गरीब और दुःखी प्राणियों को देखो। देखो, न केवल नेत्रों से वरन् हृदय से देखो। उनकी विपदा को अपनी विपदा समझो और जैसे अपनी विपदा का निवारण करने के लिए चेष्टा करते हो वैसे ही उनकी विपदा निवारण के लिए यत्नशील बनो।

मनुष्यता का अपमान

२३. अन्त्यजों के प्रति दुर्व्यवहार करके आप धर्म का उल्लंघन करते हैं, मनुष्यता का अपमान करते हैं, देश और जाति को

दुर्बल बनाते हैं, अपनी शक्ति को क्षीण करते हैं और अपनी ही आत्मा को गिराते हैं।



स्वाधीनता अनिवार्य

२४. गुलाम और अत्याचार-पीड़ित प्रजा में वास्तविक धर्म का विकास नहीं हो सकता। धार्मिक विकास के लिए स्वातन्त्र्य अनिवार्य है।

देश का पेट

२५. वैश्य देश के पेट के समान हैं। पेट आहार को स्थान अवश्य देता है, परन्तु उस आहार का उपभोग समस्त शरीर करता है। वह सिर्फ अपने लिए ही आहार जमा नहीं करता। वैश्य देश की आर्थिक दशा का केन्द्र है। देश की आर्थिक दशा को सुधारना उसका कर्तव्य है। वैश्यों को आनन्द* श्रावक का आदर्श अपने सामने रखना चाहिये और स्वार्थमय वृत्ति का त्याग कर जन-कल्याण की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिये।

* उपासक दशा-१ का एक प्रसंग जिसमें आनन्द की सत्यनिष्ठा का वर्णन हुआ है।

बर्ताव ऐसा हो

२६. द्वेष उत्पन्न करने वाली सब बातें भूल जाओ और ऐसा बर्ताव रखो जिससे प्रेम की वृद्धि हो ।

मगर सत्य अटल

२७. सत्य एक ईश्वरीय शक्ति है जो विजयिनी हुए बिना नहीं रह सकती । चाहे सारा उलट-पलट जाए, मगर सत्य अटल रहेगा । सत्य को कोई बदल नहीं सकता ।

सत्य की विजय

२८. चाहे विश्व की समस्त शक्तियाँ संगठित हो कर विरोध में खड़ी हों तब भी सत्य को न छोड़ना । किसी के असत्य विचारों की परछाईं अपने ऊपर न पड़ने देना । शास्त्रानुसार और अपने अन्तरतर के संकेत के अनुसार जो सत्य है, उसी को विजयी बनाना । सत्य की विजय में ही सच्चा कल्याण है ।

मूल कारण – संग्रह-बुद्धि

२९. संसार में जो गड़बड़ी मची हुई है, उसका मूल कारण संग्रह-बुद्धि है । यदि आप लोग अपने द्रव्य का यज्ञ कर डालें, 'इदं न मम' कह कर उसका उत्सर्ग कर दें, तो सारी गड़बड़ आज ही शान्त हो जाएगी ।

तपः सौदा नहीं

३०. बहुत से लोग तप करते हैं; किन्तु उनकी अमूक फल प्राप्त करने की आकांक्षा बनी रहती है । किसी प्रकार की आकांक्षा वाला तप एक प्रकार का सौदा बन जाता है ।

संख्या नहीं, गुरुता

३१. साधुता की महत्ता संख्या की विपुलता में नहीं है, वरन् चारित्र्य की उच्चता

और त्याग की गंभीरता में है । उच्च चारित्र्यवान् और सच्चे त्यागी मुनि अल्प-संख्यक हों तो भी साधुपद की गुरुता का संरक्षण कर सकेंगे । बहुसंख्यक शिथिलाचारी मुनि उस पद के गौरव को बढ़ाने के बदले घटायेंगे ही ।

चींटी बड़ी या रेल

३२. एक चींटी चल रही है और एक गाड़ी दौड़ रही है । इन दोनों में बड़ा कौन है ? वैसे तो गाड़ी के नीचे नित्य ही अनेक चींटियाँ दब मरती होंगी । फिर भी चींटी बड़ी है, क्योंकि चींटी चेतन और स्वतन्त्र है । चींटी अपनी शक्ति से एक खड़े पत्थर पर भी चढ़ सकती है, परन्तु रेल नहीं चढ़ सकती ।

समाज की गाड़ी : चले कैसे ?

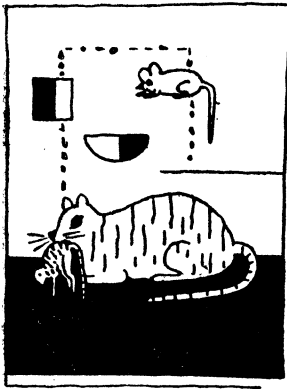
३३. यदि समाज की गाड़ी को सुव्यवस्थित रूप से चलाना है तो सब को अपनी-अपनी जिम्मेदारी समझ कर उसके अनुसार कार्य करना होगा ।

रियायत मत करो

३४. किसी की खुशामद में मत पड़ो । जिसमें त्रुटि हो उसके साथ रियायत मत करो ।

नाम कुछ हो

३५. अपना धर्म न छोड़ने को तो कहा; किन्तु अपना धर्म कौन-सा है ? जैन, वैष्णव, मुसलमान, इसाई आदि सभी अपना-अपना धर्म कहते हैं । शास्त्र भी कहता है कि अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिये; किन्तु धर्म किसे कहना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि जिससे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि की स्थापना हो और झूठ आदि पापों का निराकरण हो, वही धर्म है । चाहे ऐसे धर्म का नाम कुछ भी हो ।



भावना में फरक

३६. बिल्ली अपने बच्चों को जब एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना चाहती है तो मुँह में दबाकर ले जाती है। इसी प्रकार वह चूहों को भी ले जाती है। आप चूहे को छुड़ाने के लिए दौड़ते हैं; किन्तु बच्चों को नहीं छुड़ाने के लिए दौड़ते हैं; किन्तु बच्चों को नहीं छुड़ाने के लिए दौड़ते हैं; किन्तु बच्चों को नहीं छुड़ाने के लिए दौड़ते हैं। इसका कारण यही है कि दोनों जगह बिल्ली की भावना में फरक है। एक जगह हिंसा की भावना है और दूसरी जगह प्रेम की। बिल्ली सब चूहों को नहीं मार सकती, फिर भी वह सब की बैरिन मानी जाती है। इसका कारण यही है कि उसके मन में सभी चूहों के विनाश की भावना समायी हुई है। मन ही पाप का प्रधान कारण है।

लहर : समंदर : मोती : हंस

३७. समुद्र में लहरें तो बहुत आती हैं मगर सब लहरों में मोती नहीं आते; लेकिन मोती चुगने वाला हंस संबन्धित लहरों में-से मोती चुन लेता है।

अमीर गरीब : गरीब अमीर

३८. गरीब की आत्मा में शुद्ध भावना की जो समृद्धि होती है, वह अमीर की आत्मा में शायद ही कहीं पायी जाती है।

प्रायः अमीर की आत्मा दरिद्र होती है और दरिद्र की आत्मा अमीर होती है।

सुख की कुंजी

३९. अज्ञानी पुरुष को जिन पदार्थों के वियोग से मर्मवेधी पीड़ा पहुँचती है, ज्ञानी जन को उनका वियोग साधारण-सी घटना प्रतीत होता है। ज्ञानवान् पुरुष संयोग को वियोग का पूर्वरूप मानता है। वह संयोग के समय हर्ष-विभोर नहीं होता और वियोग के समय विपाद से मलिन नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में वह मध्यस्थ भाव रखता है। सुख की कुंजी उसके हाथ लग गयी है, इसलिए दुःख उससे दूर-ही-दूर रहते हैं।

दूसरों का हक मत छीनो

४०. दूसरे के अधिकार का अपहरण करके यश प्राप्त करने की इच्छा मत करो; जिसका अधिकार हो उसे वह सौंप कर यश के भागी बनो।

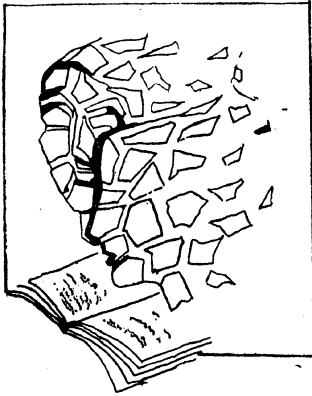
काल की ढाल

४१. माना, काल बदल गया है और बदलता जा रहा है, पर काल ने तुम्हारे अभ्युदय की सीमा तो निर्धारित नहीं कर दी है। काल ने किसी के कान में यह तो कह नहीं दिया कि तुम अपने कर्तव्य की ओर ध्यान मत दो, अपने प्रयत्न त्याग कर निश्चेष्ट बैठे रहो। काल की ढाल बना कर अपनी चाल को छिपाने का प्रयत्न करना उचित नहीं है।

चरित्रहीन ज्ञान

४२. चरित्रहीन ज्ञान जीवन का बोझ है। आज शिक्षा के नाम पर यही बोझ लादा जा रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति

इतनी दूषित हो गयी है कि उसमें चरित्र का कोई स्थान ही प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि हमारे देश की दुर्दशा हो रही है।



वह अकारथ है

४३. जिस ज्ञान से चारित्र्य लाभ नहीं होता, वह ज्ञान निष्फल है — अकारथ है।

झूठ होती है कमजोर

४४. असत्य स्वभावतः निर्बल होता है।

वही होगा सुखी

४५. मनुष्य प्रकृति-विरुद्ध व्यवहार करने के कारण ही पशुओं की अपेक्षा बहुत अधिक परिमाण में बीमारियों का शिकार होता है। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार की अत्यन्त आवश्यकता है। जो प्रकृति के अनुसार चलेगा वही सुखी होगा, वही कल्याण का पात्र होगा।

इन्द्र और ओंकार

४६. 'इन्द्र' का अर्थ है 'आत्मा'। इन्द्रतीति इन्द्रः—आत्मा। इस प्रकार अनेक

स्थलों पर आत्मा के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस इन्द्र (आत्मा) को अहंकार रूपी दैत्य हराता है। तब इन्द्र घबरा कर आत्मबल-रूपी विष्णु से प्रार्थना करता है—त्राहि माम्, त्राहि माम्—मेरी रक्षा करो, मुझे बचाओ। मेरी नैया पार लगाने वाले तुम्हीं हो। आत्मबल अपने विशेष शक्ति-रूप पैर फैला कर स्वर्ग-नरक और पृथ्वी को नाप लेता है। जब आधे की आवश्यकता और रहती है, तब सिद्ध-स्थान प्राप्त कर आनन्द कर देता है। इस रूपक का विशेष खुलासा ओंकार के साथ होता है। ओंकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं।



जैसी प्रजा, वैसी ध्वजा

४७. बलवान् प्रजा में-से बलवान् साधु निकलने की उम्मीद की जाती है। निर्बल और हतवीर्य प्रजा में-से ऐसे ही साधु निकलेंगे, जो दुनिया का कुछ भी भला करने में समर्थ न हो सकेंगे।

सर्वजन हिताय

४८. धर्म सार्वजनिक है — सर्वजन-हितकर है। सभी उसकी आराधना करें

८६/साधुमार्ग विशेषांक

कल्याण-साधन कर सकते हैं। जो धर्म कुछ व्यक्तियों के काम आये, वह अपूर्ण है, संकीर्ण है।

मारने वाला भी हितैषी

४९. जिन्होंने आत्मतत्त्व की उपलब्धि कर ली है, जो आत्मा के सहज स्वभाव में रमण करने लगे हैं, वे मारने वाले को भी उपकारी समझते हैं। उनका मन्तव्य होता है कि हम जहाँ कुछ समय के पश्चात् पहुँचने वाले थे, वहाँ इस उपकारी ने जल्दी ही पहुँचा दिया है।

सौ टंच सोना

५०. जिस मनुष्य के पास सौ टंच का सोना है और जिसे सोने के सच्चे एवं विशुद्ध होने का विश्वास है, क्या वह उस सोने की परीक्षा से भयभीत होगा? अगर कोई आदमी उस सोने को तपाना चाहे तो क्या सोने का स्वामी घबरायेगा?

सत्य होता है निष्कपट

५१. सत्य में क्रोध नहीं होता, सत्य में लोभ नहीं होता, सत्य में भय नहीं होता, सत्य में कपट नहीं होता।

मैं हूँ अमर

५२. जो आत्माराम में रमण करता है, जिसे सच्चिदानन्द पर परिपूर्ण श्रद्धाभाव उत्पन्न हो चुका है, वह मरने से नहीं डरता; क्योंकि वह समझता है कि मेरी मृत्यु असंभव है। मैं वहाँ हूँ, जहाँ किसी भी भौतिक शक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता।

आत्मविश्वास : सब संभव

५३. जिस मनुष्य का आत्म-विश्वास प्रगाढ़ हो जाता है, उसके लिए ऐसा कोई

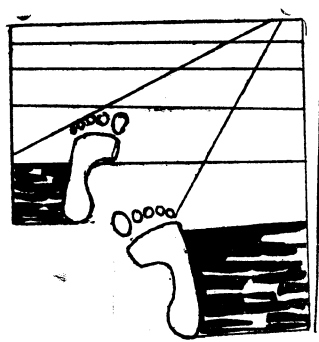
काम नहीं रहता जिसे वह कर न सकता हो। लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी जो काम बखूबी नहीं होता, उसे आत्म-बली बात-की-बात में कर डालता है। आत्मबलशाली के सामने समस्त शक्तियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।

वही सोऽहम्

५४. एकान्त में बैठ कर ध्यान का अभ्यास करोगे तो तुम्हें पता चल जाएगा कि तुम ईश्वर से भिन्न नहीं हो। जो इस उन्नत अचस्था को प्राप्त करता है, वही सोऽहं बन सकता है।

कैसे संभव ?

५५. आप अटसंठ खा कर जीभ की आराधना करते रहें और ईश्वर-पद मिल जाए, यह कैसे संभव है? जब तक इन्द्रियों की गुलामी नहीं छूटती, तब तक ईश्वरत्व की प्राप्ति होना असंभव है।



वीरों में भी बीर

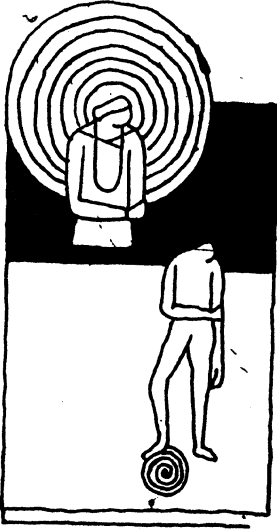
५६. जो क्रमदम आपने आगे रख दिया है, उसे पीछे मत हटाओ, तभी आप विजयी होंगे। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको वीरों-में-भी-वीर बनना पड़ेगा।

चाहो जैसा, करो वैसा

५७. जो स्वयं कटु शब्द नहीं सुनना चाहता, उसे अपने मुँह से कटु शब्द नहीं निकालना चाहिये।

अपने ठिकाने जा पहुँचे

५८. जिनके लिए प्राण-रक्षा ही सब कुछ है, जिन्होंने जीवन को ही सर्वोच्च आराध्य मान लिया है, वे अन्याय बर्दाश्त कर सकते हैं, गुलामी को उपहार समझ सकते हैं और अपने अपमान का कड़वापन भी सकते हैं। वे महाजन जीवन के गुलाब थे, इसी कारण वे लड़ाई के लिए निकल कर भी अपने ठिकाने पहुँच गये।



माया : मालिक : गुलाम

५९. माया का मालिक होना और बात है तथा गुलाम होना और बात है। माया का गुलाम माया के लिए झूठ बोल सकता है, कपटाचार कर सकता है, मगर माया का मालिक ऐसा नहीं करेगा। अगर

न्याय नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रखेगा, अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो निकाल बाहर करेगा।

दृश्य नहीं, दृष्टा

६०. जिसने दृष्टा को देख लिया है, पहचान लिया है, वह दृश्य को सम्मान मिलने पर अपना अपमान मानने के भ्रम में नहीं पड़ता। आज दृश्य के पीछे पड़ी हुई दुनिया उसके लिए अपनी सारी शक्ति खर्च रही है फिर भी सुख की परछाईं तक दिखायी नहीं देती।

स्वयं दृष्टा, संसार नाटक

६१. जो अपने-आपको दृष्टा और संसार को नाटक रूप देखता है, सारी शक्तियाँ उसके चरणों की सेवा करने तैयार रहती है।

दुःख और सुख

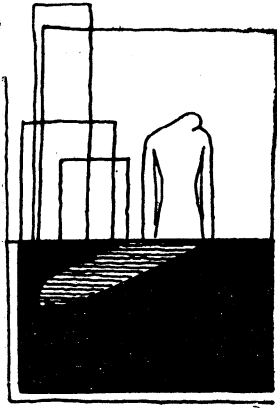
६२. संसार-संबन्धी लालसाओं को बढ़ाना दुःख है और लालसाओं पर विजय प्राप्त करना सुख है।

व्यर्थ व्यय रोकें

६३. व्यर्थ व्यय को बन्द करके आप दीन-दुखियों की मदद कर सकते हैं, भूखों-मरते शरीरों को जीवन-दान दे सकते हैं, देश और धर्म के उत्कर्ष में योग दे सकते हैं।

सार्थकता

६४. अपने मनुष्यत्व को सार्थक करने के लिए जो सब प्राणियों की सेवा करता है, वह देवत्व को प्राप्त करके अक्षय और असीम कल्याण का भाजन बनता है। वह सच्चिदानन्द के सच्चे स्वरूप का ज्ञाता है।



मुख की परछाईं आगे-आगे

६५. ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। उन्होंने समझ लिया है कि अगर कोई अपनी परछाईं पकड़ सकता है तो तृष्णा की पूर्ति कर सकता है। मगर अपनी परछाईं के पीछे कोई कितना ही दौड़े, वह आगे-आगे दौड़ती रहेगी, पकड़ में नहीं आ सकेगी।

स्याद्वाद : अद्वितीय उपाय

६६. स्याद्वाद ऐसी मशीन है, जिसमें सत्य के खण्ड-खण्ड मिल कर अखण्ड अर्थात् परिपूर्ण सत्य को आकृत करते हैं। यदि स्याद्वाद का सम्यक् प्रकार से उपयोग किया जाए तो मिथ्या प्रतीत होने वाला दृष्टिकोण भी सत्य प्रतीत होने लगता है। जगत् के धार्मिक और दार्शनिक दुराग्रहों को समाप्त करने के लिए स्याद्वाद के समान और कोई उपाय नहीं है।

हाथी : गधा : बेवकूफी

६७. जैसे हाथी का बोझ गधे पर लादना मूर्खता है, उसी प्रकार गधे का काम हाथी से लेना भी बेवकूफी है। जो काम

जिसके योग्य हो वही काम उसे सौंपना चाहिये।

खोटा वैराग्य

६८. जिस समय सांसारिक जिम्मेवारी आ पड़े उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो तो समझना चाहिये कि यह खोटा वैराग्य है।

कारगर उपाय

६९. धार्मिक कलह और क्लेश का मूल एकान्तवाद है। जहाँ एक धर्म के अनुयायी ने दूसरे धर्म के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न किया और उसमें रहने वाली आंशिक सचाई को अस्वीकार किया कि कलह का आरम्भ हो जाता है। इस कलह का अन्त करने का अमोघ उपाय स्याद्वाद है। दार्शनिक जगत् में शान्ति-स्थापना का इससे अच्छा और कारगर उपाय दूसरा नहीं है।

विवेक : पहली शर्त

७०. शुद्ध विवेक के बिना हम कल्याण-मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते। विवेक कल्याण-प्राप्ति की पहली शर्त है।

सद्गुण : असली साध

७१. मानव की प्रतिष्ठा, फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उसके सद्गुणों पर अवलम्बित रहनी चाहिये। वही वास्तविक प्रतिष्ठा है। धन से प्रतिष्ठा का दिखावा करना मानवीय सद्गुणों के दिवालियेपन की घोषणा करने के समान है।

अंतरंग लिप्त न हो

७२. भोग भोगते हुए भी अगर आपका अंतरंग उसमें लिप्त न होगा तो यही शक्ति आपके भीतर भी आविर्भूत हो सकती है; फिर निस्सार पदार्थों को त्यागने में आपको कष्ट न होगा। आप परमानन्द प्राप्त करेंगे।



आग : घास : पत्थर

७३. शरीर नाशवान् है, इसलिए विवेकी उसकी रक्षा करता है। जो वस्तु नाशवान् समझी जाती है, उसी की रक्षा की जाती है। अविनाशी वस्तु की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं रक्षित है। आग लगने पर घास के झोंपड़े की रक्षा करने की फिक्र होती है न कि पत्थर के मकान की।

मनुष्यता का दिवाला

७४. मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति उसके मस्तिष्क की महिमा को भले ही प्रकट करती हो, पर उससे मनुष्य की मनुष्यता जरा भी विकसित नहीं हुई। जो विज्ञान मनुष्य की मनुष्यता नहीं बढ़ाता, बल्कि उसे घटाता है और पशुता की वृद्धि करता है, उसी विज्ञान की बदौलत मनुष्य अपने-आपको पशुओं से विशिष्ट - उच्च श्रेणी का मानता है!! इसे अगर मनुष्यता का दिवाला कहा जाए तो क्या अनुपयुक्त होगा?

अपना खजाना

७५. विकारों ने आत्मा के स्वाभाविक गुणों को इस तरह आच्छादित कर रखा

है कि आपकी दृष्टि वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती। जिस दिन आपकी दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण बन जाएगी कि आप विकारजन्य आच्छादन को हटा डालेंगे, उसी दिन आपको अपना खजाना नज़र आने लगेगा।

मज़ूर बनने में मर्दानगी

७६. मज़ूर बनने में, कुछ कष्ट झेलने में ही मर्दानगी है। आज आप लोग सीता और राम को क्यों याद करते हैं? कष्ट भोगने के कारण ही। अगर वे राजमहलों में बैठ कर आनन्द भोगते तो उन्हें कौन पूछता?

संकल्पजा हिंसा

७७. जैनधर्म की अहिंसा ऐसी नहीं है जैसा कि भूल से आपने उसे समझ लिया है। अवसर आने पर सच्चा जैनधर्मो युद्ध-भूमि में जाने से नहीं हिचकता; हाँ, वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि मुझसे कहीं निरपराध प्राणी की संकल्पजा हिंसा न होने पावे।

वह अहिंसा को लजायेगा

७८. अहिंसा कायर बनाती है या कायरों का शस्त्र है, यह बात वही कह सकता है जो अहिंसा का स्वरूप और सामर्थ्य नहीं समझ पाया है। इससे विपरीत सत्य तो यह है कि अहिंसा का व्रत वीर-शिरोमणि ही धारण कर सकते हैं। जो कायर है वह अहिंसा को लजायेगा। वह अहिंसक बन नहीं सकता।

समता सरल, विषमता मुश्किल

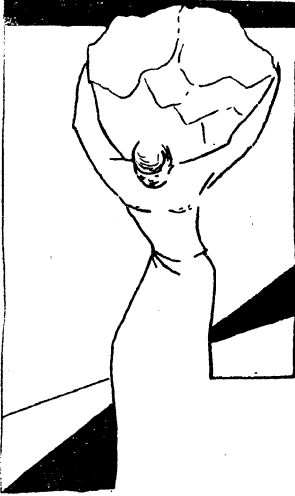
७९. समभाव के बिना किसी वस्तु का ठीक निर्णय नहीं हो सकता। जो सम-भाव रखना कठिन मानता है, वह भूल में है। मैं समझता हूँ : समता रखना सरल है और विषमता रखना कठिन है।

पहले घर में

८०. 'स्वराज्य' 'स्वराज्य' चिल्लाने से पहले अपने घर में स्वराज्य स्थापित करो। स्त्रियों को दासता की बेड़ी से मुक्त करो। जब तक तुम स्त्री-जाति को हीन दृष्टि से देखोगे, उसके कष्टों पर ध्यान न दोगे, तब तक स्वराज्य स्वप्नवत् ही समझना चाहिये।

अगर आप

८१. अगर आप प्रकृति के नियमों का मानपूर्वक पालन करेंगे तो आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा और सर्वत्र शान्ति का संचार होगा।



धीरज की कसौटी

८२. विपत्ति आत्मा का बल बढ़ाने वाली सम्पत्ति है। विपत्ति के साथ संघर्ष करके पुरुष महापुरुष बनता है। विपत्ति सोयी हुई मानवीय शक्तियों को जगाती है। विपत्ति मनुष्य के ओज की, धैर्य की, और साहस की कसौटी है। विपत्ति सफलता की सखी है। जो महाप्राण पुरुष

विपत्ति को सहर्ष अंगीकार करता है, उसी को सफलता प्राप्त होती है।

अन्याय के प्रति

८३. अन्याय के प्रति असहयोग न करने से बड़ा भारी अनर्थ हो जाता है।

न्यायसंगत अधिकार

८४. असहयोगी अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अन्याय का प्रतिकार करता है और अन्यायी को सहयोग न देना भी अन्याय के प्रतिकार के अनेक रूपों में से एक रूप है। असहयोग प्रत्येक मनुष्य का न्यायसंगत अधिकार है, यदि उसकी सब शर्तें यथोचित रूप में पालन की जाएँ।

तुम : भाग्य-निर्माता

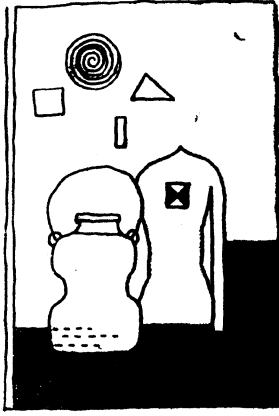
८५. तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौने नहीं हो वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाँति, तुम्हारा सहायक होगा।

मूर्ख बुद्धिमान्

८६. यह कितनी लज्जा की बात है कि अपने-आपको बुद्धिमान् समझने वाले लोग, जनता में जितना अविश्वास फैलाते और असत्य का प्रचार करते हैं, उतना मूर्ख कहलाने वाले नहीं।

धर्म-रक्षा

८७. जो धर्म की रक्षा करना चाहता है, उसे वीर बनना पड़ेगा। वीरता विना, धर्म की रक्षा नहीं हो सकती।



जो -

९०. जो अपना दुःख नहीं मिटा सकता है, वह मेरा दुःख क्या दूर करेगा ? जो समस्त दुःखों से परे है, वही मेरा दुःख दूर करेगा ।

अहंकार छोड़ें

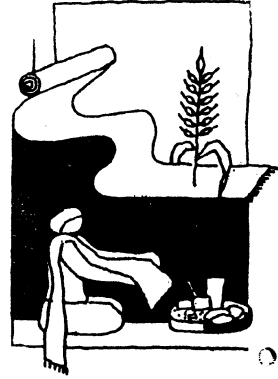
९१. प्रभु को प्रसन्न रखना है तो निर्बल बनो । निर्बल बनने का मतलब पुरुषार्थ-हीन बनना नहीं है । निर्बल का अर्थ है - भौतिक बल के अभिमान का त्याग ।

वर्तन साफ रखें

८८. अन्तःकरण शुद्ध किये बिना कभी शान्ति नहीं मिल सकती । जिस वर्तन में बदबूदार घी भरा हो उसे चाहे जितना माँजा जाए, उसकी बदबू नहीं मिटने की । इसी प्रकार स्नान करने से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता । अन्तःशुद्धि के लिए चोरी से बचने की जरूरत है । अन्तःशुद्धि के लिए व्यभिचार से सदा दूर रहना चाहिये । अन्तःशुद्धि के लिए आलस्य से सदा दूर रहना जरूरी है । जो मनुष्य इन बातों का ध्यान रखेगा उसे शान्ति मिले बिना न रहेगी ।

उपदेश नहीं, आचरण

८९. आज वक्ताओं की बाढ़-सी आ रही है; मगर अपनी ही वक्तृता के अनुसार चलने वाले कितने हैं ? जो सत्य पर नहीं चलता वह उपदेश दे कर दूसरों को सत्य-वादी कैसे बना सकता है ?



उसे क्या हक है कि -

९२. जो मनुष्य जिस काम को नहीं जानता उसे उसके फल को भोगने का क्या अधिकार है ? जो कपड़ा बुनना नहीं जानता उसे कपड़ा पहिनने का अधिकार नहीं है । जो अन्न पैदा नहीं कर सकता उसे खाने का क्या अधिकार है ? प्राचीन काल में बहत्तर कलाएँ प्रत्येक को सीखनी पड़ती थीं । उनमें कपड़ा बुनना और खेती करना क्या सम्मिलित नहीं था ?

६२/साधुमार्ग विशेषांक

रोटी और कपड़ा]

९३. जो देश रोटी और कपड़े के लिए दूसरे देश का मुँह ताकता है, वही गुलाम है। गुलामी; रोटी और कपड़े की पराधीनता से आती है। जो देश दो बातों में अर्थात् रोटी और कपड़े में स्वतन्त्र होता है, उसे कोई गुलाम नहीं बना सकता।

अविश्वासी होता है असफल

९४. संपूर्ण श्रद्धा से कार्य में सफलता मिल जाती है, अविश्वासी को सफलता इसलिए नहीं मिलती कि उसका चित्त डाँवाडोल रहता है। उसके चित्त की अस्थिरता ही उसकी सफलता में बाधक होती है।

जितने -

९५. प्रकृति का कानून मत तोड़। क्या मांस न खाने वाले भूखों मरते हैं? हम देखते हैं कि जितने माँसाहारी भूखों मरते हैं, उतने शाकाहारी नहीं।

आदर्श कौन ?

९६. साधुओं को अपनी विधि पालने के लिए शास्त्र-में-वर्णित किसी उच्च श्रेणी के साधु को अपना आदर्श बनाना चाहिये। इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिए उच्च श्रावक की दिनचर्या पर ध्यान देना चाहिये।

धर्म की माता

९७. संघशक्ति लोकशक्ति है और लोकशक्ति धर्म की माता है। जो लोग संघबल का वास्तविक महत्त्व समझते हैं, वे संघ को अम्मा-पिया अर्थात् माता-पिता के समान पूज्य गिन कर उसकी पूजा करते हैं। संघपूजा सच्ची धर्मपूजा है।

तुम और वह]

९८. तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरों के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

शहर : सिर्फ माया

९९. सच्चा हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। शहर तो माया मात्र है। गाँवों की सेवा ही हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार की भूमिका है।



बड़ा अन्धा कौन ?

१००. एक अन्धा आदमी गड्ढे में गिर रहा है। उसके पास तेज आँखों वाला दूसरा पुरुष खड़ा-खड़ा देखता है। वह अन्धा चाहे मरे चाहे जीये, यह सोच कर अन्धे को गिरने से रोकने की चेष्टा नहीं करता। तो इन दोनों में बड़ा और सच्चा अन्धा कौन है? इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर मिलेगा कि सृजता कहलाने वाला; पर अन्धे को गड्ढे में गिरने से न बचाने वाला ही दरअसल बड़ा अन्धा है।

अपना देश

१०१. स्वदेश अर्थात् अपना देश । अपने देश में बनी हुई चीज स्वदेशी कहलाती है । कौन ऐसा देशद्रोही मनुष्य होगा जो अपने देश की बनी चीज न चाहता हो । स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना प्रत्येक स्वदेश प्रेमी का कर्तव्य है । स्वदेश का उद्धार उसी दिन से आरम्भ होगा जिस दिन से देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे ।

सच्चा राष्ट्रप्रेमी

१०२. सच्चा राष्ट्रप्रेमी वह है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है । उसके मन में वह उस सम्पत्ति का टूट्टी मात्र होता है ।

घर पहले

१०३. विवेकशील माता-पिता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करते । वे आवेश पर अंकुश रखते हैं । बालक की परिस्थिति समझने का यत्न करते हैं । उसे सुधारने के लिए घर का वातावरण सुन्दर बनाते हैं ।

असली सेवा

१०४. परिपक्व बुद्धिवाला कर्तव्य-परायण और विचारशील पुरुष ही जाति की सेवा बजा सकता है । उतावला, बातूनी, और झगड़ाखोर मनुष्य जाति की सच्ची सेवा नहीं कर सकता ।

त्याग का बल

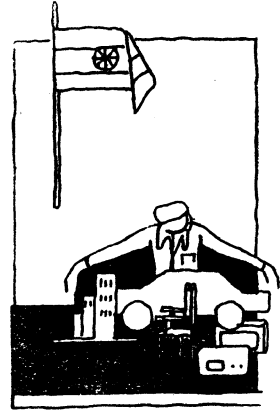
१०५. त्याग में अनन्त बल है, अमित सामर्थ्य है । जहाँ संसार के समस्त बल बेकार बन जाते हैं, अस्त्र-शस्त्र निकम्मे हो जाते हैं, वहाँ भी त्याग का बल अपनी अद्भुत और अमोघ शक्ति से कारगर होता है ।

सूर्योदय

१०६. शिक्षा में दोष का प्रवेश न होने पाये, इस बात का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है । निर्दोष स्त्री-शिक्षा का सूर्योदय होने पर समाज का अन्धकार नष्ट हो जाएगा और समाज सुख-शान्ति का अधिकारी बनेगा ।

समर्थ व्यक्ति को

१०७. अपने पास शक्ति हो तो प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को दूसरों के दुःख दूर करने में उसका व्यय करना चाहिये । दूसरों की सहायता करने वाला ही दूसरों से सहायता लेने का अधिकारी है ।



बीज

१०८. सचमुच व्यक्ति की लाभ-हानि से देश की लाभ-हानि बड़ी चीज है । प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पहले समूह की भलाई को देखे और फिर अपनी भलाई को । स्मरण रखना चाहिये कि समूह के कल्याण में व्यक्ति के कल्याण का बीज है ।

उसे मिलती है सफलता

१०९. जिसका संकल्प सत् है, अटल है और जो अपनी संपूर्ण शक्तियाँ अपने संकल्प के लिए समर्पित कर देता है, उसे सफलता मिलती ही है।

फेर में पड़ कर

११०. आशा और तृष्णा के फेर में पड़ कर लोग सत्य का आचरण तो दूर रहा, सत्य बात प्रकट भी नहीं कर सकते।

इसके प्रभाव से

१११. मोह में बड़ी ताकत है। इसके प्रभाव से अनन्त शक्ति का धनी आत्मा भी कीड़े-मकोड़े और घास-जैसी दशा को प्राप्त होता है।

फिर उसी में

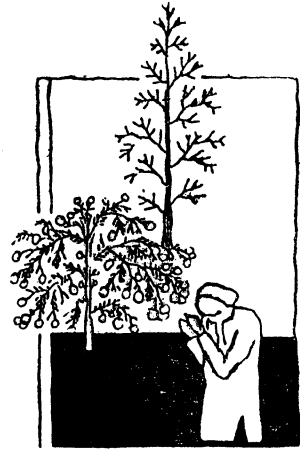
११२. हम जिस कैदखाने में बन्द रह चुके हैं फिर उसी में बन्द होना उचित है अथवा ऐसा मार्ग खोजना उचित है कि फिर कभी उसमें बन्द न होना पड़े ?

जरूरते घटायें

११३. श्रावक का यह कर्तव्य है कि जिस तरह वह स्वयं जीवित रहना चाहता है, उसी तरह दूसरों को भी रहने दे। इस कर्तव्य का पालन वही कर सकता है, जिसकी आवश्यकताएँ साधारण हैं, बड़ी हुई नहीं है। जिसकी आवश्यकताएँ बड़ी हुई हैं, वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों को कष्ट में डाले, अथवा उसकी आवश्यकताओं के कारण दूसरों को कष्ट हो, यह स्वाभाविक है।

घास-भूसा आनुषंगिक

११४. किसान को घास और भूसे की भी आवश्यकता पड़ती है, पर वह घास-भूसे के लिए ही खेती नहीं करता। उसका उद्देश्य तो धान्य की प्राप्ति करना होता है; फिर भी धान्य के साथ घास-भूसा भी आनुषंगिक रूप में उसे मिल ही जाता है।



नम्रता और अकड़

११५. वृक्षों में भी जो वृक्ष नम्र होता है वह अच्छा समझा जाता है और जो अकड़ा रहता है वह टूट कहलाता है। नम्र वृक्ष में फल भी रसीले और मीठे होते हैं, जबकि अकड़े रहने वाले वृक्ष के फल कटुक और खराब होते हैं।

नमन

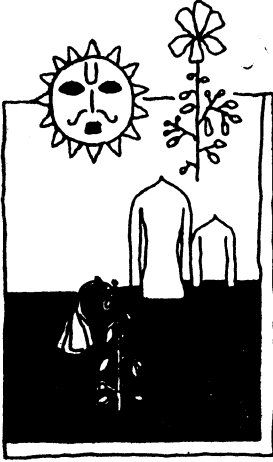
११६. कहावत है — जो नमता है वह परमात्मा को गमता है; अर्थात् जो नम्रता धारण करता है, वह परमात्मा का भी प्रिय बन सकता है।

सामायिक यानी समता

११७. कोई कैसी भी क्षति करे, सामायिक में बैठे व्यक्ति को स्थिर चित्त हो कर रहना चाहिये, समभाव रखना चाहिये। हानि करने वाले पर क्रोध न करना चाहिये; न बदला लेने की भावना ही होनी चाहिये।

चने के बदले रतन

११८. अगर प्रार्थना द्वारा आत्मा का हित-साधन हो सकता है तो तुच्छ चीजों को पानं के लिए उसका उपयोग करना चने के बदले रतन देने के समान मूर्खता है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालों को ऐसी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिये।



हम : फूल से भी बदतर

११९. मालवा में 'पोयणा' नामक एक प्रकार का फूल होता है। वह फूल सूर्य के उदय होने पर खिलता है और अस्त होते ही मुरझा जाता है। विचारणीय तो यह है कि एक फूल को तो सूर्य के उदय और अस्त का भान हो जाता है और हम-

जैसे मनुष्यों को उसका पता तक नहीं चल पाता; यह हमारी कितनी बड़ी अपूर्णता है? एक साधारण फूल उदय-अस्त को जान लेता है तो क्या हम लोग न जान पाते होंगे? जान तो जरूर लेते होंगे, पर संसार की दूसरी अनेक संझटों में पड़े रहने के कारण वह जानी-समझी हुई बात भी भुला दी जाती है।

आग : न मंदा, न तेज

१२०. रोटी पकाते समय अग्नि इतनी अधिक तेज नहीं रखी जाती कि रोटी जल कर राख हो जाए। साथ ही इतनी मन्द भी नहीं रखी जाती कि रोटी सिकने ही न पाये। उस समय आग ऐसी मध्यम कोटि की रखी जाती है कि रोटी न तो जल सके, न कच्ची बनी रहे। इसी प्रकार आध्यात्मिकता में इस दृष्टि को स्थान दिया जाए तो जीवन-व्यवहार ऐसे मध्यम मार्ग पर व्यवस्थित रूप से चलता है कि न तो जीवन में छैला की तरह उड़ाऊगीरी आने पाती है, न कृपण के समान कृपणता को ही स्थान मिल पाता है। उस अवस्था में जीवन मध्यम स्थिति में रहता है।

जब कोई गाली दे

१२१. जब तुम्हें कोई गाली दे तो तुम्हें ऐसा उज्ज्वल विचार रखना चाहिये कि इसके मुँह में गाली की जो गंदगी भरी थी, वह बाहर आ गयी; यह बहुत अच्छा हुआ। इतने अंश में गाली देने वाले का मुँह शुद्ध हो गया, यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है।

गालियों को खाद से

१२२. किसान खाद के रूप में गंदगी का सदुपयोग कर लेते हैं और उससे उत्तम उपज होती है। इसी प्रकार तुम भी आत्म-कल्याण के रूप में गालियों का सदुपयोग कर सकते हो।

जैसा मैं, वैसा वह

१२३. जो काम अपने लिए अनुकूल हो वह दूसरों के लिए करना चाहिये और जो अपने लिए प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिये।

तो माना जाएगा कि -

१२४. भोजन से तुम्हारा पेट ठसा-ठसा भर गया हो, फिर भी बची हुई रोटी किसी शरीर को दे देने की भावना तुम्हारे हृदय में पैदा न हुई और रोटी सेंक कर या सुखा कर दूसरे दिन खाने की तृष्णा बनी रही, तो माना जाएगा कि अभी तुम दूसरे की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझने में समर्थ नहीं हो सके हो।

स्वामी नहीं, सेवक बन कर

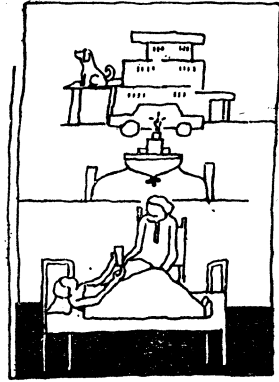
१२५. तुम्हें स्वामी बन कर नहीं वरन् सेवक बन कर समाज की सेवा करनी चाहिये। सेवा करते-करते अगर प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ जाए तो वह भी प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिये।

ईश्वर है हममें

१२६. ईश्वर कहाँ है? यह सोचते-सोचते हम थक गये, पर अब जान पड़ता है, वह हमारे भीतर विराजमान है। हमारे निर्मल अन्तःकरण में जिन उदार भावों का वास है, उन भावों में ईश्वर का दिव्य दर्शन हो रहा है।

भ्रमण सिर्फ भ्रम

१२७. तुम भ्रमण के लिए भले ही मक्का, मदीना, काशी या शत्रुंजय जाओ, पर अगर हृदय के शुद्ध भावों की ओर दृष्टि न फेरोगे तो वहाँ जाना निरर्थक जान पड़ेगा। हृदय में शुद्ध भावना को स्थान देना और सेवा को अपने जीवन का आदर्श बनाना, किसी भी तीर्थ से कम पवित्र नहीं है।



सच्ची श्रीमन्ताई

१२८. बड़े-बड़े शानदार बंगले बनवाने में, दो-चार कुत्ते पालने में, या मोटर गाड़ी रखने में और उसे चारों ओर फिरा कर लोगों पर धूल उड़ाने में भले ही आज तुम्हें श्रीमन्ताई दीखती हो, पर ज्ञानियों की दृष्टि में वह सच्ची श्रीमन्ताई नहीं है। जो जन समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करते हैं, वही सच्चे श्रीमन्त हैं और उन्हीं की सच्ची श्रीमन्ताई जगत् के लिए हितकारक है।

निदक नियरे राखिये

१२९. अच्छा काम करने वाले का भी विरोध करने के लिए कोई-न-कोई खड़ा हो जाता है। जैसे दिन की थकावट दूर करने के लिए रात की जरूरत है उसी तरह सत्कार्य का विरोध करने वालों की भी आवश्यकता है। ज्ञानीजन इस प्रकार के विरोध से, या निंदा से रंचमात्र भी नहीं घबराते; बल्कि विरोध को अपने कार्य का सहायक मान कर दुगुने उत्साह से उसे सफल बनाने में जुट पड़ते हैं।

पर यह नहीं देखते

१३०. तुम बाहर की रचना देखते हो, पर अन्दर की रचना कैसी है, यह नहीं देखते।



दृश्य के पीछे

१३१. अज्ञानी लोग हाड़-पिंजर का बाहरी रूप देख कर मोहित हो जाते हैं और ज्ञानी-जन बाहर दिखायी देने वाले रूप के पीछे क्या छिपा है इस बात का विचार करके वैराग्य-लाभ करते हैं।

बंगला स्वच्छ, बेह अस्वच्छ

१३२. तुम अपना बंगला साफ रखना चाहते हो पर अगर तुम्हारा शरीर साफ न हुआ तो बंगले की सफाई से क्या होगा ? तुम आलमारी, मेज आदि फर्नीचर को साफ रखो, पर शरीर-सुधार की ओर तनिक भी ध्यान न दो तो वह सुधार है या बिगाड़ ? इस प्रश्न पर जरा विचार करो।

अंतरंग वैभव

१३३. जब लोग बाह्य वस्तुओं पर मग्न बन जाते हैं, तब महापुरुष उन बाह्य वस्तुओं के अन्तरंग में छिपे रहने वाले तत्त्वों को जगत् के समक्ष उपस्थित करते हैं। जगत् को कल्याण-पथ दिखाना कोई सहज काम नहीं है। वह साधारण

मनुष्य के बूते का काम भी नहीं है। जिन महापुरुषों ने अहंकार के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, वही जगत् को कल्याण का मार्ग बता सकते हैं और जगत् को सुधार सकते हैं।

गंदगी निकाल फेंकिये

१३४. किसी कमरे की हवा यदि खराब हो गयी हो तो उसे बाहर निकाल देने से तत्काल ताजी हवा आ जाती है। उसके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार यदि हृदय की गंदगी निकाल दी जाएगी तो अवश्य पवित्रता का प्रवेश होगा। तब पवित्रता लाने के लिए प्रयास नहीं करना होगा।

जीवन-परीक्षा

१३५. जैसे नियमित अभ्यास करने वाला विद्यार्थी परीक्षा से नहीं घबराता, उसी प्रकार सच्चा सेवक जीवन-परीक्षा से नहीं घबराता।

परीक्षा की घड़ी

१३६. ज्ञानी और विवेकशील लोग संकट के समय जरा भी विचलित या भयभीत नहीं होते। संकटों को अपनी जीवन-साधना की कसौटी समझ कर, परीक्षा मान कर संकटों का स्वागत करते हैं और उनके आने पर प्रसन्न होते हैं। वे समझते हैं—यदि इस संकट की परीक्षा में हम उत्तीर्ण हो गये तो तो हमें परमात्मा की भक्ति का प्रमाण-पत्र प्राप्त हो सकेगा।

सदा रहो आगे

१३७. जैसे युद्ध में सच्चा सेनापति आगे रहता है, उसी प्रकार कष्ट सहन करने में सच्चा सेवक सदा आगे रहता है।

निर्बल के बल राम

१३८. आत्मा को राम-बल की अपेक्षा रहती है; अतएव आत्मा को सदैव यह भावना बनाये रखना चाहिये कि मुझमें राम-के-बल का आविर्भाव हो। राम-बल को आत्म-बल भी कहा जा सकता है। नाम उसका कुछ भी हो, पर सच्ची आत्म-शक्ति को पाने की भावना निरन्तर बनी रहनी चाहिये।

सबकी देह देवालय

१३९. यदि केवल अपनी ही देह को मन्दिर माना, दूसरे की देह को मन्दिर नहीं माना तो तुम पक्षपात में पड़े होने के कारण ईश्वर को नहीं जान सकते। ईश्वर ज्ञान-स्वरूप, सर्वव्यापी, और सबकी शान्ति चाहने वाला है। अगर आप भी सबकी शान्ति चाहते हैं, सबकी देह को देवालय मानते हैं तो आपकी देह भी देवालय है; अन्यथा नहीं।

क्या तुम ?

१४०. क्या तुम वृक्ष के समान भी उच्च भावना का सेवन करते हो? तुम वृक्ष के मीठे फल खाते हो, पर उसके बदले में कटुकता पैदा करो, तो क्या वृक्ष से भी हीन नहीं हो ?

वीरता का फल

१४१. सहिष्णुता कायरता का चिह्न नहीं, वीरता का फल है।

नीर छिड़कने वाले कम

१४२. उत्तेजना की आग में जल मरने वाले संसार में बहुत हैं और उस आग पर शान्ति का शीतल नीर छिड़कने वाले इनेगिने ही निकलेंगे। यह इने-गिने सत्त्वशाली पुरुष ही जगत् के पथ-प्रदर्शक होते हैं।

ईंधन न मिले तो -

१४३. जैसे रुधिर से रुधिर की शुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अत्याचार से अत्याचार का शमन नहीं हो सकता। आग को ईंधन न मिले तो वह जल्दी बुझ जाती है। इसी प्रकार अत्याचार को अत्याचार का ईंधन न मिलने से वह शान्त हो जाता है।

मैं तो तेरे पास में

१४४. आत्मा के विकार ज्यों-ज्यों हटते चले जाएंगे, त्यों-त्यों आत्मशक्ति का आविर्भाव होता चलेगा। तुम्हें यदि अपनी आत्म-शक्ति में निश्चल श्रद्धा है तो वह तुम्हारे पास ही है। वास्तव में वह शक्ति तुम्हारी अपनी आत्मा में ही विद्यमान है।

मान्यता बदलनी पड़ेगी

१४५. आज धर्म की जो निन्दा की जाती है, वह वास्तव में धर्म की नहीं, धर्म के पालने वालों की निन्दा है। धर्म के पालने वाले, धर्म का पालन यदि विवेक के साथ करें तो उनके आदर्श धर्ममय जीवन को देख कर धर्म की निन्दा करने वालों को भी अपनी मान्यता बदलनी पड़ेगी।

रूप और गुण

१४६. संसार में चार प्रकार के आदमी होते हैं - १. पहले प्रकार के लोग गुण ही देखते हैं, रूप नहीं देखते। २. दूसरे प्रकार के रूप ही देखते हैं, गुण नहीं देखते। ३. तीसरे प्रकार के लोग रूप देखते हैं और गुण भी देखते हैं। ४. चौथे प्रकार के वे लोग हैं जो न गुण देखते हैं, न रूप ही देखते हैं।

असली लोग

१४७. जिन्हें अन्तर्दृष्टि का लाभ हो गया है और जो शब्दों के व्यूह को चीर कर भीतरी मर्म तक पहुँचने का सामर्थ्य रखते हैं, वे नाम को गौण और वस्तु को प्रधान मानने लगते हैं। असली लोग यही हैं।



विभिन्नता गुणमूलक

१४८. जल, सलिल और पानी जब एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं तो क्या जल से ही प्यास बुझेगी? पानी से नहीं बुझेगी? तात्पर्य यह है कि प्यास शान्त करने के लिए चाहे जल पिया जाए, चाहे सलिल पिया जाए, और चाहे पानी पिया जाए—सब एक ही बात है; क्योंकि नाम-भेद से वस्तु-में-भेद नहीं होता। वस्तु की विभिन्नता गुण-मूलक है।

कृष्ण का अर्थ है सादगी

१४९. कृष्ण के स्थूल शरीर को कृष्ण नहीं कहा जा सकता। कृष्ण का अर्थ है सादगी, कृष्ण का अर्थ है सत्य, कृष्ण का अर्थ है निरभिमानता, और कृष्ण का अर्थ है सरलता। जिसने कृष्ण का यह भावमय अर्थ समझा, उसी ने कृष्ण को समझा है और वही कृष्ण के सहारे आत्मकल्याण कर सकता है।

सूरज : रोज ही नया

१५०. प्रभात की वेला होने पर पक्षी अपने घोंसलों में सोये नहीं पड़े रहते। उनमें मानो नवजीवन का संचार हो जाता

है। वे अपने कलरव द्वारा सूर्य का आह्वान करते हैं, या नवीन आलोक-पुंज पा कर अपने हृदय में न समा सकने वाले हर्ष को बाहर उड़ेलते हैं। वे सूर्य को पुरानी चीज समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करते और न ही प्रमाद का सेवन करते हैं। जो मनुष्य सूर्योदय होने पर भी टाँगें पसारे पड़ा रहता है, वह आगे क्या कर सकता है ?

नर से भारी नारी

१५१. जो काम पुरुषों के बूते से बाहर होता है, जिस काम के लिए पुरुष की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, उसका मार्ग स्त्रियाँ सहज ही सरल बना देती हैं। व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ उनमें मौजूद हैं।

पर्दा हटायें

१५२. पुराणों की बहुत-सी बातें आलंकारिक भाषा में लिखी गयी हैं। उनका ठीक-ठीक मर्म समझने के लिए अलंकारों का पर्दा हटाने की आवश्यकता होती है। अलंकारों का पर्दा हटा कर सत्य को समझने का प्रयत्न करने वाले ही उनकी वास्तविकता को समझ पाते हैं। सम्यग्दृष्टि ही उनकी यथार्थता समझ पाते हैं।

जहर और अमृत

१५३. धर्मध्यान अमृत के समान है और बाज़ारू बातें जहर के समान हैं; फिर भी लोग अमृत न पी कर जहर पी रहे हैं। जीवन को निकम्मा बनाने वाले काम बिना ही उपदेश के, बल्कि मना करने पर भी करते हैं और धर्म की बातों पर उपदेश देने पर भी कान नहीं देते।

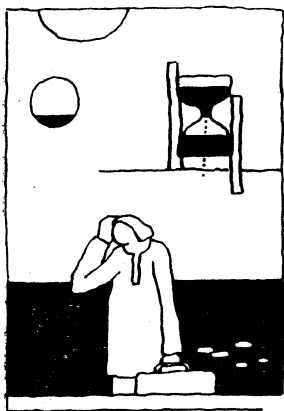
कम करें इसे

१५४. जो बड़ा बन कर छोटे को नष्ट कर देना चाहता है, छोटे को भुला डालना चाहता है, उसका बड़प्पन कायम

नहीं रह सकता, उसकी शक्ति का ह्रास हुए बिना रह नहीं सकता। यदि बड़े और छोटे एक-दूसरे की सुख-सुविधा का ख्याल रख कर चलेंगे तो आनन्द होगा और विषमता का विष नहीं व्यापेगा।

सिर्फं छाछ या मक्खन भी

१५५. बुद्धि घूमती है, उछल-कूद मचाती है और कुछ-न-कुछ करती ही रहती है; लेकिन उससे पूछो कि मक्खन मिलता है, या छाछ-ही-छाछ पल्ले पड़ती है ?



इसकी कोई चिन्ता है

१५६. देखना चाहिये कि जीवन का तत्त्व कहाँ जा रहा है ? दो पैसे गुम जाने का तो रंज होता है मगर समग्र जीवन बीता जा रहा इसकी कोई चिन्ता ही नहीं है।

जो मक्खन खा जाते हैं

१५७. बाहर का सब जोड़ना छाछ बिलौना है। धन और जन की वृद्धि हो गयी तो इससे क्या हुआ ? अब मैं सब कुछ छोड़ कर उन मगरमच्छों के दाँत उखाड़ूँगा, जो मेरा मक्खन खा जाते हैं अर्थात् काम,

क्रोध आदि को नष्ट कर दूँगा। जब मैं उनके दाँत ही उखाड़ दूँगा तो वे मेरा मक्खन कैसे खायेंगे ?

जड़ें : काफी गहरी

१५८. साधारण जनता में आत्मा के प्रति जो निष्ठा है और जिसकी जड़ चिर-कालीन संस्कारों के कारण काफी गहरी हुई है, वही मनुष्य को मनुष्य बनाये हुए है।

वर्तमान और भविष्य

१५९. वर्तमान सीमित है और भविष्य असीम है। ऐसी दशा में वर्तमान के लिए लम्बे भविष्य को भूल जाना मुर्खता होगी। बुद्धिमत्ता इस बात में है कि असीम और अनन्त भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए ही वर्तमान का उपयोग किया जाए।

बालक की तरह

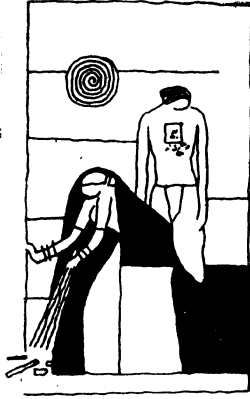
१६०. तुम बालक की भाँति निष्कपट और सरल बनो। हृदय में जो शल्य हों उन्हें निकाल फेंको। विचार करो कि अगर मैं परमात्मा के सामने भी सरल न बना तो और फिर कहाँ सरल बनूँगा ? पाप छिपाने से छिप तो सकते नहीं हैं, फिर उन्हें छिपाने का प्रयत्न करके अधिकतर दण्ड का पात्र क्यों बनना चाहिये ?

और हवेली पर शरूर

१६१. आप जिन हवेलियों में रहते हैं, वे हवेलियाँ झोपड़ियों से बनी हैं या झोपड़ियाँ हवेलियों से बनी हैं ? पत्थर इकट्ठा करके महल बनाने का काम झोपड़े वालों ने किया है और आप हवेली पर शरूर करते हैं!! मनुष्य-लोक की सादगी से ही स्वर्ग निकलता है।

कपट या कपाट

१६२. कपट कल्याण के द्वार में प्रवेश करने के वज्रमय कपाट के समान है।



खोटी पद्धति

१६३. बहिर्न घर झाड़ते समय घर की वस्तुएँ बाहर नहीं फेंक देतीं, सिर्फ कचरा फेंकती हैं। इसी प्रकार पर्युषण पर्व में हृदय के कचरे - माया-को बाहर निकाल कर फेंक दो। बहुतेरे लोग हृदय के मैल-माया - को तो सँभाल कर रखते हैं और सद्गुणरूपी वस्तुओं को फेंक देते हैं। यह पद्धति खोटी है। इसे त्यागो।

न रोग, न दवा, न डॉक्टर

१६४. उपवास शरीर को स्वस्थ बनाने की एक अमोघ प्राकृतिक औषध है। अगर इस प्राकृतिक औषध का महीने में छह बार सेवन किया जाए तो शरीर में किसी प्रकार का रोग ही न रहने पाये और न डॉक्टर की शरण में जाना पड़े।

त्याग में भलाई

१६५. त्याग एक ऐसी वस्तु है जिससे हानि होने का कुछ भी भय नहीं है। त्याग से कल्याण ही हो सकता है।

स्वावलम्बन

१६६. स्वतन्त्र व्यक्ति ही दूसरों को स्वतन्त्रता का संदेश दे सकता है। पराव-

लम्बी पुरुष स्वतन्त्रता का संदेश नहीं सुना सकता। स्वतन्त्रता-देवी का प्रधान द्वार स्वावलम्बन है। स्वावलम्बी बने बिना स्वतन्त्र बनना संभव नहीं।

कड़ी बनो, मकड़ी नहीं

१६७. सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध स्थापित करने वाली साँकल (कड़ी) है। इस साँकल (कड़ी) के द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध जोड़ोगे तो कल्याण होगा।

वीतराग/वीतद्वेष

१६८. राग का त्याग करना जितना कठिन है, उतना कठिन द्वेष का त्याग करना नहीं है। इसी कारण मुक्तात्मा वीतराग कहलाते हैं, वीतद्वेष नहीं।

जैन, और कायर !!

१६९. जैन हो कर कायर हो कर बैठ जाने से और आन्तरिक शत्रुओं को परास्त न करने का प्रयत्न न करने से जैनत्व की शोभा घटती है। आजकल कायरता के कारण जैनों का जैनत्व फीका पड़ गया है। इसी कारण वीरोचित अहिंसा, क्षमा आदि को निर्बलता का चिह्न समझा जाता है।

स्थायी विजय

१७०. बैर की शान्ति अबैर से होती है। प्रेम के द्वारा ही दूसरों के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। यह सच्ची और स्थायी विजय है। और ऐसी सच्ची एवं स्थायी विजय प्राप्त करना ही जैनधर्म या सनातन धर्म है।

सूरज का क्या कुसूर ?

१७१. सूर्य प्रकाश देता है और स्पष्ट कर देता है कि यह साँप है और यह फूलों की माला है। सूर्य द्वारा इतन स्पष्ट कर देने

के बाद भी अगर कोई पुरुष साँप को ही माला समझ कर पकड़ता है तो इसमें सूर्य का क्या दोष है ?

क्षेत्र और क्षेत्री

१७२. सुभट की अपेक्षा साधु और सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् इसलिए वन्दनीय और पूजनीय है कि एक तो क्षेत्र पर विजय प्राप्त करता है और दूसरा क्षेत्री पर जय-लाभ करता है। क्षेत्र या शरीर पर प्रभुत्व जमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है; परन्तु क्षेत्री अर्थात् आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन है।

शूली : विष : निन्दा

१७३. शूली पर चढ़ कर शस्त्राघात सहन करके या विषपान करके मर जाना कदाचित् सरल है, परन्तु शान्तभाव से अपनी निन्दा सुनना सरल नहीं है।

भय पर जय

१७४. वास्तव में दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड़ नहीं कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर पैठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है। अपने आन्तरिक भय को जीतोगे तो अपने को अत्यन्त शक्तिशाली पाओगे।

जीवन-शुद्धि की चाबी

१७५. यदि मनुष्य अपने सुबह से शाम तक के काम किसी विश्वस्त मनुष्य के समक्ष प्रकट कर दिया करे तो उसके विचारों और कार्यों में बहुत प्रशस्तता आ जाएगी। गहाँ जीवन-शुद्धि की कुंजी है।

लोभ से, लाभ कैसा ?

१७६. जीवन में निर्लोभ वृत्ति आ जाएगी तो धन आदि के लिए अर्थलोलुप लोगों से प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ेगी।

जहाँ निर्लोभता है, वहाँ निर्भयता है; अतः भयरहित बनने के लिए लोभ को त्याग दो, लोभ को जीतो।

शब्द : भोजन का सार

१७७. उपनिषद् में कहा है कि भोजन का सार भाग वाणी को ही मिलता है। इस प्रकार वाणी में शरीर की प्रधान शक्ति रहती है। वाणी की जितनी रक्षा की जाए उतना ही लाभ है।



मन का खेत, मनन के बीज

१७८. किसान खेत में बीज फेंकता है सो केवल फेंक देने के उद्देश्य से ही वह नहीं फेंकता है। एक दाने के अनेक दाने उत्पन्न करने के लिए वह बीज फेंकता है। स्वाध्याय करने वाले को भी यह बात सदैव स्मरण में रखनी चाहिये कि मैं स्वाध्याय करके हृदय-क्षेत्र में जिस बीज का आरोपण करता हूँ, वह विशेष फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ।

कायोत्सर्ग : ममता-त्याग

१७९. जिस किसी उपाय से शरीर को नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नहीं है,

वरन् शरीर-संबन्धी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है।

सूत्र और अर्थ

१८०. प्रत्येक वस्तु पात्र में ही टिक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नहीं हो सकता। तिजोरी हो मगर धन न हो तो तिजोरी किस काम की? इसी प्रकार धन हो पर तिजोरी न हो तो धन की रक्षा किस प्रकार हो सकती है? ठीक इसी तरह अर्थ के अभाव में सूत्र किस काम का? और सूत्र न हो तो अर्थ किस काम का? सूत्र अर्थ की और अर्थ सूत्र की रक्षा करता है।

कायर, नहीं वीर

१८१. अहिंसावादी कायर नहीं, वीर होता है। सच्चा अहिंसावादी एक ही पुरुष, अहिंसा की असीम शक्ति द्वारा रक्त की एक भी बूंद गिराये बिना, बड़ी-से-बड़ी पाशविक शक्तियों को परास्त करने की क्षमता रखता है। अहिंसा में ऐसा असीम और अमोघ बल है।

चोर, फिर भी उपयोगी

१८२. बुद्धि शरीर-रूपी चोर की कन्या है। शरीर यद्यपि चोर के समान है, फिर भी अनेक रत्न उसके कब्जे में हैं। इस शरीर के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

जीवन-शुद्धि की डगर

१८३. जब तक यथार्थ वस्तु-स्वरूप न जान लिया जाए, तब तक आचरण अर्थ-हीन होता है। अनजाने को जानना, जाने हुए की खोज करना, और खोजे हुए को जीवन में उतारना—यह जीवन-शुद्धि का मार्ग है।

१०४/साधुमार्ग विशेषांक

अन्याय : कभी नहीं

१८४. एक अहिंसावादी मर भले ही जाए पर अन्यायपूर्वक किसी का प्राण या धन हरण नहीं करता।

जैसे -

१८५. जैसे जेल से डरने वाला स्व-राज्य प्राप्त नहीं कर सकता और जैसे आँच और धुएँ से डरने वाली महिला रसोई नहीं बना सकती, उसी प्रकार कष्टों से घबराने वाला देवलोक के सुख नहीं पा सकता।

एकत्रण से आत्म-ज्योति

१८६. जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणों से अग्नि उत्पन्न नहीं होती, परन्तु काँच को बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस काँच के नीचे रुई रखने से आग उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार मन और इन्द्रियों को एकत्र करने से आत्म-ज्योति प्रकट होती है।

वाहवाही और थू-थू

१८७. लोग चाहते क्या हैं और करते क्या हैं! वाहवाही चाहते हैं मगर थू-थू के काम करते हैं।

घर कहाँ है?

१८८. जिस समय आपकी आत्मा अपना स्थान खोजने के लिए खड़ी हो जाएगी, उस समय उसे यह भी मालूम हो जाएगा कि उसका घर कहाँ है?

मत उतारिये धर्म के छिलके

१८९. केले के पेड़ के छिलके उतारोगे तो क्या पाओगे? सिवाय छिलकों के और कुछ भी न मिलेगा। अगर उसे ऐसा ही रहने दोगे और उसमें पानी देते रहोगे तो

मधुर फल प्राप्त कर सकोगे। जब केले का वृक्ष छिलके उतारने पर फल नहीं देता और छिलके न उतारने पर फल देता है तो छिलके क्यों उतारे जाएँ? यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिये। अनेक लोगों को तर्क-वितर्क करके धर्म के छिलके उतारने का व्यसन-सा हो जाता है। मगर यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। समझदार लोग धर्म के छिलके उतारने के लिए उद्यत नहीं होते, वे धर्म के मधुर फलों का ही आस्वादन करने के इच्छुक होते हैं।

असली ताक़त

१९०. शरीर की चर्बी बढ़ जाना शक्ति का प्रतीक नहीं। मनोबल का बढ़ जाना और उसे काबू में रखना ही सच्ची शक्ति है।

संकट : गुरुओं-का-गुरु

१९१. गुरु तो गुरु हैं ही, मगर संकट भी गुरु है। संकट से उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं।

नीति दिमाग, धर्म हृदय

१९२. नीति दिमाग की पैदाइश है, धर्म हृदय की। नीति अपनी ही रक्षा करने का विधान करती है, अपने आश्रित लोग भले ही भाड़ में जाएँ; मगर धर्म का विधान यह है कि स्वयं चाहे कष्ट सहन करो, परन्तु दूसरों को सुखी बनाओ। धर्म कहता है 'दो' नीति कहती है — 'लाए जाओ'। नीति की नज़र स्वार्थ पर और धर्म की दृष्टि परमार्थ पर लगी रहती है।

सिक्के का सिक्का

१९३. जिस सिक्के ने मनुष्य-समाज को मुसीबत में डाल दिया है, उसे लक्ष्मी का पद कैसे दिया जा सकता है? समाज में फैली हुई यह विषमता और यह वर्गयुद्ध सिक्के की ही देन हैं।

घर : आपका, उनका, किसका ?

१९४. जिस घर को आप अपना समझते हैं, उसमें क्या चूहे नहीं रहते? फिर वह घर आपका ही है, उनका नहीं है, ऐसा क्यों? क्या आप भी चूहे की तरह ही थोड़े दिनों में उसे छोड़ कर नहीं चल देंगे? वास्तव में संसार में आपका क्या है? कौन-सी वस्तु आपका सदा साथ देने वाली है? किस वस्तु को पा कर आपके सकल संकट टल जाएँगे। शायवत कल्याण का द्वार किससे खुल जाता है ?

अहिंसा का पाठ

१९५. भारतवर्ष ने अहिंसा और सत्य का जो झंडा गाड़ा है, उस झण्डे की शरण ग्रहण करने से ही संसार की रक्षा होगी। अन्य देश जहाँ तोपों और तलवारों की शिक्षा देते हैं, वहाँ भारतवर्ष अहिंसा का पाठ सिखाता है। भारत ही अहिंसा का पाठ सिखा सकता है, किसी दूसरे देश की संस्कृति में यह चीज नज़र ही नहीं आती।

सुनार की सौ : लुहार की एक

१९६. सौ निरर्थक बातें करने की अपेक्षा एक सार्थक कार्य करना अधिक श्रेयस्कर है।

एक संसार, एक मुक्ति

१९७. तुम ऐसी जगह खड़े हो, जहाँ से दो मार्ग फटते हैं। तुम जिधर चाहो, जा सकते हो। एक संसार का मार्ग है, दूसरा मुक्ति का; एक बन्धन का, दूसरा स्वाधीनता का।

जानें ही न तो

१९८. दुःख को दुःख मानने पर ही दुःख दुखी बना सकता है। अगर दुःख को दुःख ही न माना जाय तो वह क्या बिगाड़ सकता है ?

सुख की भीख

१९६. सुख देने में सुख है, सुख लेने में सुख नहीं है। सुख माँगने से सुख नहीं मिलता है। लोग सुख की भीख माँगते-फिरते हैं, सुख के लिए भिखारी बने फिरते हैं, इसी कारण उन्हें सुख नहीं मिलता।

वन्दनीय हैं वे

२००. जगत् उसी की वन्दना करता है, जो जगत् के आघात सहन करता हुआ भी जगत् के उपकार में ही अपना सर्वस्व लगा देता है।

घरे से बाहर

२०१. सूर्य अपने मण्डल में ही छिपा रहे तो उसकी ऊर्ध्व कैसे हो सकती है? अपने मण्डल के बाहर निकलने से ही उसकी ऊर्ध्व है। इसी में उसकी सार्थकता है। मानव-शक्ति की सार्थकता भी इसी में है कि वह दीन-हीन जनों की अनुकम्पा करने के समय घर में ही घुस कर न बैठे रहे।

मर्यादा में सुख

२०२. समुद्र नदियों को निमन्त्रण दे कर बुलाता नहीं है; फिर भी समस्त नदियाँ उसी में जा कर मिलती हैं। इसका कारण यह है कि समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। संसार की सभी नदियाँ समुद्र में ही जा कर मिलती हैं, मगर कभी कोई समुद्र चार अंगुल भी नहीं बढ़ता। जो पुरुष समुद्र की भाँति मर्यादा की रक्षा करते हैं और निष्काम रहते हैं, उन्हें शान्ति भी मिलती है और उनके पास ऋद्धियाँ दौड़-दौड़ कर आती हैं।

रोयें क्यों ?

२०३. पुरुषार्थ करने से कुछ-न-कुछ फल निकल सकता है, मगर रोना तो अपने-आपको डबोना ही है।

निरा बनियापन

२०४. त्याग के बदले में किसी वस्तु की कामना करना निरा बनियापन है। ऐसे त्यागी और सट्टेबाज में क्या अन्तर है? सच्चा त्यागी वही है, जो निष्काम भावना से त्याग करता है।

वक्त भाग रहा है

२०५. जाग, ए मानव, उठ। समय सरपट चाल से भागा जा रहा है। तुझे जो क्षण मिला है, वह फिर कभी नहीं मिलेगा। मनुष्य-जीवन की ये अनमोल घड़ियाँ अग्र भोग-विलास में गँवा देगा तो सदा के लिए पश्चात्ताप करना ही तेरी तकदीर में होगा; इसलिए अक्षय कल्याण की साधना के मार्ग पर चल। देख, अनन्त मंगल तेरे स्वागत की प्रतीक्षा कर रहा है।

संशय की आग

२०६. सन्देह आग के समान है। जब वह हृदय में भड़क उठती है तो मनुष्य की निर्णायक शक्ति उसमें भस्म हो जाती है और मनुष्य किकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है; अतएव संशय का अंकुर फूटते ही उसे शीघ्र समाधान द्वारा हटा देना उचित है।

जीर्ण शरीर = फटी पोशाक

२०७. लोगों को पुरानी और फटी पोशाक बदलने में जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द ज्ञानी को मृत्यु के समय शरीर बदलते समय होता है।

वह प्रकाश नहीं देगा

२०८. जिस दीपक में केवल बत्ती होगी या केवल तेल ही होगा, वह प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में अकेली क्रिया से या क्रिया के अभाव में अकेले ज्ञान से कल्याण नहीं हो सकता।

हाँ-में-हाँ और सत्य

२०६. किसी एक सम्प्रदाय, धर्म या मजहब के पीछे जो उन्मत्त है, जो स्वार्थवश अच्छे-बुरे की परवाह नहीं करता, जो वास्तविकता की उपेक्षा करके हाँ-में-हाँ मिलाना जानता है, ऐसा मनुष्य सत्य को नहीं पहचान सकता।

अभय : सत्य पर श्रद्धा

२१०. अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी-न-किसी कोने में सत्य के प्रति अश्रद्धा का भाव मौजूद है। सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है, वह निडर है। संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती।

मूर्खता यहीं से

२११. छोटी बात को महत्व देना और बड़ी को भूल जाना, बस यहीं से मूर्खता आरम्भ होती है।

मानव-धर्म

२१२. सभी धर्म महान् हैं, किन्तु मानव-धर्म उन सब में महान् है।

ममता पर विजय

२१३. असल में सुखी वही है जिसने ममता पर विजय प्राप्त कर ली है।

राष्ट्र सर्वोपरि

२१४. राष्ट्र की रक्षा में हमारी रक्षा है और राष्ट्र के विनाश में हमारा विनाश है।

जहाँ जीत बनती है हार

२१५. कपट-नीति से काम लेने वाले की विजय कभी-न-कमी पराजय के रूप में परिणत हुए बिना नहीं रहेगी। वह अपने कपट का आप ही शिकार बन जाएगा।

उन्हें क्यों नहीं देखते

२१६. तुम बाहर के शत्रुओं को देखते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे हैं, उन्हें क्यों नहीं देखते? वही तो असली-शत्रु हैं।

न ओर, न छोर

२१७. पशु कम-से-कम वस्तुओं पर अपना निर्वाह करता है। वह पेट-भर खाने के सिवाय कोई संग्रह नहीं करता, मगर मनुष्य की संग्रह-लालसा का कहीं ओर-छोर नहीं।

फिर भी बेहोश

२१८. ज्यों-ज्यों मांस-मदिरा का प्रचार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों रोग बढ़ते जाते हैं, नयी-नयी आश्चर्यजनक बीमारियाँ डाकिनों की तरह पैदा हो रही हैं, उम्र का औसत घटता जाता है, शरीर की निर्बलता बढ़ती जाती है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है, देखते-देखते चटपट मौत आ घेरती है, फिर भी अन्धी दुनिया को होश नहीं आता।

जिसे —

२१९. बालक का गुड़िया की तरह सिंगार कर और अच्छा भोजन दे कर माँ-बाप छुट्टी नहीं पा सकते। जिसे उन्होंने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हें करना है। जीवन-निर्माण का अर्थ है, संस्कार-संपन्न बनाना और बालक की विविध शक्तियों का विकास करना।

चतुष्पद नहीं चतुर्भुज

२२०. विवाह का उद्देश्य चतुष्पद बनना नहीं, चतुर्भुज बनना है। विवाह पाशविकता का पोषण नहीं करता, उसे सामर्थ्य का पोषक होना चाहिये।

कोई समझाये तो -

२२१. मनाने वाला हो तो मन क्या नहीं मान लेता ? वह सभी कुछ समझ लेता है, समझाने वाला चाहिये । विवेक से कार्य करने वालों के लिए मन अबोध शिशु के समान है ।

गरीबों का कर्ज

२२२. आप धनवान् हैं तो क्या हुआ, गरीबों का आप पर ऋण है ।

बुराई की जड़

२२३. मैं बार-बार कहता हूँ कि सब अनर्थों का मूल विलासिता है ।

जिम्मेदारी समझो

२२४. जितना कर सकते हो, उतना ही कहो और जो कुछ कहते हो उसे पूर्ण करने की अपने ऊपर जिम्मेदारी समझो ।

आँखें खुल जाएँगी

२२५. विचित्र न्याय है ! गन्दगी फैलाने वाले आप अच्छे और ऊँचे तथा गन्दगी मिटाने वाले (हरिजन) लोग बुरे और हीन । न्याययुक्त बुद्धि से उनके साथ अपने कर्तव्य की तुलना करके देखो तो आपकी आँखें खुल जाएँगी ।

ऊँचा पद, ऊँचा फर्ज

२२६. सच्चे शिक्षक की बदौलत संसार को श्रेष्ठ विभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं । संसार का उत्थान करने वाली महान् शक्तियों के जन्मदाता शिक्षक ही हैं । शिक्षक मनुष्य-शरीर के ढाँचे में मनुष्यता उत्पन्न करते हैं । शिक्षक का पद जितना ऊँचा है, उसका कर्तव्य भी उतना ही महान् है ।

तो फिर -

२२७. कुंभार जब मिट्टी ले कर घड़ा बनाने बैठता है, तब वह मिट्टी में-से हाथी-घोड़े के निकलने की आशा नहीं रखता । जूलाहा सूत ले कर कपड़ा बनाता है तो उसमें से ताँबा-पीतल निकलने की आशा नहीं रखता । किसान बड़े परिश्रम से खती करता है, मगर पौधों में से हीरा-मोती निकलने की आकांक्षा नहीं करता । तो फिर धर्म का अनुष्ठान करने वाले लोग धर्म से पुत्र या धन की आशा क्यों रखते हैं ? जो जिसका कारण ही नहीं, वह उसे कैसे पैदा करेगा ?

समुद्र और आत्मा

२२८. एक आदमी भरे समुद्र को लकड़ी के टुकड़े से उलीच रहा था । किसी ने उससे कहा—‘अरे पगले ! समुद्र इस प्रकार कैसे खाली होगा ?’ तब उसने उत्तर दिया—‘भाई, तुम्हें पता नहीं है । इस समुद्र का अन्त है, मगर इस आत्मा का अन्त नहीं है । कभी-न-कभी खाली हो ही जाएगा ।’

दृश्य और दृष्टा

२२९. दृश्य को देख कर द्रष्टा को भूल जाना, बड़ी भारी भूल है । क्या आप बतलायेंगे कि आपकी उँगली की हीरे की अँगूठी अधिक मूल्यवान् है या आप ?

साँप, शेर, आदमी

२३०. अगर साँप और सिंह की अपनी सफाई पेश करने की योग्यता मिली होती तो वे निडर हो कर तेजस्वी भाषा में कह सकते थे—‘मनुष्यो ! हम जितने क्रूर नहीं, उतने क्रूर तुम हो । तुम्हारी क्रूरता के आगे हमारी क्रूरता किसी गिनती में ही नहीं है ।’

विषमता का विषदंश

२३१. संग्रहशीलता ने समाज में वैषम्य-का-विष पैदा कर किया है और वैषम्य ने समाज की शान्ति का सर्वनाश कर दिया है।

मिटा हुआ लगता है किन्तु -^१

२३२. अत्याचार के द्वारा एक बार अत्याचार मिटा हुआ मालूम होता है; लेकिन वह निर्मूल नहीं होता, वह समय पा कर भयंकर रूप से ज्वालामुखी की तरह फट पड़ता है और उसकी लपटें प्रतिपक्षी का विनाश करने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक उग्रता से लपलपाने लगती हैं।

सत्याग्रह : बलों-का-बल

२३३. सत्याग्रह के बल की तुलना और कोई बल नहीं कर सकता। इस बल के सामने मनुष्य-शक्ति तो क्या देव-शक्ति भी हार मान जाती है।

निर्विकार होना धर्म

२३४. धर्म कोई बाहर की वस्तु नहीं है। वह अन्दर से पैदा होती है। खराब कामों से बचना और सदाचार के साथ संबन्ध जोड़ना ही धर्म है।

तलवार आत्मा, म्यान शरीर

२३५. आत्मा और शरीर को तलवार और म्यान की तरह समझ लो तो फिर क्या चाहिये? समझ लो कि आत्म-विजय की चाबी तुम्हारे हाथ में आ गयी है।

ये कुत्ते

२३६. कुत्ते जिस घर में हिल जाते हैं, वहाँ बार-बार आते हैं, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार जिसके हृदय

में हिल जाते हैं, वहाँ बार-बार आते रहते हैं। महात्मा पुरुष उनके आने का द्वार ही बन्द कर लेते हैं।

चलते चलो

२३७. चिड़टी, हाथी के बराबर नहीं चल सकती तो क्या चलना छोड़ बैठती है? अगर तुम दूसरे के बराबर प्रगति नहीं कर सकते तो हर्ज नहीं। अपनी शक्ति के अनुसार ही चलो, पर चलते चलो। एक दिन मंजिल तय हो ही जायेगी।

धन और धर्म

२३८. सम्पत्ति के लिए जीवन मत हारो। जीवन को संपत्ति के लिए मत समझो। सम्पत्ति पर जीवन निछावर मत करो। सम्पत्ति के लिए धर्म को घटा मत बताओ। धन को बड़ा मत मानो, धर्म को बड़ा समझो। दोनों-में-से-एक के जाने का अवसर आये तो धर्म को मत जाने दो। धर्म-रहित सम्पत्ति घोर विपत्ति है।

अनाथ नहीं, नाथ

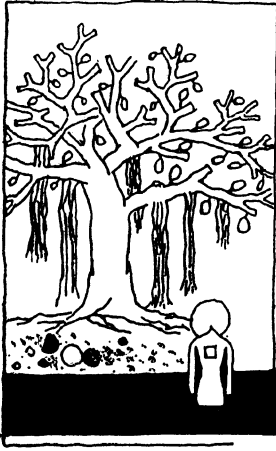
२३९. वास्तव में वह अनाथ है, जो दूसरों का नाथ होने का अभिमान करता है। सनाथ वह है जो अपने को दूसरों का नाथ नहीं मानता और अपनी आत्मा के सिवाय दूसरों को अपना नाथ नहीं समझता।

मृत्यु भी महोत्सव

२४०. ज्ञानी जन मृत्यु को भी महोत्सव मानते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर-पीजरे से आत्मा का छुटकारा होना बुरी बात नहीं है।

एक कड़ी यानी पूरी साँकल

२४१. साँकल की एक कड़ी खींचने से जैसे सारी साँकल खिंच आती है, उसी प्रकार परमात्मा की कोई भी शक्ति अपने में खींचने से समस्त शक्तियाँ खिंच आती हैं।



संस्कार-बीज

२४२. बड़े वृक्ष के संस्कार जैसे उसके बीज में मौजूद रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा की हुई क्रियाओं के संस्कार आत्मा में मौजूद रहते हैं और वे संस्कार क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा को शुभ या अशुभ फल प्रदान करते हैं।

क्यों छोड़ें सम्यक्त्व

२४३. चिमगादड़ दिन में नहीं देख सकता तो क्या हम दिन में देखना छोड़ देते हैं? तो फिर किसी मिथ्या दृष्टि के मिथ्यात्व को देख कर हम अपना सम्यक्त्व क्यों छोड़ दें?

एकाग्रता का मर्म

२४४. पानी भरने के लिए गयी हुई पाँच-सात सहेलियाँ हास्य-विनोद करती हैं, बातचीत करती हैं, फिर भी उनका ध्यान तो सिर पर रखे घड़े में ही रहता है। इसी प्रकार जब मन को परमात्मा में एकाग्र कर लिया जाता है तो दूसरे कार्य भी रुकते नहीं हैं।

न प्रसन्न, न खिन्न

२४५. सच्चा साधु वह है जो बन्दन नमस्कार करने से प्रसन्न नहीं होता और गालियाँ सुन कर क्रुद्ध नहीं होता। समभाव साधु का सर्वस्व है। इससे विरुद्ध बर्ताव करने वाला साधु, साधुता को अपमानित करता है।

अहंकार कैसा ?

२४६. अहंकार की बात तो तब होगी जब तुम अपने को जिस्म, जिगर और जहान मानोगे। अपने को जिस्म और जिगर समझना अहंकार है। जब जिस्म, जिगर और जहान अलग हो जाते हैं तब शुद्ध आत्मा के सिवाय और बचता ही क्या है? उस अवस्था में उसे परमात्मा कहना अभिमान की बात कैसे हो सकती है? अभिमान तभी तक रहता है जब तक संसार के प्रति मोह बना रहता है।

सबसे पहला किसान

२४७. आज कुछ नागरिकों की दृष्टि में किसान खराब समझे जाते हैं; लेकिन यदि किसानों को खराब समझा जाएगा तो भगवान् ऋषभदेव को सबसे पहले खराब कहना पड़ेगा, क्योंकि वे सबसे पहले किसान थे। यदि भगवान् अच्छे हैं तो किसान बुरे कैसे कहे जा सकते हैं?

धर्म के नाम से -

२४८. जब तक मनुष्य पूर्ण धर्म नहीं जानता और धर्म के नाम से अधर्म को पकड़े रहता है, तब तक क्लेश और कलह होना स्वाभाविक है। जब किसी महापुरुष की शरण में जाने पर धर्म की प्राप्ति होती है, तब सब प्रकार के क्लेश और कलह का अन्त हो जाता है।

पूर्ण में-से पूर्ण

२४९. जो पूर्णता पर पहुँच जाता है, वह दूसरों का कल्याण कैसे कर सकता है, यह जानने के लिए अक्षर को देखो। सामने किसी अक्षर को आदर्श रख कर, उसे देख-देख कर उसी सरीखा अक्षर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि दूसरा अक्षर बनाने में, उस पहले अक्षर ने कुछ नहीं किया है, फिर भी उसे देख कर — उसे आदर्श मान कर ही दूसरा अक्षर बनाया गया है। इस प्रकार यह समझना कठिन नहीं है कि जैसे आदर्श अक्षर को देख कर दूसरा वैसा ही अक्षर बनाया जा सकता है, इसी प्रकार जो पूर्ण है वही दूसरे को पूर्ण बना सकता है।

अन्तहीन बढ़त

२५०. इसके अतिरिक्त एक बड़ी कठिनाई यह है कि जो भोग भोगे जाते हैं वे तृष्णा को कम करने के बदले बढ़ाते हैं। जैसे आग में ईंधन डालने से वह बढ़ती है, उसी प्रकार भोग भोगने से तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

अज्ञान हटाओ

२५१. तुम्हें जो कठिनाई दिखलायी पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही है। अज्ञान को दूर कर दो तो कुछ भी कठिनाई नहीं रहेगी। शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है उसे सुन कर अज्ञान हटाओ; फिर देखोगे कि तुम्हारे आगे भी सभी कठिनाइयाँ समाप्त हो गयी हैं और तुम्हारा मार्ग एक दम साफ और सुगम बन गया है।

दुःख को पचाओ

२५२. दुःख किसी को सबल बनाता है, किसी को निर्बल बनाता है। धैर्य रख कर जो दुःख को पचा लेता है, वह सबल बन जाता है। जो दुःख पढ़ने पर हिम्मत

हार बैठता है, रोता-झींकता है और दीनता धारण कर लेता है, वह और अधिक दुर्बल बन जाता है।

अनुभव ही नहीं होगा

२५३. कष्ट और संकट आने पर अगर दृढ़ता और वीरता के साथ उन्हें सहन किया जाए तो दुःख का अनुभव होगा ही नहीं, अगर होगा भी तो अपेक्षाकृत कम होगा।

दीनता अशोभन

२५४. वीर और विवेकी पुरुषों को दीनता धारण करना शोभा नहीं देता।

संकट से हारें नहीं

२५५. संकट आने पर दीन-दुःखी बन जाना, उससे पराजित होना है और दृढ़ता रखना उस पर विजय पाना है।

अन्धा और सूर्य

२५६. आत्मदृष्टि के बिना भगवान् की शरण में जाना अन्धे का सूर्य की शरण में जाने का समान है।

कोई लाभ नहीं

२५७. सूर्य का प्रकाश फैला होने पर भी अगर कोई अपनी आँखें मूंदे रखता है तो वह सूर्य से कोई लाभ नहीं उठा सकता।

दृढ़ता चाहिये

२५८. जो भी मार्ग पकड़ा जाए उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ा जाना चाहिये और वह मार्ग ज्ञानियों द्वारा बतलाया हुआ होना चाहिये।

राग-द्वेष

२५९. रागद्वेष का नाश हो सकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि उनमें

न्यूनाधिकता होती है। जो वस्तु न्यून और अधिक होती है, वह कभी मिट भी सकती है।

कोई कठिनाई नहीं

२६०. आप कुछ नहीं दे सकते तो मीठे वचन तो दे सकते हैं। मीठे वचनों के लिए कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती। मीठे वचन बोलने में कोई विशिष्ट श्रम या कठिनाई भी नहीं होती। वे सबके लिए सर्वत्र सुलभ हैं।

सक्रिय अहिंसा

२६१. अहिंसा जीवित होनी चाहिये। मुर्दा अहिंसा से कोई लाभ नहीं होता। अहिंसा ऐसी सक्रिय होनी चाहिये जो हिंसा का प्रबल विरोध करे।

अहिंसा वही है जो -

२६२. वास्तव में अहिंसा वह है जो हिंसा का प्रबल सिरोध करे। जैसे सूर्य वही है जो अन्धकार का विरोध करता है; दबा वही है जो व्याधि का विरोध करे; इसी प्रकार अहिंसा वही है जो हिंसा का विरोध करे।

दृढ़ता में पूर्णता

२६३. मन की दृढ़ता के बिना कोई भी मनुष्य, किसी भी महत्त्वपूर्ण काम को पूर्णता तक नहीं पहुँचा सकता।

साढ़े चौहत्तर

२६४. चिट्ठी पर लिखा जाने वाला ७४॥ (साढ़े चौहत्तर) का अंक यह सूचना देता है कि सत्य का परित्याग मत करो। सात का अंक कहता है कि मेरी (सत्य की) रक्षा करो और चार का अंक प्रकट करता है कि चाहे लक्ष्मी चौगुनी होती हो, फिर भी सत्य मत छोड़ो। दो लकीरें यह बतलाती हैं कि सुख-दुख कर्म से मिलते हैं।

वही गड़बड़ है

२६५. जब तक शरीर के प्रति ममता है, तब तक आत्मा परमात्मा से दूर है। शरीर के प्रति जो ममता है वही सब गड़बड़ मचाये है। इसे मारने की आवश्यकता है।

सच्ची सभा-सोसायटी

२६६. जो सभा-सोसायटी कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ के लिए न हो; किन्तु जगत् का हित करने के लिए हो, वही सच्ची सभा-सोसायटी है; अन्यथा उसे स्वार्थियों का गुट कहा जाएगा। इसी प्रकार वही समाज, समाज है जो समष्टि के हित को अपना लक्ष्य बनाता है।

बाहर शुद्ध, भीतर शुद्ध

२६७. जब तक बाह्य आचरण शुद्ध नहीं है, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि आन्तरिक आचरण शुद्ध है। मुझमें साधुता हो मगर साधु के योग्य वेष मैंने धारण न किया हो तो क्या आप मुझे साधु कह सकते हैं?

परमात्मा के पैर

२६८. किसी दुखी को देख कर यह समझो कि यह परमात्मा का चरण है। इस प्रकार मानते रहने पर तुम परमात्मा को प्राप्त कर सकते हो। दुखी को परमात्मा का पैर मान कर परमात्मा को प्राप्त करने के अनेक उदाहरण हैं।

तो क्या नाराज होंगे

२६९. आपके कपड़े पर कोई दाग लगा हो और दूसरा उसे साफ कर दे तो क्या आप उस आदमी पर नाराज होंगे? इसी प्रकार जिस निन्दा से आत्मा का दुःख मिटता है, उस निन्दा को सुन कर आप बुरा क्यों मानते हैं?

जहाँ -

२७०. किसी ऐसी जगह के द्वार ही क्यों न खटखटाये जाएँ, जहाँ हमारी सब अशान्तियाँ दूर हो कर वास्तविक सुख प्राप्त हो। वह स्थान परमात्मा की शरण के सिवाय अन्य नहीं हो सकता। शान्ति का सच्चा और पूर्ण कारण वही है।

सच्चा धर्माधिकारी

२७१. जो अपने दुःख को तो दुःख समझता है; किन्तु दूसरों के दुःख को महसूस नहीं करता, वह धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। वस्तुतः धर्म का अधिकारी वह है, जो अपने दुःखों की चिन्ता न करे किन्तु दूसरों के दुःखों को दूर करने की कोशिश करे। दूसरों को सुखी देख कर प्रसन्न हो और दुःखी देख कर दुःखी हो, वही सच्चा धर्माधिकारी है।

इसी प्रकार

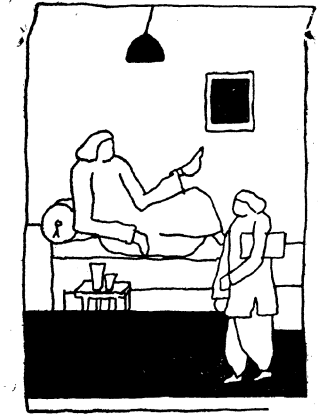
२७२. खाली चूल्हे में फूँक मारने से आँखों में राख पहुँचती है। इसी प्रकार यदि आत्मा में ज्ञान-शक्ति मौजूद न हो तो महापुरुष की भेंट या उनके द्वारा दी हुई शिक्षा कुछ भी कारगर नहीं हो सकती।

वह सिद्ध है

२७३. जैसे पकी हुई खिचड़ी को कोई पुनः नहीं पकाता; यदि कोई पकाता है तो उसका यह काम व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार जिसने सब काम कर लिये हैं और करने के लिए शेष कुछ नहीं रह गया है, वह सिद्ध है।

इतना अवश्य जानें कि -

२७४. यदि तू अधिक न जाने तो इतना तो अवश्य जान कि जैसी तेरी आत्मा है, वैसी ही दूसरे की भी है। जो बात तुझे बुरी लगती है, वह दूसरे को भी वैसी ही लगती है।



आलस्य : जिन्दा कब्र

२७५. आलस्य मनुष्य को जीवित कब्र में डालता है। इसके कारण वह अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रखता और दूसरों पर दोष थोपता है।

पुद्गल-दास

२७६. आज लोगों को जो दुःख है, वह पुद्गलों का ही है। वे पुद्गलों के गुलाम बन रहे हैं। यदि धैर्य रखा जाए तो पुद्गल उनके गुलाम बन सकते हैं; किन्तु लोग धैर्य छोड़ कर पुद्गल के पीछे पड़े हुए हैं, इसी से दुःख बढ़ रहा है।

आपत्ति अध्यापिका

२७७. आपत्ति मनुष्य को महान् शिक्षा देती है, उसे उन्नत बनाती है। वह जितनी आपत्तियाँ सहन करता है, उतना ही अच्छा बनता है।

उतार फेंकिये कपड़े

२७८. कायरता और दुविधा के कपड़े फेंक कर आत्म-स्वरूप को पहिचानिये। आपका आत्मा ईश्वर के आत्मा से छोटा नहीं है।

भ्रम-भंग

२७९. आत्मा भ्रम में पड़ा हुआ है, यह सत्य है, मगर उस भ्रम को वह स्वयं ही मिटा सकता है। यदि वह उद्योग करे तो भ्रम मिटा कर अपने स्वरूप को आसानी से जान सकता है।

ज्ञान प्रकाश, अज्ञान तिमिर

२८०. जब बुद्धि में फितूर होता है तब वास्तविक पदार्थ उल्टा मालूम होने लगता है। यह भ्रम ज्ञानरूपी प्रकाश से मिट सकता है। ज्ञान प्रकाश है, अज्ञान अन्धकार है।

वैसे ही साधुओं को -

२८१. यदि हमारे श्रावकों में भूत-पिशाच आदि का भय रहा तो यह हमारी कमजोरी होगी। विद्यार्थी के परीक्षा में फेल होने पर जैसे अध्यापक को शर्मिन्दा होना पड़ता है, वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं में भय होने पर साधुओं को शर्मिन्दा होना चाहिये।

साधु-मार्ग

२८२. यदि हम साधु लोग भी मंत्र-तंत्रादि का ढोंग करने लगें तो बहुत लोग हमारे पास उमड़ पड़ें; किन्तु यह साधु का मार्ग नहीं है। हम तो महावीर का धर्म सुनाते हैं, जिसे पसंद पड़े वह ले ले और जिसे पसंद न पड़े वह न ले।

मूल में भूल

२८३. हमारी भूल का मूल कारण यही है कि शरीर के अनित्य होने से हम आत्मा को भी अनित्य मानने लग जाते हैं। आत्मा नित्य है। शरीर अनित्य है। आत्मा को नित्य मानने पर पर्यायों अपने-आप जुदा मालूम होंगी और अनित्य भी मालूम होंगी।

स्वयं परमात्मा

२८४. आत्मा को परमात्म पद पर पहुँचाने का उपाय उसे परमात्मा के ध्यान में तल्लीन कर देना है। जब ध्यान द्वारा आत्मा, परमात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता है, तब वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।

रूपया और आत्मा

२८५. विचार कर देखो कि रूपया क्या है और आत्मा क्या है? रूपया जड़ है। वह कट सकता है, घिस सकता है, नष्ट हो सकता है, और एक के पास से दूसरे के पास जा सकता है। आत्मा चैतन्य है। वह कट नहीं सकता, घिस नहीं सकता और कभी नष्ट नहीं हो सकता। फिर भी लोग सिक्के से प्रेम करते हैं, उसे अपनाते हैं और उसके बिना जीवन निस्सार समझते हैं।

खोटा फेंक दो

२८६. धर्म की कसौटी आत्मा है। आत्मा-रूपी कसौटी पर कसने पर जो धर्म खरा उतरे - जो बात आत्मानुमोदित हो, उसे स्वीकार कर लो और जो बात खोटी साबित हो उसे फेंक दो।

सम्यक् विवेक

२८७. कांटों से बचने के लिए संपूर्ण पृथ्वी को चमड़े से नहीं मढ़ा जाता। ऐसा करना संभव भी नहीं है। इसी प्रकार सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिए संसार के समस्त पोथे पलटने की आवश्यकता नहीं है। जिस पुरुष के पास सम्यक् विवेक है उसके लिए सत्य-असत्य की समस्या सहज ही हल हो जाती है। विवेक वह कसौटी है, जिस पर सत्य-असत्य की परख होती है।

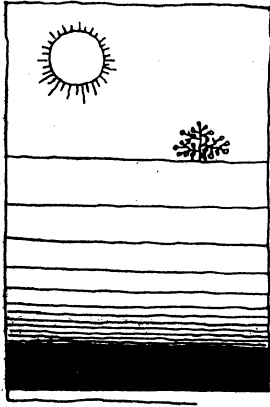
इष्ट-अनिष्ट

२८८. जिस वस्तु का बनाना तेरे सामर्थ्य से बाहर है, उसे नष्ट करने का तुझे

क्या अधिकार है ? जैसे तुझे सुख इष्ट है, उसी प्रकार इसे भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है ।

कोई हर्ज नहीं

२८९. सब ग्रन्थ और पोथे न पढ़े तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन उनका सार समझ लेना चाहिये । सबका सार इतना ही है कि किसी जीव को मत मारो । अहिंसा ही सुख शान्ति देने वाली है ।



उसी प्रकार

२९०. जिस प्रकार सूर्य के सामने अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार परमात्मा से साक्षात्कार होने पर आत्मा में कोई भूल शेष नहीं रहती ।

शुद्ध राष्ट्रियता

२९१. शुद्ध राष्ट्रियता क्या है ? उसकी उपासना किस प्रकार होती है ? जिस राष्ट्रियता में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सहायक और पूरक होता है, जिसमें प्रतिस्पर्द्धा के बदले पारस्परिक सहानुभूति की प्रधानता होती है, जहाँ विश्व-कल्याण के प्रयोजन से राष्ट्रिय नीति का निर्धारण होता है — वही शुद्ध राष्ट्रियता है ।

आहार में विवेक

२९२. संसार में जो रोग-शोक फैल रहे हैं उनमें-से अधिकांश उन लोगों की देन हैं, जो भोजन-पान में विवेकहीन हो कर प्रवृत्ति करते हैं ।

नहीं रहेगा, नहीं रहेगा

२९३. तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो, उसके लिए भले ही जान दे दो, लेकिन वह अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा — नहीं रहेगा । वह दूसरों का बन जाएगा ।

सच्चे मर्द की तरह

२९४. भूल हो जाना अच्छी बात नहीं है, पर उस भूल को छिपा कर अपने-आपको भूल-रहित प्रकट करने की भूल करना बहुत ही और जघन्य नीच कृत्य है । अधिक-से-अधिक सावधान रह कर भूल न होने देने की चेष्टा करो, पर फिर भी अगर भूल हो जाए तो सच्चे मर्द की तरह उसे स्वीकार कर लो ।

अपनी तराजू पर

२९५. ज्ञानवान् पुरुष दूसरों की दलीलों में नहीं पड़ते । वे अपने-आपको अपनी ही तराजू पर तोलते हैं । थोड़ी-सी भूल हो जाने पर उसे हिमालय-सी समझते हैं । वे अपने को दोष का पात्र प्रकट करते करते हैं ।

काँटे हटाऊँगा

२९६. भले ही मैं एक काँटा उठा सकूँ, लेकिन एक काँटा उठाने से भी मेरी गणना काँटे बिखेरने वालों में तो न होगी — मैं काँटे उठाने वालों में ही गिना जाऊँगा ।

चालबाज लोग

२९७. चालबाजियों से काम लेने वाले लोग धर्म का मर्म नहीं समझते । उनका पैर सत्य पर नहीं टिकता ।

मानें : भूल को भूल

२९८. सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है; लेकिन उसे बुरा न समझ कर अच्छा समझता है। भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयंकर नहीं रहती, मगर जब भूल-भूल ही नहीं मालूम होती, तब भूलों की परम्परा चल पड़ती है और भूल करने वाला उसका परिमार्जन करने की ओर ध्यान भी नहीं देता।

लोग समझें तो

२९९. कोई बेईमानी से चाहे जितनी कमाई करे, लेकिन दूसरा आदमी एक ही ठहराव से उसकी सारी कमाई डुबो देता है। ऐसा होते हुए भी लोग समझते नहीं हैं और धर्म के काम भी अविवेक से करते हैं। आप यदि संसार को जानते हैं तो दगा-बाजी के काम छोड़ कर सच्चाई को ही क्यों नहीं अपनाते ?

प्रस्ताव

३००. प्रस्ताव वे ही लाभदायक होते हैं जो ठोस बृत्तियाद पर स्वीकार किये जाते हैं और कार्य रूप में परिणत किये जाते हैं।

हिंसा होगी पानी-पानी

३०१. जिन्होंने अहिंसा को उपलब्ध किया है, जिन्हें अहिंसा पर अचल आस्था है, वे जानते हैं कि अहिंसा में अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्ति विद्यमान है। अहिंसा के बल के सामने हिंसा गल कर पानी-पानी हो जाती है।

मैं खुदा हूँ

३०२. मैं देह नहीं हूँ इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर, तू यदि समझदार है तो, यह क्यों नहीं कहता कि मैं खुदा हूँ।

असाधारण वह

३०३. कठिनाइयों के आने से पहले ही, उनकी कल्पना मात्र से भयभीत मत बनो। तुम्हारे भीतर जो शक्ति विद्यमान है, वह साधारण नहीं है।

मन हो, कन हो; असली हो

३०४. कस्तूरी किसी के घर हजार मन हो और किसी के घर एक कन हो तो चिन्ता नहीं, पर चाहिये सच्ची कस्तूरी।

अद्भुत रेडियम

३०५. महापुरुषों ने स्वयं त्याग करके फिर त्याग का उपदेश दिया है और सच्ची शान्ति सिखायी है। महापुरुष त्याग के इस अद्भुत रेडियम को यथाशक्ति ग्रहण करने के लिए उपदेश देते हैं।

भोजन : बढ़िया, सादा

३०६. बढ़िया भोजन की अपेक्षा सादा भोजन करने से दया कितनी अधिक हो सकती है, इस बात पर विचार करो।

तीन पुतलियाँ

३०७. पत्थर की पुतली, कपड़े की पुतली, और शक्कर की पुतली तीनों स्नान करने गयीं। पत्थर की पुतली पानी में डूब कर भी वैसी ही बनी रही। कपड़े की पुतली पानी में भीगी तो सही पर धूप लगने पर फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी। शक्कर की पुतली पानी में डूब कर उसी में रह गयी। इन तीनों में-से आप क्या बनना चाहते हैं ?

वही त्यागी है

३०८. जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मात्सर्य, अज्ञान आदि न हों उसी को त्यागी समझना चाहिये। ऐसा त्यागी ही महापुरुष कहलाता है।

केंचुल नहीं, विष

३०९. साँप ऊपर की केंचुली त्याग दे; मगर विष का त्याग न करे तो उसकी भयंकरता कम नहीं होती। इसी प्रकार जो ऊपर से त्यागी होने का ढोंग करते हैं, परन्तु अन्दर से राग-द्वेष आदि विकारों से ग्रस्त हैं, वे महापुरुषों की गणना में नहीं आते।

बड़ा बैरी

३१०. जो लोग साधु हो कर भी आत्मा को नीचे गिराते हैं, वे अपना ऐसा अहित करते हैं जैसा सिर काटने वाला बैरी भी नहीं कर सकता। ऐसे दुरात्मा को कण्ठ छेदने वाले बैरी से भी अधिक बड़ा बैरी समझो।

मित्र भी, शत्रु भी

३११. हमारी आत्मा एक तरह से हमारा मित्र भी है। और दूसरी तरह से शत्रु भी है। ऐसी स्थिति में हमारा कर्तव्य है कि हम मित्र-आत्मा के साथ भेंट करें और शत्रु आत्मा से बैर करें।

पखाल और परमात्मा

३१२. वायु मशक को तिराने वाली है; लेकिन वह कहती है कि मुझे अपने भीतर भरों तो मैं तुझे तारूंगी, अन्यथा मेरे भरोंसे मत रहना। इसी तरह परमात्मा कहता है—मुझे हृदय से धारण कर लो तो मैं संसार-सागर के जल में तुम्हें नहीं डूबने दूंगा। अगर ऐसा न किया तो मैं क्या कर सकता हूँ?

मालिक और गुलाम

३१३. मालिक और गुलाम में जो अन्तर है वही आन्तरिक उत्साह और सद्भावना के साथ संयम पालने वाले और

बिना मन लोक-दिखावे के लिए संयम पालने वाले साधु में है। जो भावना के साथ संयम पालता है वह मालिक के समान है और जो दिखावे के लिए संयम का पालन करता है वह गुलाम के समान है।

वह है महापुरुष

३१४. महापुरुष वह है जिसमें राग और द्वेष न हो अर्थात् जिसमें राग आदि आत्मिक दोषों को पूर्णरूप से जीत लिया हो और दोषों को जीतने के फलस्वरूप जिसमें पूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो गया हो वही महापुरुष है।

ज्ञान-संयुक्त क्रिया

३१५. शास्त्र में चारित्र्य की बड़ी महिमा प्रकट की गयी है; लेकिन अगर कोई कोरी क्रिया को ही पकड़ कर बैठ जाए और क्रिया ज्ञानयुक्त न हो तो जैसे अन्ध और पंगु के सहयोग के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान के संयोग के बिना की जाने वाली क्रिया से भी फल की प्राप्ति नहीं होती।

अविकल पुरुष

३१६. न तो ज्ञान-विकल पुरुष सिद्धि पाता है और न क्रिया-विकल पुरुष सिद्धि पाता है। जब ज्ञान और क्रिया का संयोग होता है तभी मुक्ति मिलती है।

यह गुलामी है

३१७. आप जिन आलीशान हवेलियों पर गर्व करते हैं, उन्हें क्या आपने बनाया है? अगर उनका एक भी पत्थर खिसक जाए तो उसे भी आप नहीं जमा सकते; फिर गर्व का आधार क्या है? इस तरह दूसरों के बनाये मकान में रहना परतन्त्रता है—गुलामी है; इसमें स्वतन्त्रता कहाँ है?

वक्त की नब्ज

३१८. समय को देखो। युगधर्म को पहिचानो। अपनी बुद्धि को विवेक के मार्ग पर चलाओ। ज्ञान के द्वारा निर्धारित काम करने वाले ही विजयी होते हैं। ज्ञान से निर्णय किये बिना ही काम करने वाले विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

वह अन्धा है

३१९. जिसे शास्त्ररूपी चक्षु प्राप्त नहीं हैं, वह अन्धा है। हजारों वर्ष पहले की बातें शास्त्र द्वारा ही जानी जा सकती हैं। दूर-से-दूर की बातें भी शास्त्र ही बतलाता है।

यथार्थ बोध

३२०. जिन्होंने वस्तुत्व का यथार्थ बोध प्राप्त नहीं किया है और जो बहिर्दृष्टि बने हुए हैं, वे अपने सुख-दुःख का कारण सही रूप में नहीं समझ पाते।

तात्त्विक दृष्टि

३२१. कोरी बातें बना कर संसार पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करना सच्चे ज्ञान का फल नहीं है। ज्ञानी वह है जो प्रत्येक बात पर गहराई से, तात्त्विक दृष्टि से विचार करता है।

तो एक दिन

३२२. पथभ्रष्ट मनुष्य भी, अगर उसके हृदय में ज्ञान विद्यमान है तो एक दिन सत्य पर आये बिना नहीं रहेगा; अतएव प्रत्येक दशा में ज्ञान जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होता है।

ज्ञान यानी स्वानुभव

३२३. ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत-से पौथों की आवश्यकता नहीं होती।

ज्ञान तो एक छोटी-सी घटना और थोड़ी-सी बात से भी हो सकता है; और ज्ञान होने पर अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे प्रकाश होने पर अन्धकार।

झिरी बंद करें

३२४. सम्यग्ज्ञान के अपूर्व प्रकाश में दुःखों के आद्य स्रोत को देख कर उसे बन्द कर देने से ही दुःखों का अन्त आता है।

मित्र कौन

३२५. सच्चा मित्र वह है जो घोर-से-घोर संकट आने पर भी अपने मित्र का साथ देता है और अपने मित्र को संकट से बचाने के लिए अपने प्राणों को भी संकट में डाल सकता है। सच्चे मित्र की कसौटी ऐसे अवसर पर ही होती है।

अहंकार और दैन्य

३२६. तत्त्व का बोध न होने के कारण आत्मा सुख में अहंकार करता है और दुःख में दीन बन जाता है।

कितना अन्तर है

३२७. अक्षर-ज्ञान से शून्य बालक भी पुस्तक के अक्षर देखता है और अक्षर-ज्ञान वाला भी देखता है; पर दोनों के देखने में कितना अन्तर है? यही अन्तर मिथ्या-ज्ञानी और तत्त्व-ज्ञानी के जानने में होता है।

अनुचित तृष्णा

३२८. संपूर्ण तृष्णा तो उच्च अवस्था प्राप्त होने पर ही जा सकती है, मगर अनुचित तृष्णा पर तो इस अवस्था में भी विजय प्राप्त की जानी चाहिये।

पैसा-ही-पैसा

३२९. जो धन का गुलाम है उसे अन्याय और न्याय नहीं सूझता। उसे पैसा-ही-पैसा सूझता है और जिसे पैसा-ही-पैसा सूझता है उसे भगवान् कैसे सूझेगा ?

असफलता ही सफलता

३३०. सच्चा पुरुषार्थी कभी हार नहीं मानता। वह अगर असफल भी होता है तो उसकी असफलता ही उसे सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा करती है।

समग्र हो कर

३३१. पुरुषार्थी न तो अपनी असमर्थता का रोना रोता है और न कार्य की असंभवनीयता का ही विचार करता है। वह अपनी थोड़ी-सी शक्ति को भी समग्रता के साथ प्रयुक्त करता है और कार्य सिद्ध कर लेता है।

भूल कहाँ है ?

३३२. यह देखना चाहिये कि आत्मा कहाँ भूल करता है? इस बात का ध्यान रखा जाए और जैसे गेहूँओं में-से कंकर निकाल दिये जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के दोषों को, उसकी त्रुटियों को, उसकी भूलों को निकाल दिया जाए तो आत्मा की शुद्धि हो सकती है।

सरल और सुगम

३३३. भक्ति वह अलौकिक रसायन है, जिसके द्वारा नर नारायण हो सकता है। भक्ति से हृदय में अपूर्व शान्ति और असाधारण सुख प्राप्त होता है। भक्ति का मार्ग सरल और सुगम है।

वेष और विकार

३३४. साधु का वेष धारण कर लेना सरल है, लेकिन हृदय के विकारों पर विजय प्राप्त कर लेना सरल नहीं है।

मोह की गाँठ

३३५. कोई साधु हो गया है इसका यह अर्थ नहीं कि उसने मोह की ग्रन्थि तोड़ डाली है। मोह-ग्रन्थि के टूट जाने की पहिचान है—अपनी प्रशंसा सुन कर प्रसन्न न होना और निन्दा सुन कर दुखी न होना।

परहेज किससे ?

३३६. लोग मनुष्य के शरीर को अछूत मान कर उससे परहेज करते हैं, मगर हृदय की अपवित्र वासनाओं से उतना परहेज नहीं करते। वास्तव में अपावन वासनाएँ ही मनुष्य को गिराती हैं; उनकी छूत से बचने की अत्यधिक आवश्यकता है।

हल पकड़ोगे तो —

३३७. अपनी शक्ति को पहचानो और उसके सहारे रहो। ऐसा करने से प्रकृति तुम्हारा साथ देगी। तुम हाथ में हल पकड़ोगे तो बैल भी तुम्हारी मदद करेंगे। अगर तुम हाथ-पैर ही नहीं हिलाओगे तो प्रकृति कैसे मदद करेगी ?

ऐसे मोती बनेंगे कि —

३३८. सत्य की सीप में अपने मन, वचन, काय को डाल दोगे तो ये मोती बन जाएँगे। ये ऐसे मोती बनेंगे जो राजा-महाराजाओं के आदर के ही पात्र नहीं बनेंगे वरन् देवता भी इनकी पूजा करेंगे।

दृश्य में अदृश्य

३३९. दृश्य शक्ति में अदृश्य शक्ति काम करती है। उस अदृश्य शक्ति को पहचान लो तो बस रसायन बन गयी।

काया और भाषा

३४०. जो वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखायी देता है, उसकी जड़ भी मजबूत

और हरी-भरी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु जो वृक्ष ऊपर से सूखा हुआ नजर आता है, उसकी जड़ हरी है, यह कैसे कहा जाता है? इसी प्रकार जब काया और भाषा में वक्रता होती है, तब कैसे कहा जा सकता है कि भाव में सरलता है?

काया में वक्रता

३४१. अगर कोई मनुष्य काया में वक्रता रख कर अपने भाव सरल बताता है तो उसका कथन मिथ्या है।

कागज और कपट

३४२. पारस और लोहे के बीच अगर कागज जितना अन्तर भी रह जाए तो पारस उस लोहे को सोना कैसे बना सकता है? इसी प्रकार जब तक आत्मा और परमात्मा के बीच कपट का अन्तर है तब तक आत्मा, परमात्मा किस प्रकार बन सकता है?

कपट छोड़ें

३४३. आत्म-कल्याण का सरल मार्ग है—सरलता धारण करना—कपट का त्याग करना।

विनयशीलता

३४४. बिना आधार के आधेय टिक नहीं सकता। जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी आधारभूत है, उसी प्रकार समस्त गुणों की आधार-भूमिका मृदुता अर्थात् विनयशीलता है। विनयशीलता के अभाव में कोई भी गुण नहीं रह सकता।

सब बल निर्बल

३४५. चारित्रबल की मौजूदगी में सभी बल आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव में सभी बल निष्फल हो जाते हैं।

इन्द्रिय-निग्रह

३४६. स्वयं इन्द्रियों के वश में न हो जाना इन्द्रिय-निग्रह है। जैसे घुड़सवार घोड़े को अपने काबू में रखता है, वह घोड़े के वश में नहीं हो जाता, उसी प्रकार

इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही इन्द्रियनिग्रह है।

आशा-नदी, तृष्णा-नदी

३४७. आशा-नदी में मनोरथरूपी जो पानी भरा हुआ है, उसमें तृष्णा की तरंगें उठती रहती हैं। जैसे नदी में मगर-मच्छ होते हैं, उसी प्रकार आशा-नदी में मगरमच्छ होते हैं। वे आपस में ही एक-दूसरे को खा जाते हैं।

अंक और शून्य

३४८. एक (१) अंक पर शून्य (०) हो तो वह एक को दस बनाता है, पर अंक के बिना शून्य का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए किये गये पराक्रमों का मूल्य तभी है, जब वह पराक्रम सम्यक्त्वपूर्वक हो। समकित के अभाव में सभी पराक्रम व्यर्थ हैं।

बहस हमेशा अन्तहीन

३४९. वाद-विवाद करने से न वस्तु का निर्णय ही होता है और न वाद-विवाद का अन्त ही आता है। जिसमें जितनी ज्यादा बुद्धि होगी, वह उतना ही अधिक वाद-विवाद कर सकेगा और वाद-विवाद करते-करते यह जीवन ही समाप्त हो जाएगा।

लाठी और अंधेरा

३५०. अगर कोई मनुष्य लाठी मार-मार कर अन्धकार को हटाना चाहे तो क्या अन्धकार हट जाएगा? नहीं। हाँ, यदि प्रकाश किया जाए तो अन्धकार अवश्य मिट जाएगा।

प्रमाद और अप्रमाद

३५१. राग-द्वेष को उत्पन्न करना प्रमाद है और जीतना अप्रमाद। अगर तुम अप्रमाद चाहते हो तो रागद्वेष को जीतो।

परिग्रह बनेगा दास

३५२. अगर तुम किसी वस्तु के प्रति ममत्व न रखो तो परिग्रह तुम्हारा दास बन

जाएगा। संसार की वस्तुओं पर तुम भले ही ममता रखो मगर वे अपने स्वभाव के अनुसार तुम्हें छोड़ कर चलती बनेंगी।

पहला कौर

३५३. धर्म का पहला कौर नीति है; अगर नीति के पालन से शान्ति मिलती है; तो धर्म को जीवन में अधिक स्थान देना चाहिये और नीतिमय जीवन के साथ धर्ममय जीवन भी बनाना चाहिये।

विनय और प्रेम

३५४. विद्या ग्रहण करने में विनय की ओर विद्या देने में प्रेम की आवश्यकता रहती है।

अनुकम्पा अर्थात्

३५५. अनुकम्पा का अर्थ है— 'अनुकूल कम्पनं चेष्टनं इति अनुकम्पा' अर्थात् दूसरे को जो दुःख है, वह दुःख मुझे ही है, इस प्रकार की भावना का उत्पन्न होना अनुकम्पा है।

करुणा का झरना

३५६. जब तुम्हारी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान से आलोकित होगी तब प्राणियों के प्रति स्वतः करुणा का विमल स्रोत तुममें प्रवाहित होने लगेगा।

श्रमणोपासक

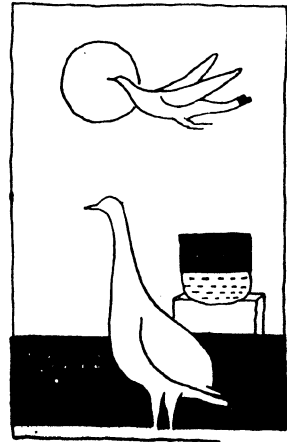
३५७. आप लोग साधारण गृहस्थ नहीं हैं, श्रमणोपासक हैं; अतएव आपको अपने उपास्य के लक्षण समझना चाहिये।

“श्रावक” शब्द

३५८. श्रावक शब्द में तीन अक्षर हैं। ये तीनों तीन बातें बतलाते हैं— 'श्र' श्रद्धा-भक्ति के साथ श्रवण, 'व' वीतराग धर्म, और 'क' कर्तव्य-पालन।

स्पष्ट कह देगा

३५९. जैसे खाली मुट्ठी को बंद करके ठगना ढोंगी आदमी का काम है, उसी प्रकार व्रत-नियमों का पालन न करना और ऊपर से साधु-वेष पहिन कर अपने आपको साधु कहना भी ढोंगियों का काम है। सच्चा और भद्र पुरुष खाली मुट्ठी बंद करके किसी को ठगेगा नहीं, इसी प्रकार साधु-धर्म का पालन न कर सकने वाला भद्र पुरुष, जो ढोंगी नहीं है, स्पष्ट कह देगा कि मुझसे साधुता का पालन नहीं हो सकता। वह खाली मुट्ठी बंद करके लोगों को ठगने का ढोंग कदापि नहीं करेगा।



आप हंस, मैं हंस

३६०. आप हंस की भाँति विवेक-बुद्धि प्राप्त करो और मोती के समान अच्छी बातों को स्वीकार कर लो और शेष का परित्याग कर दो। मैं भी हंस के समान बनना चाहता हूँ। जैसे हंस दूध और पानी को पृथक् कर देता है और मोती को ही चुगता है, उसी प्रकार मैं भी अच्छी बातों को ही ग्रहण करना चाहता हूँ। △ △ △

दूरदर्शिता

१. सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियों से बचा लेता है।

निर्जीव परिश्रम

२. धृति-सहित कृति कला का रूप ले लेती है; जबकि धृति-रहित कृति निर्जीव परिश्रम मात्र है।



आडम्बर अर्थात् दम्भ

३. जिसमें जितनी सजावट होगी, उसमें उतना ही नकलीपन होगा। आडम्बर दम्भ का द्योतक है। जिसको वस्तु-स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वही आडम्बर को पसन्द करता है।

आन्तरिक प्रतिबिम्ब

४. वचन एक दर्पण है। चतुर पुरुष वचनों के अन्दर इन्सान का आन्तरिक प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

प्रशंसा का विषदंश

५. प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका विष तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जाएगा।

कर्तव्य, न कि फल

६. फल को देखने वाला आगे नहीं बढ़ सकता; कर्तव्य को देखने वाला ही आगे बढ़ सकता है।

उस समय -

७. जिस समय विचारों का तूफान आता है, उस समय सहसा किसी भी कार्य को करना अनर्थकारी होता है। उस समय ज्ञान की मात्रा विलुप्त हो जाती है।

संघर्ष में अभय

८. जो मनुष्य संघर्ष से भय खाता है और उससे अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। संघर्ष कोई बुरी वस्तु नहीं है, वह जीवन-विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन में संघर्ष नहीं है, उसे जीवन नहीं कहा जा सकता।

समाज : उन्नति की माँ

९. विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से संबद्ध है। कोई भी ऐसा नहीं, जो एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सब कुछ है; अर्थात् समस्त उन्नति की जननी कही तो समाज है।

जैसा वेश हो

१०. जिस समय जैसा वेश हो, उस समय उसी के अनुरूप कार्य एवं व्यवहार होना चाहिये और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य में मन, वचन, और काया का एकाकार होना जरूरी है।

विश्व : एक घर

११. विश्व एक घर है। इसमें विविध प्राणिगण तथा विविध पदार्थ विद्यमान हैं। इन सभी को सही तौर पर भलीभाँति जानना एवं उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप कर्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वतः बनता है।

जीवन का घुन

१२. ईर्ष्यापतन का भयंकर रास्ता है। यह अमृत्यु जीवन का घुन है। यह वह जहर है जो कि जीवन को श्मशान तक शीघ्र ही पहुँचा देता है। ईर्ष्या एक जीवन को नहीं अनेक जीवन को नष्ट करती है।

मलिनता छा जाती है

१३. छलना भयंकर पाप है। इससे सभी तरह की हानियाँ हैं। आन्तरिक जीवन पर पर्दा पड़ता है, विकास-मार्ग समाप्त होता है, विकसित जीवन की कड़ियाँ

कुण्ठित हो कर दब जाती हैं, मलिनता का साम्राज्य छा जाता है, मानव मानव के रूप में न रह कर दानव व पशु के रूप में चरण रखता है।

हानियाँ अधिक

१४. सच्ची कर्तव्यनिष्ठा के सामने भय और चिन्ता व्यर्थ हैं। भय और चिन्ता से शारीरिक एवं मानसिक हानियाँ अधिक हुआ करती हैं।

निकाल ही दें इन्हें

१५. भय और चिन्ता को सदा-सर्वदा जीवन से निकाल ही देना चाहिये। ये जीवन की बहुत बड़ी शत्रु हैं। इन्हीं से जीवन का अधिक हास होता है।

सम्यग्ज्ञान/मिथ्याज्ञान

१६. जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में रही हुई है, उसे उस समय, उस अपेक्षा से उस रूप में जानना-मानना सम्यग्ज्ञान है। इससे विपरीत यानी जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में नहीं है, उस अपेक्षा से उसको उस समय, उस रूप में जानना या मानना मिथ्याज्ञान है।

शलत भाषा : शलत चिन्तन

१७. मैं यदि मानव हूँ, और मूझे मानवता का सात्त्विक गौरव है, तो सबके साथ समता का बर्ताव करना है यानी यथायोग्य व्यक्ति के साथ यथास्थान व्यवहार रखते हुए स्व-पर के विकास का ध्यान रखना है और मान-अपमान की भाषा में कभी नहीं सोचना है।

अमरता : अभय की पराकाष्ठा

१८. अभय की अवस्था जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब वह अमर हो जाती है। मृत्यु को जीत लेना अर्थात् उसे मार देना है। अभय, यह कोमल गुण, आत्मा की शक्ति रूप है। उस शक्ति का जन्म विचारों में आता है।

जितनी निर्मलता : उतनी तीक्ष्णता

१९. आन्तरिक तत्त्वों को देखने के लिए ज्ञान की तीक्ष्णता का होना आवश्यक है, अर्थात् ज्ञान की जितनी निर्मलता बढ़ेगी, उतनी ही तीक्ष्णता की स्थिति बनती जाएगी। ज्ञान की निर्मलता जीवन की निर्मल अवस्था पर अवलम्बित है। जीवन को निर्मल बनाने के लिए भौतिक वस्तुओं पर से ममत्व हटाना आवश्यक है।

वस्तुस्थिति के पार

२०. सूक्ष्म और सही दृष्टि का चिन्तन बड़ा ही विलक्षण होता है और वस्तुस्थिति के पार तक पहुँचाने वाला बनता है। इसके लिए चित्तवृत्ति की ममता आनी आवश्यक है।

नवशा कुछ और

२१. ब्रह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि सम्मुख रखा जाए, तो जीवन का नवशा कुछ और ही बन सकता है।

आत्मावलोकन

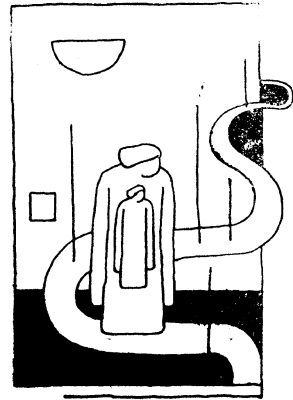
२२. आत्मा की मौलिक अवस्था प्राप्त करने के लिए स्वयं को ही अधिक देखना पड़ता है। वास्तविकता बाहर से विकसित नहीं होती, विकास का मूल स्रोत अन्दर से ही प्रवाहित होता है।

जड़ों में जहर, जड़ों में अमृत

२३. विचारों की जड़ों में-से ही अमृत या जहर बनता है। इस विराट् विश्व में विचारों का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपों, प्रकारों, कार्य-कलापों आदि के रूप में परिलक्षित हो रहा है; पर आश्चर्य इस बात का है कि मूल तथ्यों को समझा नहीं जा रहा है।

स्वयं पर, दूसरों पर नहीं

२४. स्वयं का उत्तरदायित्व स्वयं पर है; दूसरों पर नहीं। दूसरे सहायक बन सकते हैं, लेकिन कब? जबकि हम स्वयं अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर होता है।



चरैवेति

२५. साधक को साधना के क्षेत्र में निरन्तर चलते रहना चाहिये। कभी भी विराम का नहीं सोचना चाहिये। विराम का चिन्तन साधक के गिराव (पतन) का सूचक है।

△ △

समता-दर्शन : नये परिप्रेक्ष्य में

तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बना कर तन ढँका जाता है; लेकिन अगर कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी की आँख में घोंप दे तो क्या हम इसे तकली का दोष मानेंगे ? समता-दर्शन ऐसी तमाम विषमताओं तथा अतियों के बीच का एक ऐसा मार्ग है, जो आज के संतप्त मनुष्य को शान्ति, सौख्य, मैत्री, और आत्मोन्नयन की मंगलकारी दिशा में ले जाता है ।

— जैनाचार्य श्रीनानालाल

समता, साम्य या समानता मानव-जीवन एवं मानव-समाज का शाश्वत दर्शन है । आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक—सभी का लक्ष्य समता है; क्योंकि वह मानव-मन के मूल में है । इसी कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अर्वाप्ति सभी को अभीष्ट होती है । जिस प्रकार आत्माएँ मूल में समान होती हैं; किन्तु कर्मों का मेल उनमें विभेद पैदा करता है, उसी प्रकार समग्र मानव में भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एवं मुद्दह संयम की सहायता से समाजगत समता की स्थापना की जा सकती है ।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माँग भी उतनी ही अधिक गहरी है । काश, हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता-दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार में ढाल सकें। पहले विचार और बाद को व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक है ।

वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता तथा सम्पत्ति पर व्यक्तिगत, या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेषरूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है । समता ही इसका स्थायी और सर्वजनहितकारी समाधान है ।

समता-दर्शन का लक्ष्य है कि समता विचार में हो, दृष्टि और वाणी में हो; तथा समता आचरण के प्रत्येक चरण में हो । जब समता जीवन के अवसरों की प्राप्ति में होगी और सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार में होगी तो वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण में होगी । समता मनुष्य के मन में होगी तो वह समाज के जीवन में भी होगी । भावना की गहराइयों में होगी तो वह साधन की ऊँचाइयों में भी होगी । प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरों पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या—ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा ।

विकासोन्मुख दर्शन

मानव-जीवन गतिशील है । मनुष्य के मस्तिष्क में नये-नये विचारों का उदय होता है । ये विचार प्रकाशित हो कर अन्य विचारों को आन्दोलित करते

हैं। फिर समाज में विचारों के आदान-प्रदान एवं संघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है युग-पुरुष इसी विचार-मन्थन में-से विचार-नवनीत निकालने का कार्य किया करते हैं।

महावीर की समता-धारा

यह तथ्य स्पष्ट है कि समता-दर्शन का सुगठित एवं मूर्त विचार सब से पहले भगवान् पार्श्वनाथ एवं महावीर ने दिया। जब मानव-समाज विषमता एवं हिंसा के चक्रव्यूह में फँसा तड़प रहा था, तब महावीर ने गंभीर चिन्तन के पश्चात् समता-दर्शन की जिस पुष्ट धारा को प्रवाहित किया, वह आज भी प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। इस विचार-धारा, और उनके बाद जो चिन्तन-धारा चली है-यदि दोनों का सम्यक् विश्लेषण कर आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाए और उसे व्यवहार में उतारा जाए तो निस्सन्देह मानव-समाज आत्मोदय के पथ पर मोड़ा जा सकता है।

सभी आत्माएँ समान

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सब से पहले पहिचाना और बताया। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान हैं यानी सभी आत्माओं में अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान शक्ति है। इस शक्ति को प्रस्फुटित एवं विकसित करने की समस्या अवश्य है; किन्तु लक्ष्य-प्राप्ति के संबन्ध में हताशा या निराशा का कोई कारण नहीं है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि 'जो आत्मा, सो परमात्मा' अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नहीं, जो सदा से केवल ईश्वर-रूप ही रही हो, बल्कि संसार में रही आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तब वही परमपद पा कर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह परमात्मा सर्वशक्तिमान् एवं पूर्ण ज्ञानवान् तो होता है; किन्तु संसार से उसका कोई संबन्ध उस अवस्था में नहीं रहता।

क्रान्ति का यह स्वर महावीर ने गुंजाया कि संसार की रचना ईश्वर नहीं करता और इसे भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं खटकता। संसार की रचना को उन्होंने अनादि कर्म-प्रकृति पर आधारित बता कर आत्मीय समता की जो नींव रखी—उस पर समता का प्रासाद खड़ा करना सरल हो गया।

सब से पहले समदृष्टि

महावीर ने सन्देश दिया कि सब से पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होंने जीवन-विकास का मूलाधार बताया। 'समदृष्टि' का शाब्दिक अर्थ है 'समान नजर रखना'; लेकिन इसका गूढार्थ बहुत गंभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जब तक संतुलित एवं संयमित नहीं होता, तब तक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातों में टकराता रहता है। उसकी वृत्तियाँ चंचल बनी रहती हैं। उसे सद् या असद् का विवेक नहीं रहता। मन की चंचलता राग और द्वेष से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर, तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर-उधर भटकाने हैं। इससे मनुष्य की दृष्टि बनती है। राग वाला अपना, और द्वेष वाला पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है, वहाँ दृष्टिभेद रहता ही है।

महावीर ने मानव-मन की चंचलता पर पहली चोट की; क्योंकि वही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण है। चंचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है, और यदि चंचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सब से पहले समदृष्टिपना आये—यह वाँछनीय है, क्योंकि समदृष्टि जो बन जाएगा वह स्वयं तो समता-पथ पर आरूढ़ होगा ही, अपने सम्यक् संसर्ग से वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इसका प्रभाव जितना व्यापक होगा, उतना ही व्यक्ति एवं समाज का सभी क्षेत्रों में चलने वाला क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारंभ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बताया। 'समतामय दृष्टि' के बाद 'समतामय आचरण' की पूर्ति के लिए दो स्तरों की रचना की गयी।

पहला स्तर रखा श्रावकत्व। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं, जिनमें पहले के पाँच मूल गुण कहालाते हैं एवं शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर का निर्धारण माना जाता है। व्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह। अनुरक्षक व्रत सात हैं—दिशा-मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदंड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध, एवं अतिथि-संविभाग।

श्रावक के जो पाँच मूल व्रत हैं—वे ही साधु के पाँच महाव्रत हैं। अन्तर दोनों में यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-गमन एवं सीमित परिग्रह का त्याग करता है; वहाँ साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह का त्याग करता है। आंशिक स्तर श्रावक का है, तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियों में रमण करता हुआ समता-दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता

है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति-प्रधान मार्ग है—वह इसलिए कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड़ पदार्थों के व्यर्थ व्यामोह से हटा कर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश में ले जाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बन कर बाहर-ही-बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यह भटकाव है, वहाँ स्वार्थ है, विकार है, और विषमता है। समता की सीमा-रेखा में लाने, बनाये रखने और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ बनायी गयी हैं।

ज्ञानने की सार्थकता मानने में है और मानना तभी सफल बनता है, जब उसके अनुसार किया जाए। विशिष्ट महत्त्व तो करने का है। आचरण ही जीवन को आगे बढ़ाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा या विकृत न हो।

विचार और आचार

दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता, और अपेक्षा नहीं होती, तब उसकी नज़र में जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार में समता का यही अर्थ है कि जब हम किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर कार्यान्वयन करें तब उस समय सम-दृष्टि एवं समभाव रखें; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक में भेड़-वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन, या कृतित्व-स्वातन्त्र्य का लोप नहीं होना चाहिये; बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टि एवं समभाव के साथ बड़े-से-बड़े समूह का भी चिन्तन या आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमें दिखायी देगा कि सभी एक-दूसरे की हित-चिन्ता में निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्छा का मारा नहीं है। निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार-समता में प्रगट होगा; किन्तु यदि उस चिन्तन के साथ दंभ, हठवाद, अथवा यशोलिप्सा जुड़ जाएँ तो वह विचार संघर्षशील बनता है। ऐसे संघर्ष का निवारक महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद या सापेक्षावाद है—जिसका अर्थ है कि प्रत्येक विचार में कुछ-न-कुछ सत्यांश अवश्य होता है और अपेक्षा से भी सत्यांश होता है तो फिर अंशों को जोड़ कर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने का यत्न क्यों न किया जाए? यह विचार-संघर्ष से हट कर विचार-समन्वय का मार्ग है ताकि हम प्रत्येक विचार की अच्छाई को ग्रहण कर सकें।

आचार-समता के लिए पाँचों मूल व्रत हैं। मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार इन व्रतों की आराधना में आगे बढ़ता रहे तो स्वार्थ-संघर्ष मिट सकता है। परिग्रह

का मोह छोड़ें या घटायें और राग-द्वेष की वृत्तियों को हटायें तो हिंसा छूटेगी—चोरी और झूठ छूटेगा, तथा काम-वासना की प्रबलता भी मिटेगी। सार-रूप में महावीर की समता-धारा विचारों और स्वार्थों के संघर्ष को मिटाने में सशक्त है, बशर्ते उस धारा में अवगाहन किया जाए।

संघ और समता

महावीर ने इस समता-दर्शन को व्यावहारिक बनाने के लिए जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की, उसकी आधार-शिला भी इसी पर रखी गयी। इस संघ में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरों में अन्तर होने पर भी दिशा एक होने से श्रावक एवं साधु वर्ग को एक साथ संघ-बद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होंने लिंग-भेद भी नहीं किया—साध्वी और श्राविका को साधु एवं श्रावक वर्ग की श्रेणी में ही रखा। जाति-भेद के तो महावीर मूलतः विरोधी थे। इस प्रकार महावीर के चतुर्विध संघ का मूलाधार समता है। दर्शन और व्यवहार के दोनों पक्षों में समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना संभवतः किसी अन्य को नहीं है।

नवीन परिप्रेक्ष्य

मनुष्य चिन्तन और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है, विगति भी; किन्तु यह सत्य है कि वह गतिवान् है। इसी गतिचक्र में परिप्रेक्ष्य बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न कोण से देखे। कोण भी देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं; अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को समझा जाए तथा परिवर्तन के प्रवाह में मौलिकता को कदापि विस्मृत न होने दिया जाए। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर हो सकता है।

सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिकों के विकास ने मानव-जीवन की चली आती परम्परा में एक अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान-पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था—समय एवं दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। आज साधारण-से-साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ़ गया है तो रेडियो, टेलीविज़न एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से उसकी जानकारी का क्षेत्र समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस व्यापक परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया क्योंकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट-सा गया—समाज का

अवलम्बन पग-पग पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नवोत्थान।

अब तक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था, समाज का सामूहिक शक्ति के रूप में प्रभाव नगण्य था; अतः व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्गदर्शन मिलता था। तब राजनीति और अर्थनीति की धुरी भी व्यक्ति के ही चारों ओर घूमती थी। राजतन्त्र का प्रचलन था और राजा को ईश्वर-रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय में चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति के भार ने परिवर्तन के चक्र को तेज कर दिया।

राजनीतिक और आर्थिक समता

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशों में जनता को राजतन्त्र से कठिन और बलिदानी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं तथा दीर्घ संघर्ष के बाद अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में वह राजतन्त्र की निरंकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतन्त्र का इतिहास प्रारंभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन-प्रतिनिध्यात्मक सरकारों की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर संसदीय लोकतन्त्र की नींव पड़ी।

लोकतन्त्र की जो छोटी-सी व्याख्या की गयी है कि वह तन्त्र जो जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए हो—स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नहीं, समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी—अतः एक व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहें—यह समता की दृष्टि से ही अन्यायोचित माने जाने लगा। समूह की इच्छा सहसा नहीं बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अतः समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतन्त्र के रूप में सामने आया।

लोकतन्त्र के रूप में राजनीतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे-बड़े प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिला कर अपन प्रतिनिधि का चुनाव किया जाए। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के वशीभूत हो कर किस प्रकार अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था को तहस-नहस कर

सकते हैं, किन्तु लोकतन्त्र का ध्येय यही है कि सर्वजन-हित एवं साम्य के लिए व्यक्ति की उद्दाम कामनाओं पर नियन्त्रण रखा जाए।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी सफल बनाने के प्रयास प्रारम्भ हुए। इन प्रयासों ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोट की और जिन सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण किया, उनमें समाजवाद एवं साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों का विकास भी धीरे-धीरे हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप में इस युग में एक पूरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग-अलग थे; किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप में महावीर ने प्रवाहित की, वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स में भी यही तड़प थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनों से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा अपरिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना से धन-लोलुपता नहीं रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन-रूप में गौण स्थान पर रहे — मार्क्स ने बताया कि एक परिवार की तरह सारे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिये।

अर्थ का अर्थ/अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया में अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथों में अर्थ का नियन्त्रण रहा, उसी के हाथों में सारे समाज की सत्ता सिमटी रही; बल्कि यों कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल हुए — अर्थ की सत्ता वालों ने उन्हें नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ-रूप जगह-जगह लोकतन्त्र की अथवा साम्यवाद तक की दूषित प्रक्रियाएँ बनायी जा रही हैं।

सम्पत्ति की सत्ता का उदय तब हुआ है जब मनुष्य का प्रकृति का शुद्ध आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के लिए कर्मक्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। जिसके हाथ में अर्जन एवं संचय का सूत्र रहा — सत्ता का सूत्र भी उसी ने पकड़ा। आधुनिक युग में पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्ति-वादी नियन्त्रण पर आधारित रही अथवा यों कहें कि अर्थ के अनर्थ का विषमताम रूप इन प्रणालियों के रूप में सामने आया जिनका परिणाम विश्व-युद्ध, नर-संहार एवं आर्थिक शोषण के रूप में फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिए और व्यक्ति के नियन्त्रण में रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा; क्योंकि वह उसे त्याग की ओर बढ़ने

से रोकेगा, उसकी परिग्रह-मूर्च्छा को काटने में कठिनाई आती रहेगी; इसलिए अर्थ का अर्थ समाज से जुड़ जाए और उसमें व्यक्ति की अर्थाकांक्षाओं को खुल कर खेलने का अवसर न हो तो संभव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनों छोर मिलायें

ये सारे प्रयोग फिर भी बाह्य प्रयोग ही हैं और बाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल उन प्रयोगों की सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बना कर किसी भी नंगे बदन को ढँका जाता है, लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी दूसरे की आँख में घुसेड़ दे तो क्या हम उसे तकली का दोष मानें? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई में भी अच्छाई को ही देखता है; लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे-से-अच्छे साधन से भी बुराई करने की चेष्टा करता रहता है।

तो एक ही कार्य के दो छोर हैं — व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण एवं आत्म साधना से श्रेष्ठ प्रकृतियों में ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसकी साधारण स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण से उसे समता की लीक पर चलाने की प्रणालियाँ निर्मित की जाएँ। ये दोनों छोर एक दूसरे के पूरक बनें — आपस में जुड़ें, तब व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति का निर्माण सहज बनेगा।

सामान्य स्थिति अधिकांशतः ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसंख्यक लोग सामान्य मानस के होते हैं, जिन पर किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण रहे तो वे सामान्य गति से चलते रहते हैं, अन्यथा रास्ते से भटक जाना उनके लिए आसान होता है। जो लोग प्रबुद्ध होते हैं, वे स्वयं भ्रष्ट न हो कर अपनी चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियाँ बनायें जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हों तो वह सर्वथा वांछनीय होगा।

समता के स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सारी दिशाओं में गुंजायमान करने की आवश्यकता है। समस्त जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना होगा; क्योंकि इस विषम वातावरण में मनुष्यता का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता, और बदलता रहेगा; किन्तु मनुष्यता कभी समाप्त नहीं होगी, उसका सूरज डूबेगा नहीं। वह सो सकती है, मर नहीं सकती। अब समय आ गया है कि जब मनुष्य की सजीवता को ले कर मनुष्य को उठना होगा — जागना होगा और क्रान्ति-पताका को उठा कर परिवर्तन का

चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यों को हटा कर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाए। इसके लिए प्रबुद्ध एवं युवावर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और उसे एक व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा ताकि समता के समरस स्वर उद्बुद्ध हो सकें।

नया प्रकाश

सत्यांशों के संचय से समता-दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है, उसे यथाशक्ति, यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहाँ किया जा रहा है। समता-दर्शन का यह नया प्रकाश प्रेरणा एवं रचना की नयी अनुभूतियों को सजग बना सकेगा।

समता-दर्शन को अपने नवीन एवं संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उसके निम्न चार सोपान बनाये गये हैं -

१. सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नहीं, प्राणि-समाज से संबन्धित सभी क्षेत्रों में यथार्थ दृष्टि, वस्तु-स्वरूप, उत्तरदायित्व, तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण एवं सम्पूर्ण चरम विकास की साधना, समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस सोपान पर सिद्धान्त को प्रमुखता दी गयी है।

२. जीवन-दर्शन

सबके-लिए-एक तथा एक-के-लिए-सब तथा जियो और जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तों तथा सयम-नियमों को स्वयं के और समाज के जीवन में आचरित करना समता का जीता-जागता रूप होगा।

३. आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप-चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सत् एवं सत्साधना, पूर्ण सेवा तथा स्वानुभूति के बल पर पुष्ट करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यापक भावना में 'आत्मविसर्जित हो जाना' समता का तीसरा चरण होगा।

४. परमात्म-दर्शन

आत्मविसर्जन के बाद प्रकाश-में-प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणि-समाज को अपनी सेवा एवं समता की परिधि में अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वयं परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप है।

△ △

तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ

६५, पत्रकार कॉलोनी इन्दौर-४५२००१ मध्यप्रदेश

- हमारे सांस्कृतिक अस्तित्व को चुनौती देने वाले मांसाहार के तेजी से बढ़ते क्रदम रोकिये।
- अहिंसा के प्रचार-प्रसार और उसकी सही समझ के विस्तार में प्रकोष्ठ की तन-मन-धन से सहायता कीजिये।
- प्रकोष्ठ द्वारा लागत मूल्य पर प्रकाशित साहित्य को जन-जन तक पहुँचाइये।
- १०० रुपये भेज कर इसके सदस्य बनिये।
- 'शाकाहार-क्रान्ति' (प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित द्वैमासिक : वार्षिक शुल्क-बीस रुपये) के सदस्य बनिये तथा अपने गाँव/नगर से सम्बन्धित शाकाहार-गतिविधियों की रपट भेजिये।
- प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित 'बिकसूर प्राणियों के खून-में-सने हमारे ये बर्बर शौक (मूल्य दो रुपये) की जितनी भी प्रतियाँ आप बाँट सकें, बाँटिये। इसी तरह इतने ही मूल्य में प्रकाशित 'अण्डा : ज़हर-ही-ज़हर' तथा 'धूम्रपान : पिघली हुई मौत' की प्रतियाँ भी उन्मुक्तता से वितरित कीजिये।
- अपने पत्रों-लिफाफों, अन्तर्देशीय पत्रों, कार्डों, मनीऑर्डर-कूपनों, बिलों, केशमेमो, नुस्खों (यदि चिकित्सक हों तो) पर शाकाहार की उपयोगिता और महत्ता पर विज्ञान-सम्मत प्रकाश डालने वाले वाक्यों-से-युक्त रबर-सीलें लगाइये। पन्द्रह रबर सीलों का सेट (डाकखर्च-सहित) ११५ रुपयों में तथा एक सील (डाक-खर्च-सहित) सात रुपयों में मंगाइये।
- अपने दोनों समय के भोजन में-से एक कौर बचाइये और माह के अन्त में उतनी रकम प्रकोष्ठ को भेजिये, या प्रतिदिन दो मुट्ठी अनाज अलग रख दीजिये और उसकी कीमत प्रकोष्ठ को दीजिये। अपने संकल्प की सूचना दीजिये।
- मांसाहार के प्रचार-प्रसार के लिए सरकारी, अर्द्धसरकारी तथा गैरसरकारी एजेन्सियाँ करोड़ों का खर्च कर रही हैं, आप पीछे मत रहिये। प्रकोष्ठ के माध्यम से देश-भर में शाकाहार की उपयोगिता और महत्ता का उद्घोष कीजिये। सभी सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर प्रकोष्ठ को सहायता भेजिये।
- संकल्प कीजिये कि आप तो जीवन-भर शाकाहारी रहेंगे ही, अपने संपर्कों को भी उस ओर प्रेरित करेंगे। अपने रसोईघर (किचन) की रक्षा कीजिये।
- अपने गाँव या अपने शहर में प्रकोष्ठ की शाखाएँ स्थापित कीजिये।

समीक्षण-ध्यान : एक अनुशीलन

हमारा मन खुली हवा में पड़े दीपक की लौ के समान विविध दिशाओं में डोलता रहता है और इसी कारण वह किसी एक ही दिशा में व्यवस्थित प्रकाश नहीं कर पाता। दीपक की अस्थिर लौ के समान अस्थिर मन अपनी समस्त ऊर्जा को विकेंद्रित कर देता है; परिणामतः वह अपने सामर्थ्य की परिसीमा को भूल कर एक छोटे-से दायरे में अनुबद्ध हो जाता है।

—शान्ति मुनि

विश्व के समस्त धर्मों, दर्शनों अथवा संस्कृतियों में अनेक प्रकार के संघर्ष एवं तनावपूर्ण मतभेद रहे हैं। सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से धर्म को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। आज तक क़रीब सात सौ धर्म और उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं; किन्तु यह निर्विवाद है कि प्रायः सभी धर्मों ने एक स्वर से ध्यान-साधना से अन्तर्यात्रा का होना स्वीकार किया है। ध्यान-साधना की विधियों-पद्धतियों में अवश्य मतभेद रहे हैं; किन्तु ध्यान की महत्ता और उपयोगिता के विषय में सभी धर्म एक सूत्र में अनुबद्ध हैं—अनेक धर्माचार्य एवं धर्म-संस्थापक तो केवल ध्यान को ही अन्तर्यात्रा, आत्म-शुद्धि अथवा आत्म-शान्ति का एकमेव आधार स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में ध्यान के अतिरिक्त अन्तःप्रवेश का कोई और मार्ग नहीं है।

ध्यान : विविध रूपों में

इस्लाम ने नमाज के रूप में, तो ईसाइयत ने प्रेयर (प्रार्थना) के रूप में ध्यान को ही स्वीकार किया है। वेदान्त ने आत्मोपासना को, तो मीमांसा ने यज्ञिक क्रियाओं को ध्यान का सम्बल माना है। सांख्य-योग ने यौगिक साधनाओं को; तो पतंजलि ने अष्टांग योग को ध्यान का आधार स्वीकार किया है। बौद्ध ने विपश्यना, तो जैन ने सहजयोग-समीक्षण को ध्यान के रूप में स्वीकृति दी है।

इस रूप में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सिद्धान्त-भेद एवं मान्यता-भेद के होने पर भी ध्यान को आत्म-कल्याण अथवा अन्तःप्रवेश का प्रमुख अंग मानने में सभी धर्म निर्विवाद रूप से एक मत हैं।

वास्तव में ध्यान की साधना ही एक ऐसी साधना है, जिसके विषय में विवाद को कोई स्थान-अवकाश ही नहीं रहता है। हाँ, ध्यान की विधियों, प्रक्रियाओं अथवा पद्धतियों के संबन्ध में अवश्य मतभेद रहे हैं, जिन्हें रोका अथवा मिटाया भी नहीं जा सकता है। चूँकि हज़ारों-लाखों साधक जब ध्यान-साधना की प्रक्रियाओं से

गुजरते हैं तो सबके अपने-अपने अनुभव होते हैं। प्रत्येक साधक अपने अनुभव को ही सर्वोपरि मान कर उसे उसी पर गति करने की प्रेरणा अपने निकटवर्ती व्यक्तियों को देता है और इस रूप में वह एक ध्यान-प्रणाली का रूप ग्रहण कर लेती है।

समीक्षण ध्यान : सुपरिष्कृत विधि

ध्यान की इन्हीं अनेक प्रक्रियाओं में-से एक सुपरीक्षित एवं सुपरिष्कृत विधि है—समीक्षण-ध्यान। समीक्षण-ध्यान की साधना-पद्धति आगम-वर्णित सहज योग की साधना-पद्धति का ही मूल रूप है। जैनागमों में ध्यान-साधना का विहंगम एवं गहनतम विवेचन-वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ ध्यान, ध्याता और ध्येय के संबन्ध में ही नहीं, इनकी सुव्यवस्थित क्रिया-विधियों के सन्दर्भ में भी सुविस्तृत वर्णन हुआ है। मूल रूप से आगमों में ध्यान के चार भेद बताये गए हैं। यथा—“चउविहे ज्ञाणे पणत्ते तंजहा”— १. अट्टज्झाणे २. रुद्ध ज्झाणे ३. धम्म ज्झाणो ४. सुक्क ज्झाणे अर्थात् ध्यान के चार प्रकार हैं— १. आर्त ध्यान, २. रौद्र ध्यान, ३. धर्म ध्यान, और ४. शुक्ल ध्यान।

इन चार ध्यानों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार से भी ध्यान को चार भेदों में व्याख्यायित किया गया है— १. पदस्थ, २. पिण्डस्थ ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत। प्रथम प्रकार के चार ध्यानों का संबन्ध साधनात्मक है। ध्यान-साधना की विविध विधियों में, मुख्य तौर पर समीक्षण-ध्यान साधना-विधि में प्रस्तुत चारों ध्यानों का बहुत अधिक महत्त्व है, किन्तु प्रस्तुत चारों ध्यानों के विस्तार के पूर्व ध्यान की परिभाषा एवं व्याख्या को समझ लेना अधिक उचित होगा।

ध्यान : परिभाषा

वाचक-मुख्य श्रीमदुमास्वाति ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में ध्यान की परिभाषा बताते हुए लिखा है— उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्।

जैन तत्त्व-दर्शन में शारीरिक संगठन की सशक्तता को संहनन की संज्ञा प्रदान की गयी है और उसे छह भागों में विभाजित किया गया है— १. वज्र-ऋषभनाराच संहनन २. ऋषभनाराच संहनन ३. नाराच संहनन ४. अर्धनाराच संहनन ५. कीलिका संहनन, और ६. सेवार्त संहनन।

एक कहावत है कि ‘बलवान् तन में बलवान् मन निवास करता है’। तदनुसार गहन ध्यान-साधना के लिए सुदृढ़-सुगठित शरीर भी अपेक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से उमास्वाति ने ध्यान की परिभाषा में शारीरिक संगठन को प्रथम स्थान देते हुए कहा है कि उत्तम संहनन वाला व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी माना जाता है।

उपर्युक्त छह संहननों में प्रथम तीन संहनन ही प्रशस्त, उत्तम अथवा सुगठित माने गये हैं अतः इन तीन संहननों वाले व्यक्ति ही ध्यान के अधिकारी माने गये हैं। सामान्य शारीरिक संगठन वाला व्यक्ति अधिक समय तक आसनादि की स्थिरता-पूर्वक बैठ कर अपने विचार-प्रवाह को एक दिशा में स्थिर नहीं कर पाता है। जबकि ध्यान का मूल अभिप्रेत है—विविध दिशागामी विचार-प्रवाह को एक सुव्यवस्थित दिशा प्रदान करना। इस रूप में ध्यान की वस्तुनिष्ठ परिभाषा होती है—चित्त वृत्तियों का समीकरण। मन के विविध दिग्गामी भटकाव का अवरुद्धन अथवा दिक्सूचन।

हमारा मन खुली हवा में पड़े हुए दीपक की लौ के समान विविध दिशाओं में डोलता रहता है और इसी कारण वह किसी एक ही दिशा में व्यवस्थित प्रकाश नहीं कर पाता। दीपक की अस्थिर लौ के समान अस्थिर मन अपनी समस्त ऊर्जा को विकेंद्रित कर देता है; परिणामतः अपने सामर्थ्य की परिसीमा को भूल कर एक छोटे से दायरे में अनुबद्ध कर देता है।

जिस मन में अन्तर में छिपी हुई अनन्त आनन्द-निधि को प्राप्त करने की क्षमता है, जिस मन में असंभव को संभव कर दिखाने का जीवन है, जिस मन में ब्रह्माण्ड को हिला देने का प्रचण्ड पौरुष है, वह मन अपनी शक्ति के विकेंद्रित हो जाने के कारण सामर्थ्यहीन अकिंचन नर बना हुआ है। ध्यान-साधना का अर्थ है—मन की इसी उदाम ऊर्जा को एक व्यवस्थित दिशा में नियुक्त, प्रयुक्त करना।

समीक्षण की आगमिक विधियाँ

मन की इस शक्ति के प्रयोग-उपयोग की दिशा में अगणित प्रयास हुए हैं और अनेक विधियाँ आविष्कृत हुई हैं। समीक्षण-ध्यान की प्रक्रिया उन्हीं विधियों में एक सुपरीक्षित, सुपरिष्कृत विधि है। ध्यान-साधना की इस प्रक्रिया में हम बाहर की दुनिया से अन्दर की दुनिया में प्रवेश करते हैं। बन्धन से मुक्ति अथवा राग से विराग की ओर बढ़ने की इस प्रक्रिया को 'समीक्षण-ध्यान' की संज्ञा प्रदान की गयी है। मूल में यह प्रक्रिया मनोवृत्तियों के नियन्त्रण की अथवा चित्त-वृत्तियों के संशोधन की प्रक्रिया है और चित्त-वृत्तियों के संशोधन के लिए जैन तत्त्व-दृष्टाओं ने जो अनेक दृष्टियाँ अथवा विधियाँ प्रस्तुत की हैं, उनमें समीक्षण-दृष्टि एवं विधि संशोधित विधि है।

आगमों में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का उल्लेख मिलता है। ध्यान के इन भेदों को सम्मुख रख कर ज्ञानार्णव, योग दृष्टि समुच्चय आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे भी ध्यान-संबन्धी ज्ञान की अभिवृद्धि की जा सकती है; किन्तु समभाव से परिणत हुए बिना यथावस्थित स्वरूप का बोध नहीं होता है। समभाव

की अवस्था का सम्यक् ईक्षण ही समीक्षण है। जिसके माध्यम से आर्त्त को आर्त्त रूप में और रौद्र को रौद्र के रूप में समीक्षण करता हुआ साधक ज्ञेय एवं ज्ञेय-संबन्धी प्रज्ञा का विकास करता हुआ धर्म एवं शुक्ल ध्यान की ज्ञेय-उपादेयता का भली-भाँति समीक्षण कर सकता है।

समीक्षण ध्यान हंस-चंचुवत् वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध कराता हुआ अन्तर्पथ के राही को उर्ध्वारोहण में गति प्रदान करता है।

ज्ञानार्णव, योग दृष्टि समुच्चय आदि आर्य ग्रन्थों में जिन पदस्थ आदि ध्यान विधियों का उल्लेख मिलता है, वे ही आत्म-समीक्षण की भी विधियाँ हैं। आगमों में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का जो गहनतम विवेचन उपलब्ध होता है वह सब समीक्षण का ही विविध रूपी विश्लेषण है। धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान की जो भावनाएँ-अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं, वे समीक्षण की विविध-आयामी पद्धतियाँ ही हैं।

इस प्रकार मन को कितना मनोयोग को स्वस्थ दिशा प्रदान करने वाली जितनी भी विधियाँ, प्रणालियाँ अथवा पद्धतियाँ हैं, वे सब समीक्षण-ध्यान की विधियाँ मानी जा सकती हैं।

आगमिक परिप्रेक्ष्य में चिन्तन किया जाए तो ध्यान का संबन्ध प्रारंभ में मानसिक अशुभ वृत्तियों का परिमार्जन एवं शुभ वृत्तियों को आत्म-स्वरूप की ओर दिशा देने से ही अधिक है। इस प्रकार की प्रक्रिया से चलता हुआ साधक जब तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उन वीतरागी आत्माओं को ध्यान साधना की विशेष अपेक्षा नहीं रहती है; क्योंकि उन स्थानवर्ती आत्माओं के मन की अशुभ वृत्तियाँ परिमार्जित हो जाती हैं, जिससे मन-संबन्धी चंचलता का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है एवं शुभ वृत्तियाँ आत्म-स्वरूप की ओर मोड़ खाती हुई अप्रमत्त भाव में समाविष्ट हो जाती हैं; अतः प्रारम्भिकता से ले कर के कुछ ऊर्ध्वगमन तक स्थिर रखने के प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इन दोनों गुण-स्थानों में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एवं सम्मूर्च्छित क्रिया निवृत्ति रूप दो ध्यान पाते हैं। वे भी मन, वचन, काय के योगों का व्यवस्थित करण एवं चरम परिणति की अवस्था में आत्म-प्रदेशों का स्थिरीकरण होने से संबन्धित है; क्योंकि वहाँ ध्यान-साधना की अन्तिम मंजिल प्राप्त हो जाती है।

मूल में मन की प्रारंभिक चंचलता को समाहित कर उसे स्वयं की आत्मा को परमात्मा के स्वरूप की दिशा में जोड़ देना अर्थात् परमात्म-स्वरूप स्वयं में परिणत कर लेना ध्यान-साधना का उद्देश्य है और वह मन की वृत्तियों के समीकरण

से बनता है। अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग के मन के विश्लेषण और उसे साधने के संदर्भ में ही विचार करने का प्रयास हम कर रहे हैं।

मन : एक सृजनात्मक शक्ति

समीक्षण-ध्यान का उद्देश्य है - अन्तर्यामिनी। मन की वृत्तियों को बाहर के भटकाव से अन्तर की ओर मोड़ कर उसकी गतिविधि को भी समझ लेना आवश्यक है।

यह निर्विवाद है कि अपनी सामान्य स्थिति में आम व्यक्ति के लिए मन एक ज्वलन्त समस्या बन कर खड़ा है। मन चंचल है, विकारों की ओर दौड़ता है, बड़े-बड़े साधकों को भी यह परेशान कर डालता है। यह मन ही कषायों और राग-द्वेषों की ओर दौड़ाता है तथा यही हज़ारों-हज़ार उलझनें खड़ी कर देता है। मन को साधने के लिए ही हज़ारों योगी-साधक जप, तप-साधना और उपासना की संख्यातीत विधियों का आविष्कार करके उनकी ओर प्रवर्तित होते हैं। मन एक ऐसा अश्व है कि यदि लगाम हाथ में न हो तो सवार को किसी भी बीहड़ वन में भटका सकता है या भयंकर गड्ढे में डाल देता है।

किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मन की दिशा बदल जाए, उसे सम्यक् मार्ग मिल जाए तो वह प्रचण्डतम ऊर्जा का संवाहक बन कर परमात्म-साक्षात्कार का माध्यम भी बन सकता है। जैसे सुशिक्षित और हस्त-लगाम वाला घोड़ा सवार को इच्छित समय में इच्छित स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार समाहित-सुसाधित मन निश्चित गन्तव्य तक पहुँचा देता है। एक बार मन की शक्ति को पहिचानने-भर की आवश्यकता है। शक्ति की थाह मिल गयी और उसे दिशा मिल गयी तो मन के सारे भटकाव अवरुद्ध हो जाएँगे। मन एक बार भी अन्तर्मुखी बन तो जाए, फिर वह बाहर झाँकेगा ही नहीं। मन को एक प्रशस्ततम शक्ति के रूप में देखा जाए, उसे शत्रु नहीं, परम प्रिय मित्र माना जाए, तो वह मित्रवत् ही कार्य करेगा। मन के द्वारा ही तो योगिजन अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। यदि मन को ठीक से समझा जाए और उसके उपयोग की दिशा का सम्यग्बोध हो तो ज्ञात होगा कि मन एक महान् कार्यकर्ता है। वह एक महान् सृजनात्मक शक्ति है।

चंचलता भी शुभ

मान लें कि मन चंचल है। फिर भी वह चंचलता ही तो आत्म-साधना के लिए भी प्रेरित करती है। वही उच्च साधकों और साधना-केन्द्रों तक पहुँचने की प्रेरणा प्रदान करती है। मन चंचल है, इसीलिए तो वह कहीं भी सन्तुष्ट नहीं होता या स्थिर नहीं होता - विश्रान्ति नहीं लेता। उसे रूप मिला तो वह उससे श्रेष्ठ रूप की खोज करता है। रस मिला तो मधुरतम रस की खोज में और अधिक

दौड़ता है। गंध, स्पर्श और शब्द मिले तो वहाँ भी उसे अपनी उपलब्धि में कहीं सन्तोष है? वह उससे श्रेष्ठतम की अन्वेषणा-गवेषणा चालू रखता है। यह मन की चंचलता ही तो ऊँचे-से-ऊँचे स्थान की ओर चैतन्य को दौड़ाती है। उसे अधिक-से-अधिक आगे बढ़ने को प्रेरित करती है।

यदि मन चंचल नहीं होता तो क्रोधी क्रोध पर ही स्थिर हो जाता। मानी मान पर, और लोभी लोभ पर ही चिपक कर बैठ जाता। विषयी वासना में ही जड़ीभूत हो जाता; किन्तु ऐसा नहीं होता है। मन अपनी गति को रोकता नहीं, उसे कहीं विश्रान्ति नहीं मिलती। इसका अर्थ यह नहीं है कि मन विश्रान्ति नहीं चाहता है। वह दौड़ता ही रहना चाहता है। मन विश्रान्ति चाहता है; किन्तु वह अपूर्ण में नहीं रुकना चाहता है। वह सदा परिपूर्णता की खोज में दौड़ता-भटकता है। वह थोड़ी उपलब्धि से समझौता नहीं करता। वह पूर्णता में समाहित-अवगाहित होना चाहता है। वह अधूरी नहीं, पूर्ण समता चाहता है। वह एकात्मा से नहीं, विश्वात्मा, समस्त चराचर या परमात्मा के साथ एकाकार (तुल्य) होना चाहता है।

मन इसीलिए चंचल है कि वह इन्द्रियों के आकर्षणों को, अश्रान्ति को छोड़ कर परम शान्ति की ओर आगे से आगे बढ़ना चाहता है। जैसे मधुकर मकरन्द के लिए एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता रहता है, उसी प्रकार मन भी अधूरी तृप्ति के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय पर, एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। मन की चंचलता के सन्दर्भ में एक रहस्यमय विमर्श यह है कि वह पूर्ण विश्रान्ति चाहता है। अल्पकालिक अथवा अधूरी विश्रान्ति में वह स्थिर नहीं हो जाना चाहता और इसीलिए जब तक वह आत्म-समीक्षण या परमात्म-ध्यान में पूर्ण समरस नहीं बन जाता तब तक चंचल-चपल बना रहता है। यदि मन आत्म-समीक्षण की गहराइयों में डूब जाए, अन्तर्ज्योति के साक्षात्कार में लीन हो जाए या परमात्म भाव की गहनता में खो जाए तो वह चंचलता को त्याग कर अविचल-निश्चल हो जाएगा।

यह ध्यातव्य है कि मन आत्म-विस्मृति में कभी स्थिर नहीं रह पायेगा। उसकी चंचलता-अस्थिरता बढ़ेगी ही और वह इस चैतन्य देव को कभी भी सुख की साँस नहीं लेने देगा; किन्तु ज्योंही यह पूर्ण आत्म-विश्रान्ति में डूब जाता है, अपने आत्म में या परमात्म भाव में तन्मय बनता है कि इसे अपना स्थायी आश्रय मिल जाता है और वहाँ वह टिक कर बैठ जाता है। एक सामान्य सभ्य व्यक्ति को भी अपने बैठने के योग्य आसन मिलता है तभी वह वहाँ बैठना उचित समझता है अन्यथा वह खड़े रहना या इधर-उधर टहलना ही अधिक पसन्द करता है। यहाँ एक छोटी-सी कथा स्मृति-पटल पर उभर रही है—

मन को दें स्थान

एक अलमस्त साधक एक कुटिया में रहता था। कुटिया जंगल के मनोरम-शान्त-प्रशान्त-भव्य-रमणीय स्थान में थी; किन्तु थी घास-फूस की। महात्मा अपनी उस छोटी-सी कुटिया में ही योग साधते और आनन्द मनाते।

एक दिन नगर का सम्राट् के दर्शन हेतु कुटिया पर पहुँचा। महात्मा कहीं बाहर गये हुए थे। महात्मा के शिष्यों ने सम्राट् से कुटिया में बैठने का आग्रह किया; किन्तु सम्राट् बाहर वृक्ष के नीचे टहलता रहा, कुटिया में नहीं बैठा। कुछ समय पश्चात् महात्मा आ गये तो शिष्य ने साश्चर्य निवेदन किया - 'गुरुदेव ! इस सम्राट् से यहाँ कुटिया में बैठने का बहुत आग्रह किया; किन्तु वह बैठता ही नहीं, कभी से घूम रहा है'।

महात्मा ने कहा - 'भाई ! हम लोग ठहरे फक्कड़ - गरीब, और राजा को बैठने के लिए अच्छा आसन चाहिये। उसके योग्य जगह नहीं है तो वह कैसे बैठेगा ?'

बस यही स्थिति मन के संबन्ध में समझनी चाहिये। उसके अनुकूल स्थिति बना ली जाए, तो वह टिकेगा - स्थिर बनेगा, उसकी चपलता अपने-आप रुक जाएगी। यह मन अपने अनुकूल इच्छित वस्तु या सर्वोत्कृष्ट तत्त्व की उपलब्धि-हेतु भटकता है। सर्वोत्कृष्टता की उपलब्धि के साथ ही यह स्थिर हो जाता है।

समीक्षण : राग-द्वेष से विनिर्मुक्त हो रहना

इसमें राग-द्वेष-पूर्वक दमन का प्रतिपादन नहीं है। राग-द्वेष के साथ किसी का दमन करना समीक्षण-दृष्टि को इष्ट नहीं है। रागादिक वृत्ति से रहित अवस्था में साधक को मन का दमन करना होता है।

फ्रायड ने जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में दमन-संबन्धी विजय का विरोध किया है। वह रागादिक वृत्ति एवं इन्द्रिय विषयों से अनुरंजित है। उस विषय में मनोविज्ञान अधूरा रह जाता है। यही कारण है कि फ्रायड के शिष्य जुंग आदि ने फ्रायड के सिद्धान्तों का प्रायः समर्थन नहीं किया। उनकी दृष्टि कुछ विशद एवं गहराई से चिन्तन की थी। वस्तुतः अनुभव-सत्य भी इस बात की पुष्टि करता है कि अमुक अवस्था में अमुक सीमा तक दमन की भी आवश्यकता रहती है। छात्र-वर्ग को तटस्थ भाव वाला वास्तविक अध्यापक उसकी मनोनुकूल वृत्ति से शिक्षण नहीं देता; किन्तु विद्यार्थी की हित-दृष्टि से शिक्षण देता है। विद्यार्थी-अवस्था में रहने वाले छात्र-वर्ग पैनी दृष्टि से ऊँचाई तक चिन्तन नहीं कर पाता, अतएव वह अपना वास्तविक हित नहीं सोच सकता। उन विद्यार्थियों का वास्तविक हित तटस्थ अध्यापक ही सोच सकता है। तटस्थ दृष्टि से हित सोचने वाला शिक्षक विद्यार्थी

की मनोवृत्ति को देखता है। उसे लगता है कि इस विद्यार्थी की मनोवृत्ति कुसंगति से अथवा अन्य किसी भी हेतु से सही नहीं है। उसको उनकी वृत्ति का दुष्परिणाम दिखाने पर भी उस वृत्ति के अधीन रहने से विद्यार्थी जान नहीं पाता; अतएव अध्यापक उसकी वृत्ति को दबाता है। उससे कहता है कि अमुक कार्य तुम्हें नहीं करना है, अमुक कार्य तुम्हें करना होगा। विद्यार्थी की मनोवृत्ति नहीं होने पर भी शिक्षक के दबावपूर्वक कहने से स्वयं की मनोवृत्ति को दबा कर शिक्षक द्वारा बतलायी गयी प्रवृत्ति को कुछ समय अनमनेपन से भी करता है। कुछ समय के पश्चात् उसे उस प्रवृत्ति में स्वतः हित ज्ञात होता है। तब फिर पूर्व की मनोवृत्ति से उसकी रुचि हट जाती है। उसे वह हेय समझ कर अध्यापक के कथनानुसार चलने लगता है। फिर कोई अन्य व्यक्ति उसकी वृत्ति का दमन भी करना चाहे, तो वह विद्यार्थी कर नहीं पाता यथा—शिशु-श्रवस्था में खेलना, कूदना आदि क्रीड़ा-जनित कार्य अच्छे लगे हैं। उस समय हितैषी संरक्षक एवं शिक्षक उसको अक्षर-ज्ञान में बलपूर्वक लगाते हैं। वह आड़े-टेंढ़े अक्षर भी लिखने लगता है। पर जब उससे ज्ञात हो जाता है कि यह सीखे बिना मेरा छुटकारा नहीं है। शनैः-शनैः उसमें अपना मनोयोग लगा परीक्षा-फल के साथ संयोग कर अक्षरों का अच्छी तरह से अध्ययन करने लग जाता है, तब उसकी रुचि उसमें बढ़ जाती है। जो पूर्व की अनिष्ट वृत्तियाँ थीं, उनका रूपान्तरण हो जाता है। उससे उस विद्यार्थी को स्वयं की हित-दृष्टि का ज्ञान हो जाने से उन संरक्षक एवं शिक्षक का उपकार मानने लगता है और उस हित-दृष्टि को स्वयं के जीवन में उतार कर स्वयं को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। यह संरक्षक एवं शिक्षक की हित-भावनापूर्वक विवेक दृष्टि से दमन का ही फल सामने आता है।

मानसिक वृत्तियाँ सभी एक-जैसी नहीं होती हैं। कई वृत्तियाँ वास्तविक शिक्षणाभाव, कुसंगति एवं दुर्वासनाओं के अभ्यास से बन जाया करती हैं। उन वृत्तियों का स्वच्छन्दता-पूर्वक उपयोग करने दिया जाए तो वे पुरुष स्वयं का अहित संपादन करते हैं सो करते ही हैं; किन्तु उनका जिन-जिन के साथ संबन्ध रहा हुआ है, या होता है; उन सभी का अहित होता है। साथ ही परम्परा से अन्य अनेक आत्माओं का अहित होता है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि 'अप्पा चेव दमेयव्वो' स्वयं की आत्मा का दमन करना चाहिये, जिससे कि अन्य के द्वारा दमित होने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो।

समीक्षण-साधना का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि मन को एक अधूरे-नश्वर तत्त्व से दूसरे विनश्वर तत्त्व पर अविवेक-पूर्वक बलात् खींच कर रोकने की हठयोग की साधना कभी सफल नहीं हो सकती है। मन पूर्णता की तलाश करता है, तो उसे पूर्णता पर संतोष होगा। समीक्षण-ध्यान-साधना भी अज्ञानता के साथ अविवेक-पूर्वक जबरन अपूर्णता एवं विनाशशीलता पर रोकने का पक्षपाती नहीं है।

महावीर ने मन के अज्ञान एवं अविवेकपूर्वक दमन पर नहीं, संयमन पर जोर दिया है। संयमन का अर्थ है कि राग-द्वेष की वृत्ति से उपरत होना, उनसे विलग हो करके चलना।

समीक्षण-ध्यान मन पर अविवेक एवं अज्ञानतापूर्वक ज़बरन दबाव डालने का हिमायती नहीं है। आज का मनोविज्ञान भी सिर्फ फ्रायड के सिद्धान्तानुसार मन को बलात् रोकने का विरोधी है; किन्तु जुग आदि मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्त फ्रायड के अनुरूप कथन करने वाले नहीं हैं। वे आपेक्षिक दृष्टि से मन को अमुक सीमा तक विवेक-पूर्वक दमन के पक्षपाती हैं; अतः मन को सम्यक् ज्ञान के आधार पर साधने की प्रक्रिया सिखाता है—समीक्षण-ध्यान। समीक्षण-ध्यान का उद्देश्य है कि मन को छोटी-मोटी उपलब्धियों में नहीं, परम अध्यात्म, परम आनन्द की सरिता में गोता लगाने के लिए काषायिक वृत्ति से रहित यथावस्थित वस्तु का अवलोकन करते हुए अविनश्वर परम साध्य पर छोड़ दें, फिर वह अन्य कहीं भागने की चेष्टा नहीं करेगा। मन को उस पावन अन्तरात्मा की यात्रा का मार्ग दे दो, जहाँ उसे ऐसा रस आयेगा कि वह दौड़-दौड़ कर बारंबार वहीं भागेगा। एक बार उसे अन्तरात्मा की झलक मिली कि उसे इन्द्रियों के बाह्य विषय आकर्षित नहीं कर सकेंगे। एक बार उसे परमानन्द-मय परमात्मा की झलक मिल जाने दीजिये फिर मन कहाँ भागेगा? मन को उस पावन आत्म-यात्रा का मार्ग दे दो। जहाँ उसे ऐसा रस आयेगा कि वह दौड़-दौड़ कर बारंबार वहीं भागेगा। एक बार उसे अन्तरात्मा की झलक मिली कि उसे इन्द्रियों के बाह्य विषय आकर्षित नहीं कर सकेंगे, एक बार उसे परमानन्दमय-परमात्मा की झलक मिल जाने दीजिये; फिर वह कहाँ भागेगा?

इस रूप में समीक्षण-ध्यान के द्वारा हम न केवल मन की शक्ति को ही पहचानते हैं, अपितु अपनी अन्तश्चेतना में जो-जो शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं, उन्हें भी जान लेते हैं। इस ध्यान के द्वारा ही हम अंतरंग निधि का साक्षात्कार करके दारिद्र्य को मिटा कर परम गंभीर, परम श्रीसंपन्न बन जाते हैं। समीक्षण-ध्यान की यह साधना गहरे मनोविज्ञान से भी करके तत्त्व को संस्पर्शित करने वाली है। इसके द्वारा मन की परिधि का तो सांगोपांग विज्ञान होता ही है; किन्तु मन की परिधि से पर रहे अलौकिक तत्त्व का भी साक्षात्कार हो सकता है।

इसी आधार पर ध्यान को कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि एवं काम-कुम्भ-जैसे उन्नत तत्त्व से संतुलित किया जाता है। जैसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि एवं कामकुम्भ मनोवांछित फल प्रदान करने वाले हैं। उसी प्रकार समीक्षण-ध्यान साधना-की-प्रक्रिया सब कुछ आनन्द प्रदान करने वाली प्रक्रिया है। मनोवृत्तियों का पूर्ण समीक्षण हुआ नहीं कि चेतना पूर्ण आनन्दलीन हुई नहीं। मन को इस परिपूर्ण आनन्दमय विश्रान्ति में ले जाने की प्रक्रिया का नाम है—समीक्षण-ध्यान-साधना।

—व्याख्याता : आचार्य श्रीनानालाल

(संपादकीय : पृष्ठ १० का शेष)

अविकृत है, उससे आँख मिलाना कठिन है, किन्तु जो अंश-मात्र को भी विकृत है उस पर विजय पाने में कोई कठिनाई नहीं है।

व्यसन-मुक्ति जन-जीवन को सामाजिक शुद्धता या मौलिकता की ओर ले जाने का एक अभिनव नैतिक प्रयास है। साधुमार्ग ने हमेशा चाहा है कि समाज को सत्य, शिव और सौन्दर्य के त्रिभुज के बीच रख कर देखा जाए; वह सच्चा हो, स्वाभाविक हो, हितकारी हो, इसीलिए सम्यक् अर्थात् सानुपातिक यानी सुन्दर हो। सच्ची सौन्दर्य-सृष्टि बिना सम्यक्त्व के संभव नहीं है। ख्याल रहे, संसार में सादगी से बड़ी कोई सुन्दरता नहीं है और यह सादगी कुछ और नहीं है, मौलिकता का ही अपर नाम है। मौलिकता ही सादा हो सकती है, कृत्रिमता के सादा होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। साधुमार्ग की कोशिश रही है कि वस्तु की मौलिकता को पहिचाना जाए और उसे ही साहसपूर्वक सर्वत्र प्रतिष्ठित किया जाए। इस तरह हम व्यसन-मुक्ति के साधुमार्गी अभियान को उसकी सौन्दर्य-दृष्टि का ही एक मानवीय आयाम मानते हैं।

जहाँ तक हम समझ पाये हैं साधुमार्ग क्रान्तिसह्य है। उसमें दम है कि वह मौलिकताओं को बरकरार रख सके और ऐसे परिवर्तनों को साकार कर सके जो वाकई उपयोगी और यथार्थमूलक है। यही कारण है कि वह अपने ढाँचे में फूल की तरह कोमल है, बज्र की भाँति कठोर है; जहाँ करुणा और कोमलता चाहिये वहाँ वह वैसा है और जहाँ कठोरता और दृढ़ता चाहिये वहाँ वह वैसा है। कहा जाता है कि यह मार्ग आज भी पद-लिप्सा और प्रदर्शन-की-अनावश्यक भूख से सुरक्षित होने के कारण जैनाचार की मौलिकताओं की रक्षा कर रहा है अन्यथा जो दूसरे मार्ग हैं वे विचलित हुए हैं और ललचा कर उन्होंने खरे-खोटे समझौते कर लिये हैं।

इन्हीं कुछ कारणों से हम साधुमार्ग को 'सड़कों-के-लिए-एक-सड़क' कहेंगे यानी उसे 'राजमार्ग' के संबोधन से गौरवान्वित करना चाहेंगे। △

शुद्ध धर्म

मलेरिया, मलेरिया है। न हिन्दू है, न बौद्ध; न जैन है, न पारसी; न मुस्लिम है, न ईसाई।

कुनैन कुनैन है। वह न हिन्दू है, न बौद्ध; न जैन है, न पारसी; न मुस्लिम है, न ईसाई।

इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकास न हिन्दू हैं, न बौद्ध; न जैन हैं, न पारसी; न मुस्लिम हैं, न ईसाई।

वैसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिन्दू है, न बौद्ध; न जैन है, न पारसी; न मुस्लिम है, न ईसाई।

विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है; अतः शुद्ध धर्म न हिन्दू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है; वह बस शुद्ध धर्म ही है। —सत्यनारायण

धर्म और विज्ञान

स्थिति स्पष्ट है कि धर्म और विज्ञान का सम्यक् ज्ञान होने पर दोनों में स्वयमेव एक हितकारी संतुलन बन जाएगा। एल्विन टॉफ़लर के ये शब्द कि आज के वैज्ञानिक से यदि पूछा जाए कि उसका लक्ष्य क्या है; तो वह यह कहता हुआ पाया जाएगा कि हम एक ऐसी रेलगाड़ी में बैठे हैं, जिसका एक्सलरेटर (गति-उद्दीपक) तो निरन्तर दबता जा रहा है; किन्तु जिसके ब्रेक पर हमारा कोई काबू नहीं है। पता नहीं, क्या होने को है ?

—ज्ञान मुनि

विश्व का प्रत्येक प्रज्ञाशील मानव शान्ति की खोज में अनवरत प्रयत्नशील है। खोज की इस लालसा के पीछे मानवों ने अनेक साधन ईजाद किये हैं। जिस मानव के पास कुछ नहीं था, जो एक जंगली पशु से भी बदतर जीवन जीता था, उस मानव ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। बाहरी साधनों से तो वह लैस हो गया है, पर भीतरी विकास की ओर उसका ध्यान काफी कम हो गया है। यही कारण है कि वह इतने सब के बावजूद अशान्त और उद्विग्न है।

सुख पाने के लिए भौतिक साधनों के आविष्कार से भी कहीं अधिक आवश्यक है अध्यात्मिक विकास। भौतिक दृष्टि से उसने शरीर की छोटी-से-छोटी आवश्यकता की पूर्ति के लिए नये-नये आविष्कार कर लिये हैं। उसने क्या नहीं बना लिया है, हर अंग की सुविधा के लिए? इतना ही नहीं बल्कि शरीर को कम-से-कम कष्ट हो, इसके लिए मानव-जैसा ही एक यन्त्र-मानव (रोबॉट) तैयार कर लिया है; जो उसकी बहुत बड़ी आवश्यकता को पूर्ण कर देता है। जिस वस्तु की आवश्यकता हो लेटे-लेटे या बैठे-बैठे बटन दबाइये तुरन्त हाज़िर हो जाती है। रोबॉट, मानव के इशारे पर शीघ्र ही बड़े-बड़े कार्य व्यवस्थित रूप में संपन्न कर देता है। कहते हैं दत्सून-जैसी कंपनियाँ केवल १८ व्यक्तियों के सहारे रोबॉट की सहायता से प्रतिदिन २००० कारों का निर्माण करती हैं। टेक्सास इन्स्ट्रूमेन्ट्स तथा हेलविट एण्ड पेकार्ड-जैसे प्रतिष्ठानों में आज भी 'आदमी' नाम का कोई प्राणी काम नहीं करता है।

आज मानव-द्वारा निर्मित जड़ यन्त्रों से ही अधिकांश कार्य हो रहा है। अब तो मनुष्य को ज्यादा सोच-विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि विचारों को भी संगणक (कम्प्यूटर) की स्मृति में भर लो, और चाहे जब पुनः प्राप्त कर लो। नख-से-शिख तक व्यक्ति को आराम देने के लिए इतने अधिक साधनों के आविष्कृत होने पर भी उसे जो शान्ति प्राप्त होनी चाहिये वह नहीं हो सकी है; आखिर कारण क्या है ?

समाधान के लिए हमें भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की ओर देखना होगा। उन्होंने इसका सुन्दर हल प्रस्तुत किया है। 'आचारांग' में उनकी वाणी मुखरित हुई

है : जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया अर्थात् जो आत्मा है वही विज्ञानवान् है जो विज्ञानवान् है, वही आत्मा है। उन्होंने आत्मा और विज्ञान दोनों के बीच अभेद संबन्ध प्रतिपादित किया है; क्योंकि वर्तमान में जितना भी भौतिक विकास परिलक्षित है, वह सब आत्मा-के-विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान पर ही आधारित है। अगर आत्म-विज्ञान सक्रिय न हो तो भौतिकता से संबन्धित एक भी विकास-चरण सामने नहीं आ सकता। आज जितना जो कुछ नजर पड़ रहा है, उसके मूल में आत्म-विज्ञान ही है; इसीलिए कहते हैं कि आत्मा और विज्ञान में अभेद संबन्ध है।

विज्ञान के जड़त्व-संबन्धी सारे आविष्कार आत्म-ज्ञान पर आधारित हैं। अगर आत्म-सत्ता नहीं है, तो कुछ भी नहीं हो सकता। भौतिकी-के-वेत्ताओं ने आत्म-ज्ञान की मौलिक सत्ता को छोड़ कर केवल जड़त्व के विकास को ही प्रधानता दी है। वे जड़त्व के विकास में ही निरन्तर आगे बढ़े हैं; किन्तु जब आविष्कृत साधनों से उन्हें शान्ति नहीं मिली तब वे मानने लगे कि इस जड़ता के पीछे भी कोई महासत्ता है जिसके कारण सारा कार्य चल रहा है। वह महासत्ता कैसी है? बस यहीं इस बिन्दु पर जन्म होता है मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान का। अणु-विज्ञान के मर्मज्ञ अल्बर्ट आइन्सटाइन ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुझे विश्वास हो गया कि इस जड़ प्रकृति के भीतर भी एक विकासशील चेतना कार्य कर रही है।

सर ए. एस. एडिंग्टन ने भी यही कहा है कि भौतिक पदार्थों के भीतर एक चेतना-शक्ति काम कर रही है। ऐसे अनेक वैज्ञानिकों के अन्वेषणों ने मनोविज्ञान को बड़ी तेज गति दी है। मनोवैज्ञानिक आत्मा की परमसत्ता को विशेष सक्रिय करने के लिए पुरुषार्थशील बने। उनके पुरुषार्थ ने रंग दिखाया और बिना किन्हीं भौतिक साधनों के अनेक आविष्कार सामने आये।

बतलाया गया है कि रूस में मास्को के तिफिलस नगर में परामनोविज्ञानी फलादोव ने टेलीपैथिक सम्प्रेषण के माध्यम से करीब डेढ़ हजार मील दूर बैठे व्यक्ति को सुला दिया और सोये हुए को जगा दिया। वैज्ञानिकों को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने जब इसकी गहन छान-बीन की तब उन्हें विश्वास हो गया कि भौतिक साधनों से परे भी कोई महासत्ता (आत्मा) है जो भौतिक साधनों से कई गुना आग है। संकल्प-शक्ति (विल पाँवर) के ऐसे एक नहीं अनेक चमत्कार सामने आये हैं। क्रैमलिन में स्टालिन के सामने वैज्ञानिक वुल्फमेसिग ने ऐसे अनेक चमत्कार दिखलाये थे। स्टालिन को तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब उसके निवास स्थान पर रात्रि के बारह बजे वुल्फमेसिग आ खड़ा हुआ। उसने कहा तुम यहाँ आ कैसे गये, जबकि

मेरे रहने के अनेक कमरे हैं? कमरे के बाहर सुरक्षा-दल तैनात है उस सुरक्षा-दल को भी मालूम नहीं कि मैं किस कमरे में हूँ; तब तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ? क्या सुरक्षा-कर्मियों ने तुम्हें भीतर आते हुए नहीं रोका?

वुल्फमेसिंग बोला — स्टालिन! बात तुम्हारी सच है; किन्तु यह सब मैंने अपनी संकल्प-शक्ति के आधार पर किया है। यह तुम जानते हो कि तुमने उस विशिष्ट व्यक्ति बेरिया को 'क्रेमलिन' में कहीं भी जाने की छूट दे रखी है। मैंने उसी का फायदा उठाया है। मैंने अपने मन में यह निश्चित किया कि 'आइ एम नॉट वुल्फमेसिंग; आइ एम बेरिया'। संकल्प की इस मजबूती के कारण मेरा बाह्य आभा-मण्डल ऐसा तैयार हो गया कि मैं तुम्हारे सुरक्षा-कर्मियों को बेरिया ही नज़र आया; तब वे मुझे कैसे पकड़ते? दूसरी बात, मैंने अपने मन में निर्णय कर लिया कि 'मैं सीधा स्टालिन के पास पहुँचूँ' तो इस संकल्प ने स्वतःचलित यन्त्र की भाँति मुझे तुम्हारे पास पहुँचा दिया। वुल्फमेसिंग ने संकल्प-शक्ति के ऐसे कई प्रयोग जनता के सामने प्रस्तुत किये। चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में भी वैज्ञानिक बेतिस्लाव काफ्का ने ऐसे अनेक प्रयोगों से भौतिकी वैज्ञानिकों को आत्मा की सत्ता को मानने पर बाध्य कर दिया। वह केवल अपने संकल्प से पक्षियों को दूर बैठे ही मार गिराता था।

इस प्रकार विज्ञान, जो विशेष रूप से जड़ तत्त्वों को ही प्रमुखता देता था; धीरे-धीरे धर्म की मौलिक व्याख्या को, आत्मा से जुड़ी है, भी मानने लगा है। उसकी खोज में भी वह निरन्तर प्रयत्नशील है। इधर धर्म, जिसकी सारी व्याख्या करीब-करीब अध्यात्म पर टिकी है, ने भी जड़ तत्त्वों को प्रासंगिक रूप से प्रतिपादित किया है। भगवान् महावीर के सिद्धान्तों में स्थान-स्थान पर जड़ तत्त्वों की भी पर्याप्त चर्चा आयी है।

जिस प्रकार भगवान् ने जड़ तत्त्वों में पृथ्वीकायिक जीव प्रतिपादित किये हैं, उसी तरह वैज्ञानिक एच. टी. बसंटापेन ने भी कहा है कि पृथ्वी के एक कण में लाखों जीव हैं। विदेश में स्थित न्यूगिकि पर्वत को आज भी बढ़ता हुआ स्वीकार करते हैं। महावीर ने सचित्त पानी में असंख्यात जीव बतलाये हैं। वैज्ञानिक स्केवेसिवि ने भी पानी की एक बूंद में ३६,४५० जीव कहे हैं। यद्यपि महावीर की दृष्टि में वे पानी के जीव नहीं हैं, तब जीव हैं। उनकी दृष्टि में तो एक बूंद पानी, असंख्य जलीय जीवों का पिंड है; फिर भी वैज्ञानिक उस सिद्धान्त के निकट पहुँचते जा रहे हैं। वायु में भी भगवान् महावीर ने असंख्य जीव बतलाये हैं। विज्ञान भी आज कह रहा है कि सुई-के-छिद्र में जितनी जगह है उतने स्थान में वायु के लाखों जीव हैं, जिन्हें 'थेक्सस' के नाम से पुकारते हैं।

वनस्पति के सजीवत्व का वर्णन तो जैनधर्म में खुल कर आया है, जिसे डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने जनता के सामने स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त भी जैन दर्शन में परमाणु की अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचना हुई है। वैज्ञानिकों ने भी परमाणु की गहन खोज की है; किन्तु अधिकांश ने उसका विध्वंसात्मक रूप ही प्रतिपादित किया है। दूसरी ओर जैन दर्शन ने उसके सृजनात्मक पक्ष पर भी प्रकाश डाला है। जिस परमाणु से हज़ारों-लाखों प्राणियों को मारा जा सकता है, उस परमाणु से, मरते हुए रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों को बचाया भी जा सकता है, उन्हें स्वस्थ भी किया जा सकता है। ऐसे-ऐसे रसायनों को मिला कर अणु बम तैयार किये जा सकते हैं, जिनसे जिस किसी क्षेत्र में कोई भी रोग वायुमण्डल में फैलकर मानवों को, प्राणियों को पीड़ित कर रहा हो तो उस क्षेत्र में उसके विलोम परमाणुओं से बने अणु बम का प्रयोग करने से संक्रामक परमाणु शान्त हो सकते हैं और मानवों की रक्षा हो सकती है; किन्तु दुर्भाग्य से इस ओर आज के वैज्ञानिकों का ध्यान बहुत कम है। अल्बर्ट आइन्स्टाइन की 'थिअरी ऑफ रिलेटिविटी' (सापेक्षता सिद्धान्त) भगवान् महावीर के स्याद्वाद से बहुत मेल खाती है।

उन्होंने शब्द (ध्वनि) को भी पुद्गल (मैटर) के रूप में प्रतिपादित किया है; और यह स्पष्ट किया है कि उसे वापिस सुना भी जा सकता है। आज के भौतिक विज्ञान ने टी. बी., रेडियो, ट्रान्समीटर (वायरलेस) जैसे साधन ईजाद कर इस बात को अब बखूबी स्वीकार कर लिया है। विचारों से होने वाले आभा-माण्डलिक परिवर्तनों के चित्र भी आज वैज्ञानिकों ने ले लिये हैं। आज का टेलीपैथिक सम्प्रेषण अगर कहा जाए तो महावीर के सिद्धान्त में वर्णित अभिग्रह की व्याख्या के बहुत नज़दीक है।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित बीसियों सिद्धान्तों को आज के विज्ञान ने पुष्ट कर दिया है किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि जैनधर्म के सिद्धान्त विज्ञान पर आधारित हैं। वे तो अपने-आप में पूर्ण हैं ही; परन्तु कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जैनधर्म का आधुनिक विज्ञान के साथ काफी सामंजस्य है। यहाँ आ कर धर्म विज्ञान में, और विज्ञान धर्म में प्रवेश कर गया है। इस सामंजस्य के होते हुए भी दोनों में बहुत बड़ा भेद है। आधुनिकतावादी, जो धर्म की गहराइयों को नहीं समझते, मानते हैं कि धर्म तो आँखें मूँद कर मानने की वस्तु है और विज्ञान आँखें खोल कर दिखलाने की; अतः वे धर्म को उपेक्षित कर विज्ञान को सहज ही स्वीकार कर लेते हैं। उनकी यह धारणा सही नहीं है। जैनधर्म ने कभी आँखें मूँद कर कोई भी बात मानने के लिए नहीं कहा है। जैनधर्म की हर बात अनुभूति-की-गहराइयों से गुजर कर ही प्रस्तुत की गयी है, इसीलिए उसकी वैज्ञानिक अवस्था में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। किन्तु करें क्या? आज का व्यक्ति एक ही षहिये से अपने

जीवन-रथ को हाँकने का प्रयास कर रहा है; इसलिए वह स्थान-स्थान पर व्यथित और खिन्न हो रहा है। कोई रथ एक पहिये से नहीं चल सकता। जीवन-रथ को गति देने के लिए धर्म एवं विज्ञान दोनों पहियों की आवश्यकता है, साथ ही चाहिये सामंजस्य। जब तक इन दोनों के बीच कोई रचनात्मक सामंजस्य नहीं होगा, तब तक कुछ भी नहीं हो सकेगा। धर्म-रहित विज्ञान ने उन्नति तो खूब की है; किन्तु उसके विस्फोटक नतीजे ही अधिक सामने आये हैं। जिस विज्ञान की उन्नति से मानव को शान्ति मिलनी चाहिये, वह उसे और अधिक अशान्त बनाये हुए है। जिस विज्ञान को मानव के जीवन-विकास के लिए होना चाहिये, वह उसे निरन्तर रसातल की ओर ले जा रहा है। आये दिन विज्ञान के विध्वंसक अणु विकास-के कारण व्यक्ति भयाक्रान्त हो रहा है; क्योंकि नागासाकी और हीरोशिमा के काण्ड ने आदमी के दिल को दहला दिया है। आदमी अपनी रक्षा के लिए जिन शस्त्रों का उपयोग दूसरों को मारने के लिए कर रहा है। वे उसके लिए भी घातक हैं। दूसरों को मारने वाला भी शान्ति से जी नहीं सकता; क्योंकि वर्तमान युग में भौतिक विज्ञान के विकास ने बड़ा भयानक रूप ग्रहण कर लिया है। विज्ञान के इस पथभ्रष्ट रूप को सही राह पर लाने के लिए महावीर का सिद्धान्त 'जिओ और जीने दो' की आवश्यकता है। स्वयं जीओ और जीने के दूसरों के अधिकार को मत छीनो। यदि हम दूसरों का अधिकार छीनते हैं तो निश्चित ही एक दिन हमारा अधिकार भी छीन लिया जाएगा। यही हो भी रहा है; इसलिए विज्ञान विकसित हो कर भी एक खतरनाक मोड़ पर आ गया है। घटना अमेरिका की है। थियोडोर रूजवेल्ट (१८५८-१९१९) की (जो पहले सेनापति था और बाद में राष्ट्रपति बना) पत्नी एक बार पागलखाना देखने गयी। पागलखाने का संचालक अनुपस्थित था; अतः वह सोच ही रही थी कि इतने में एक फुर्तिले ग्रेज्युएट युवक ने कहा आइये मैं बतलाये देता हूँ। उसकी रौबिली आवाज़ सुन कर वह उसके पीछे हो गयी। उसने बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रत्येक पागल का परिचय कराया। उसके इस शालीन व्यवहार से श्रीमती रूजवेल्ट बहुत अभिभूत हो उठीं और बोलीं - तुम कौन हो और यहाँ कैसे हो? युवक बोला - मैं पागल हूँ। भर्ती हूँ। यह सुन कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा - तुम्हें कौन पागल कह सकता है? तब वह बोला - यही तो मैं भी कह रहा हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ और बात समझता भी हूँ फिर भी ये मुझे छोड़ते नहीं हैं। मेहरबानी करके आप मुझे यहाँ से छुड़वा दीजिये; क्योंकि आप भी देख रही हैं कि मैं पागल नहीं हूँ।

इस पर श्रीमती रूजवेल्ट ने कहा - ठीक है, मैं घर पहुँच कर अपने पति से निवेदन करूँगी कि वे तुम्हें मुक्त करवा दें।

युवक बड़ा प्रसन्न हुआ। बातें करते-करते दोनों पागलखाने से सीढ़ियाँ उतरने लगे। श्रीमती रूजवेल्ट आगे थीं, और युवक पीछे। युवक ने धक्का मारते हुए

कहा — ध्यान रखना। भूलना मत। अपने पति से कहना कि वह मुझे अवश्य मुक्त करा दे। उन्हें अब समझ में आया कि युवक को पागलखाने में क्यों बंदी बनाया गया। सोचने लगीं सब कुछ सही है फिर भी इसकी इस हरकत ने इसे पागल साबित कर दिया है। वे बोलीं — बस, अब सारा राज समझ में आ गया है। जो हाल तुम्हारा है, वही हाल आज विज्ञान का है। विज्ञान इतना विकसित हो कर भी कुछ बातें ऐसी नासमझी की कर रहा है कि उसका दुष्प्रभाव समूची मानव-जाति पर पड़ रहा है। जब तक 'पागलपन का यह भूत' मन से नहीं निकलेगा और 'स्वयं के जीने के साथ दूसरों के जीने के अधिकार' के विषय में नहीं सोचा जा सकेगा, तब तक मानव इतना अधिक विकसित हो कर भी शान्ति से नहीं जी सकेगा।

अमेरिका की ही एक और घटना पढ़ने को मिली कि वहाँ के एक पाँच सितारा होटल की फट्टहवीं मंजिल से एक व्यक्ति ने कूद कर आत्महत्या कर ली। जब मामले की जाँच-पड़ताल की गयी तो उसके कमरे में उसी के हाथ का लिखा एक पत्र मिला जिसमें लिखा था — 'मैंने जो कुछ चाहा, मिल गया। अच्छी शिक्षा, अच्छी नौकरी, अच्छी पत्नी। सब कुछ मुझे मिल गया। अब मेरे जीवन में जीने की कोई चाह नहीं है; अतः मैं आत्महत्या कर रहा हूँ।'

यह रिपोर्ट क्या सिद्ध कर रही है? स्पष्ट है कि उस व्यक्ति के दिमाग में सिर्फ भौतिक विकास की ही एक तस्वीर थी। उसने केवल बाहर को ही सब कुछ माना। जीवन को एक ही तुला पर तौला; इसलिए यह स्थिति बनी। यदि उसे आत्मधर्म का जरा भी इल्म होता तो यह स्थिति नहीं बनती।

उपलब्धि बाहर से कुछ नहीं, जो भी है वह सब भीतर से है। भीतर से जिसने पा लिया; वह बाहर कुछ पाये, न पाये; कोई फर्क नहीं पड़ता। उस व्यक्ति की तरह कड़ियों की स्थिति ऐसी ही बनती जा रही है। जब तक विज्ञान पर धर्म का नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक हाल यही रहेगा। आज के विज्ञान की रगों में यदि धर्म का रक्त संचारित किया जाए तो उसके सही नतीजे निकल सकेंगे। विज्ञान को सही मायने में समझने के लिए तथा धर्म के साथ उसका तालमेल बिठाने के लिए एक ऐसे प्रज्ञा-पुरुष की आवश्यकता है, जो सही स्थिति उत्पन्न कर सके। भारतीय संस्कृति वैसे भी धर्म-प्रधान संस्कृति रही है। यहाँ त्यागियों और योगियों का प्राधान्य रहा है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए ऐसा लगता है कि भारतीयों पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है। उन पर भौतिकता हावी होती जा रही है। अगर यही स्थिति रही, तो अमेरिका में घटने वाली घटनाएँ यहाँ भी होने लगेंगी। इस से पहले कि ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति आये हमें ऐसी तैयारी कर लेनी है, जो सम्यक्त्व और सामंजस्य पैदा कर सके ताकि हम अशान्ति और क्लेश से बच सकें।

घटना है कि कहीं पति-पत्नी में गरमागरम बहस हो रही थी। दोनों जोर-जोर से बोल रहे थे। उनके इस शोरगुल को सुन कर एक पड़ौसी चला आया और उन्हें परस्पर लड़ते देख बोला — भाई, बात क्या है? आप लड़ क्यों रहे हैं? इस पर पत्नी ने कहा — देखिये जी! मैं कहती हूँ कि मैं अपने लड़के को डॉक्टर बनाऊँगी क्योंकि मैं बीमार बनी रहती हूँ। चूँकि जब घर में ही डॉक्टर हो जाएगा, तब मुझे कहीं और जाना नहीं पड़ेगा। वह घर-बैठे ही इलाज कर देगा। डॉक्टरी से पैसा कमा लेगा। इतने में पति बीच में बोल पड़े — नहीं साहब, मैं तो लड़के को वकील बनाना चाहता हूँ, क्योंकि मेरा पेशा वकालत का है। वह मुझे सहयोग देगा और पैसा भी कमा सकेगा। बस इसी बात को ले कर हममें यह झगड़ा हो रहा है।

समझदार पड़ौसी ने कहा — ठीक है आप लोग निर्णय करने से पहले अपने बेटे को बुलायें और उससे पूछें कि आखिर वह खुद क्या बनना चाहता है? डॉक्टर या वकील? जो वह चाहेगा महत्वपूर्ण वही होगा। इस पर दोनों बोल उठे — भाई साहब! अभी तो लड़का पैदा ही नहीं हुआ है; किससे पूछें? पड़ौसी मुस्करा कर लौट गया।

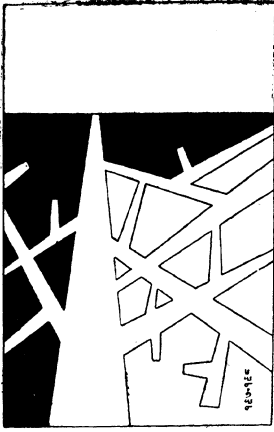
यह तो थी उन दोनों की अज्ञानता कि वे अकारण झगड़ रहे थे; पर आज हम भी न तो धर्म को पूरी तरह जान पाये हैं और न विज्ञान के सदुपयोग की पूरी जानकारी हमारे पास है; इसलिए परस्पर संघर्ष की स्थिति बनी हुई है। ऐसी विषम स्थिति में मानव-मात्र में ऐसा विवेक जगाना होगा कि वे एक-दूसरे को समझें और एक-दूसरे के नजदीक आयें। अच्छा तो यह हो कि हम विज्ञान को धर्म की कसौटी पर कसें और धर्म को विज्ञान की; ताकि कोई रास्ता बन सके। प्रो. हेनरी के ये शब्द कि 'जो शख्स यह सोचता है कि विज्ञान और धर्म में कोई वास्तविक विरोध है; उसे मानो विज्ञान का कम ज्ञान है, या वह धर्म से अनजान है।

उक्त स्थिति का स्पष्ट तर्कादा है कि धर्म और विज्ञान का सम्यक् ज्ञान होने पर दोनों में स्वयमेव एक संतुलन बन जाएगा। एल्विन टॉफ्लर के ये शब्द कि आज के वैज्ञानिक से अगर पूछा जाए कि उसका लक्ष्य क्या है; तो वह यह कहता हुआ पाया जाएगा कि हम एक ऐसी रेलगाड़ी में बैठे हैं जिसका एक्सलरेटर (गति-उद्दीपक) तो निरन्तर दबता जा रहा है; किन्तु जिसके ब्रेक पर हमारा कोई काबू नहीं है, पता नहीं क्या होने को है?

भौतिक विज्ञान का हाल आज यही है। वह आविष्कार तो धड़ल्ले से किये जा रहा है; किन्तु उनके इस्तेमाल पर उसका कोई काबू नहीं है। इस ओर उसका कोई ध्यान ही नहीं है।

सही स्थिति में ऐसे आविष्कारों से हम शान्ति कैसे प्राप्त कर सकेंगे? अगर शान्ति पाना है तो बिना ब्रेक के विज्ञान-रथ पर हमें धर्म या नीति का ब्रेक लगाना होगा। 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित करना होगा।

विज्ञान और धर्म के सामंजस्य की सार्थकता को समझते हुए यदि व्यावहारिक जीवन में उसका संतुलित उपयोग किया जाएगा तो वह दिन दूर नहीं है जब नरक-जैसी भयानक हुई इस दुनिया में स्वर्ग उतर आये। मनुष्य के लिए असंभव कुछ भी नहीं है; किन्तु आवश्यकता है सही दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ की। —प्रस्तुति : चम्पालाल डागा



साधुमार्ग : विशेषांक : मैं

मैं बहुत कम ही तैयार होता हूँ किसी 'विशेषांक' के संपादन-प्रकाशन के लिए और फिर इतनी कम सूचना पर कि योजना ही न बनायी जा सके। अब तक 'तीर्थकर' के जितने विशेषांक प्रकाशित हुए हैं उनमें-से प्रत्येक की परिकल्पना, सामग्री, संयोजन, संपादन, सज्जा, मुद्रण आदि पर कम-से-कम साल-भर तो लगा ही है। इससे कम में कभी कोई विशेषांक प्रकाशित नहीं हुआ; और फिर एक ऐसे जैन समुदाय के संबन्ध में जिसे ले कर मेरे चित्त पर बहुत स्पष्ट बिम्ब न हो—'हाँ' भरना काफी कठिन लगता था।

सब जानते हैं 'तीर्थकर' के विशेषांकों के पीछे कोई लाभ-लोभ काम नहीं करता — कर ही नहीं सकता; कोई चाहे कितना ही धन उपलब्ध क्यों न कराये, जब तक विशेषांक की अस्मिता, उसके प्रभाव, उसकी उपयोगिता और रचनात्मकता के बारे में कोई स्पष्टता नहीं बनती मैं उसके संपादन के लिए तैयार हो जाऊँ, यह मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव ही समझिये।

मेरे बहुत ही अंतरंग मित्र (परिजन ही कहिये) हैं कलकत्ते के भाई सरदारमलजी काँकरिया। मेरा उनसे परिचय कब हुआ? कैसे हुआ? नहीं जानता; किन्तु जब से है तब से मैं उन्हें एक साहसी और सूझबूझ-संपन्न सद्गृहस्थ के रूप में

देख रहा हूँ। जानता हूँ कि वे एक जागृत, विचारवान्, शालीन, किसी बात को बिना सुदूर की सोचे न करने वाले, संकल्प के पक्के (इतने कि जब किसी जिम्मेवारी को ओढ़ लेते हैं तब अपना कदम पीछे नहीं हटाते) व्यक्ति हैं। उनसे कई बार चर्चा हुई है और वे इन कसौटियों पर खरे उतरे हैं। कलकत्ते में, रतलाम में, इन्दौर में – जहाँ भी/जब भी उनसे भेंट हुई है, मैंने उन्हें पराक्रमी और क्रान्तिधर्मा श्रमणोपासक के रूप में ही पाया है। मैं अक्सर सोचता रहा हूँ कि यदि उन-जैसे मिजाज वाले पाँच-सात श्रावक समर्पित चित्त से किसी रचनात्मक परिवर्तन को आकार देने में जुट जाएँ तो पूरे समाज में जागृति की एक नयी लहर आ सकती है।

जुलाई की बात है। वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी की आँखों के ऑपरेशन का सिलसिला था। कंचनबाग में आचार्यश्री का पड़ाव था। काँकरियाजी का पत्र मिला कि वे इन्दौर आ रहे हैं और श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के रजत-जयन्ती वर्ष में 'साधुमार्ग विशेषांक' के प्रकाशन पर चर्चा करना चाहते हैं। मैंने उन्हें लिखा : आप आइये। आपका हृदय से स्वागत; किन्तु विशेषांक पर तो प्रत्यक्ष में ही चर्चा संभव होगी; अभी अन्तिम कुछ लिखना संभव नहीं है। वे यहाँ आये।

मेरे साथ कंचनबाग-पड़ाव पर गये।

आचार्यश्री से इससे पूर्व दो-तीन भेंटें हो चुकी थीं। सबसे पहले अजमेर में, फिर बोरीवली (बम्बई) में। आरंभ से ही मेरी उनके प्रति असीम श्रद्धा रही है। मैं उन्हें एक मितभाषी और प्रतिपल अग्रमत्त साधु के रूप में प्रणाम करता रहा हूँ। जहाँ भी, जब भी, जितने वक्त उनसे धर्म-चर्चा हुई मैंने उन्हें बहुत खुले मन का मनीषी पाया है – ऐसा व्यक्ति जिसके आस-पास कई सरहदियाँ खिंची हैं; किन्तु जिसने कभी कोई दुराव नहीं रखा। साधु-जीवन की मर्यादा के अनुरूप वे मिले और उन्होंने अपनी परम्परित मुस्कराहट के साथ अपने शृभाशीष दिये।

कंचनबाग के पड़ाव पर जब उनसे भेंट हुई तब दर्शनार्थियों का ताँता लगा था और वे अस्वस्थ थे। चिकित्सकों ने उन्हें विश्राम की सलाह दी थी – तथापि काँकरियाजी, मानव मुनिजी, और मैं उनसे मिले। उनकी आँखों में मोतियाबिंद की धुंध थी अतः बहुत नज़दीक से ही वे मुझे पहिचान सके। कई-कई सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक विषयों पर चर्चा हुई। मैंने उनसे काँकरियाजी के प्रस्ताव पर भी बातचीत की। कोई ठोस सहमति तो नहीं हुई; किन्तु मैं समझता हूँ उनकी कोई असहमति भी नहीं थी। मुझे लगा कि एक साधु जिस तरह विविक्त चित्त से कुछ कह

सकता है वह उन्होंने बहुत परिमित शब्दों में कह दिया है। मैंने उनकी ध्राँखों से विकीरित रोशनी की किरणों को देखा और अनुमान लगाया कि अब मुझ 'विशेषांक' के बारे में सोचना शुरू करना चाहिये। यह संत पुरुष अपनी सीमाओं में मुझे अवश्य उपकृत करेगा। मेरे भीतर संभावनाओं के कारवाँ ने आगे बढ़ना शुरू किया।

सबमें पहला संकट सामग्री का आया। सामग्री क्या हो? कैसी हो? कितनी हो? मैं सोचने लगा कि क्या जैनों में ऐसे लेखक हैं जो सर्वथा बस्तुनिष्ठ चित्त से किसी संप्रदाय-विशेष का मूल्यांकन कर सकें? क्या ऐसे रचनाकार और साहित्य-मनीषी हमारे बीच हैं जो निन्दा-स्तुति से बच कर किन्हीं तथ्यों पर तटस्थ विचार रख सकें या ऐसे व्यक्ति हैं जो धार में खड़े रह कर बड़े अभीत चित्त से धार के बारे में भी कुछ कह सकें? मैं गहरी फिक्र में पड़ गया। मुझे लगा कि ऐसे लेखकों को प्रस्तावित विशेषांक के लिए प्राप्त करना कठिन होगा (क्योंकि सामान्य विशेषांकों तक के लिए मुझे/मुझ अकेले को जूझना पड़ता है)। सोचा - चलो कुछ लेखकों को - जैसे भी वे हैं - लिख देखूँ अन्यथा फिर वह तो करना ही है जो प्रायः अन्य विशेषांकों के सिलसिले में करता रहा हूँ। एक सूची तैयार की। पत्र लिखे। उत्तर नहीं आये। जब भी किसी लेखक-मित्र से आमने-सामने बात हुई तो बोले लिख तो सकता हूँ; किन्तु 'तीर्थकर' के स्तर का वह होगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकता।

मैंने कहा - आप लिखिये तो, संपादन मुझ पर छोड़ दीजिये। मेरा वह हक मत छीनिये। मैं उसमें वाचकता (रीडेबिलिटी) उभार लूँगा। उसे अपने प्रिय पाठकों के लिए सुपाच्य और सुवाच्य (डायजस्टिबल/रीडेबल) बना लूँगा। आपकी अस्मिता और गुणवत्ता भी बनी रहेगी। लेख या रचना की सीमाएँ क्या होंगी, उसका कथ्य क्या होगा, क्या मुझाना होगा, समाज पर क्या प्रभाव या प्रतिक्रिया होगी इत्यादि ढेर-सारी बातें उनसे हुईं।

मैंने अपने मित्र-लेखकों को लिखा कि मैं हर लेखक की अस्मिता और प्रभुसत्ता का ध्यान रखता हूँ, उसका भरपूर सम्मान करता हूँ, और अपने कर्तव्य/दायित्व को किसी तरह उन दोनों के साथ 'मिक्स-अप' नहीं करता। मैं नहीं चाहता कि आप यह सोचें कि मैंने किसी एक तर्ज पर लिखने-लिखाने के लिए आपको विवश किया है और 'जैसा मैं चाहता था वैसा' लिखवा लिया है। असल में मैं किसी लेखक या कलाकार के स्वतंत्र सोच



को प्रभावित करने के पक्ष में कतई नहीं हूँ; किन्तु यह अवश्य चाहता रहा हूँ कि लेखक में ऐसा साहस और पराक्रम हो कि वह बिना किसी झिझक के संपादक या किसी व्यक्ति या समुदाय का ध्यान रखे बगैर जो कुछ वह उचित समझता है बेलौस कहे — कबीर की तरह कहे; ताकि जो काम 'तीर्थकर' करना चाहता है उसे किया जा सके। काम मुश्किल है, किन्तु बेहद जरूरी है। खासतौर से ऐसे ज़माने में जबकि पैसा ही सबकुछ है— अपने स्वाभिमान को बनाये रखना और समाज को स्पष्ट/बेलाग दिशा-दर्शन देना बहुत कठिन काम है।

मुश्किल यह हुई कि 'साधुमार्ग' या वर्तमान आचार्यश्री की प्रशंसा में तो लेख आये; किन्तु कोई ऐसा लेख या ऐसी रचना नहीं आयी जो शुद्ध सैद्धान्तिक या वस्तुनिष्ठ हो;

इस तरह तय हो गया कि विशेषांक के लिए जो मेरी वचनबद्धता है उसे मुझे ही अ से ह तक संपन्न करना है।

सबमें पहला काम मैंने यह किया कि जो भी साहित्य साधुमार्गी पंथ-समाज को ले कर मिल सका, उसे 'इंटेंसिव्हली' पढ़ डाला। ज़र्रा-ज़र्रा देख गया। विगत कुछ आचार्यों के प्रवचनों का पारायण किया। कहीं सहमत हुआ, कहीं असहमत; किन्तु पता नहीं क्यों ८०% सहमत हो गया। मुझे लगा कि यदि साधुमार्ग यही है। तो कुछ संशोधनों या परिवर्द्धनों के साथ इसे फ़ैलाया जाना जरूरी है।

लगा कि यदि इसके तमाम आचार्य उन्नासीवें आचार्य श्री जवाहरलालजी की तरह ही हैं तो इस संप्रदाय की जोड़ का कोई दूसरा जैन संप्रदाय नहीं है ।

अध्ययन करते-कराते मेरे मन में सबसे पहले यह बात उगी कि यदि मुझसे कोई पूछ बैठे कि यह 'साधुमार्ग' क्या है तो मैं उसे क्या जवाब दूँगा ? कैसे बताऊँगा उसे, चन्द अल्फाज़ में, कि साधुमार्ग यह है ? बहुत सोच-विचार के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि साधुमार्ग वह है जिसमें साधु आत्मकल्याण और लोककल्याण के मध्य एक आदर्श सन्तुलन बनाता है इस तरह कुछ कि आत्म-कल्याण की दुर्गम राह तो वह चलता ही है साथ ही लोककल्याण की राह भी नहीं छोड़ता ।

मैं सोचता रहा कि यदि साधुई जीवन-दर्शन की तराजू के एक पलड़े पर आत्महित और दूसरे पर जनहित को रखा जाए तो क्या आज लाभ-लोभ इतने अधिग्रह नहीं हैं कि कोई साधु या साधुपासक सन्तुलन-के-बिन्दु से भटक जाए ? ख्याति, धन, प्रकाशन, जय-जयकार क्या कम तृष्णाएँ उत्पन्न करते हैं ? क्या आज के अधिकांश साधु इस मायाजाल में नहीं फँसे बैठे हैं ?

मुझे पसीना आ गया कि विशेषांक तो ले लिया किन्तु साधुई जीवन की आगमसम्मत कसौटियाँ जब मुझे चिड़ायेगी तब मैं क्या करूँगा ? उनसे कैसे बचूँगा ? यदि मुझ से कोई अपराध बन पड़ा (वैसे सामान्यतया कोई अपराध बनता नहीं है) तो क्या करूँगा ? मन को जैसे-तैसे मनाया तथा आत्महित और जनहित के बीच एक सूक्ष्म और सही सन्तुलन के सिलसिले में सोचने लगा । मुझे लगा, अन्ततः, कि सुचिन्तित आत्महित ही लोकहित है और सुचिन्तित/सुनियमित जनहित ही आत्महित । साधु या श्रावक को सच्ची तपश्चर्या और प्रखर साधना के दौरान यह वहाँ मिल सकता है जहाँ पहुँच ये दोनों एकाकार हो जाते हैं — अपनी पहिचान खो बैठते हैं । तब ऐसा लगता ही नहीं है कि जो किया जा रहा है, वह अपने लिए किया जा रहा है या सर्वजनहिताय है । यह एक ऐसा

अध्यात्म-बिन्दु होता है जहाँ आत्मा विस्तृत हो कर लोकव्यापी बन जाती है । समत्व का एक ऐसा अपूर्व बिन्दु जनमता है भीतर-भीतर कि तमाम विषमताएँ और उनके विषमदंश नष्ट हो जाते हैं । लगता है जैसे कैवल्य के इर्दगिर्द के इलाके में कहीं उड़ान भरी गयी हो ।

कैवल्य यानी हित-का-कैवल्य सेवा है और

ज्ञान-का-कैवल्य मोक्ष है ; लेकिन दोनों तक जो डगर जाती है वह है सच्ची

साधना की और सम्यक् चारित्र की। सच्चारित्र से हट कर कोई न तो लोकहित की ओर जा सकता है और न आत्महित की ओर — फिर तो वह महज एक गहन आपराधिक शिथिलाचार के गर्त में ही उतर पड़ सकता है।

साधुमार्ग वह है जो निष्काम चित्त से आत्मोत्थान की ओर जाता है। मन में कोई कामना नहीं है — यहाँ तक कि मुक्ति की कामना का परिग्रह भी छूट गया है; रह गया है सिर्फ यह कि सम्यक्त्व-की-छैनी से अलग-अलग कर लिया जाए आत्मा को और देह को।

विदेह पर अपलक दृष्टि है और साधना अविराम चल रही है।

कीर्ति और कांचन बहुत बड़ी बाधाएँ हैं साधुमार्ग में। मैंने अनुभव किया है कि आज बहुत सारे साधु इन दो के बीच ही रूल रहे हैं— झिर्कें रूल ही नहीं रहे हैं बल्कि अपने से संपृक्त साधकों को रूला भी रहे हैं।

चित्त की इस पिघली हुई अवस्था में बातचीत का एक सुदीर्घ सिलसिला शुरू हुआ जैनाचार्य श्रीनानालालजी से और कभी-कभार उनके साधु-परिकर से। कुछ श्रमणोपासकों के संपर्क में भी आया। इनसे और साधुमार्गी साहित्य से यह निष्कर्ष बना कि अभी भी एक जैन समुदाय ऐसा है जो जैनधर्म की मौलिकताओं पर (आशंकित खतरों के बावजूद) अविचल है— यह बात बिलकुल अलग है कि इन मौलिकताओं का ज्ञान उसे कितना है और कितना नहीं — किन्तु यह तय है कि उसका पाँव अभी जमा हुआ है और आस्थाएँ अभी अडिग हैं, ढगमगायी नहीं हैं।

जब मैंने जाना कि यही एकमेव ऐसा साधु-समुदाय है, जो १९२० ई. से खादी की ओर पाँव उठाये हैं, तब मुझे रोमांच हो आया। मैं सिर-से-पैर तक हिल गया। ऐसे में मुझे आचार्य जवाहरलालजी का स्मरण हो आया। चूँकि यह साधु-समुदाय तस्वीरों के छपने-छपाने/खिंचने-खिंचाने में कोई रुचि नहीं रखता अतः उनका कोई चित्र सामने नहीं है — प्रवचन-मात्र ही उनके चित्र हैं। उन्हें पढ़ते-पढ़ते जो अक्षर-चित्र उनका मेरे मनोपटल पर अंकित हुआ उसने मुझे श्रद्धा-भक्ति से भाव-विह्वल कर दिया। मैं बड़े उल्लास से उनकी जीवनी के उन सब-सारे हिस्सों और सफहों को पढ़ने लगा, जिनमें खादी के साथ अहिंसा, शोषण-मुक्त जीवन, अस्पृश्यता, और राष्ट्रीयता का वर्णन था। मैंने देखा—

यह व्यक्ति कितना सुदूर भविष्य अपने चित्त पर लिये हुए है? वह मात्र साधनोन्मुख ही नहीं है बल्कि उसकी सजग/चौकस आँख उन राहों, साधनों, और उपकरणों पर भी है जो साधना को सफल या विफल कर सकते हैं। वह

देख रहा है कि इनमें से शुद्ध या अशुद्ध, कलुषित या निष्कलुष, पावन या अपावन कौन है ? उसे चाहिये शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध राह; निष्कलुष साध्य, निष्कलुष साधन। गाँधी के युग में न सिर्फ साध्य वरन् साधन की संपूर्ण पवित्रता का ध्यान भी रखा जाता था। साधुमार्गी समाज की – साधुओं की यह विशेषता है कि वे साधना की पवित्रता को बनाये रखने के लिए साधनों की पवित्रता पर भी ध्यान रखते हैं; क्योंकि वे इस मर्म को जानते हैं कि साधनों के पवित्र होने पर साध्य अवश्य पवित्र होगा।

साधुमार्ग की सरलतम इबारत यह है कि मोक्ष तक जाने वाला वह मार्ग, जो न सिर्फ साध्य की पवित्रता पर ध्यान रखता है बल्कि पग-पग पर साधनों के शुद्ध होने की चिन्ता भी करता है। जो आत्महित को इस तरह जागृत रखता है कि उसमें-से लोकहित स्वयमेव प्रकट होने लगे। उसका मानना है कि व्यक्ति-चित्त को इस तरह और इस सीमा तक तपाया जाए कि वह लोकचित्त बन जाए, या लोकचित्त को इस तरह तपाया जाए कि व्यक्ति-चित्त और उसमें एक अद्वैत और अभेद बने। यही साधु-मार्ग है। राह काँटों की है, किन्तु जाती फूलों तक है।

विशेषांक को ले कर इस तरह कुछ सोचता रहा और अपने कदम आगे बढ़ाता रहा। मैंने श्रीमद्जवाहराचार्य के नासिक/१९२३ ई. के विचार पढ़े और सोचने लगा कि क्या ऐसा महामानव आज भी इस जमाने में मुलभ है जो मानव-मात्र को बिना किसी भेदभाव के सिर्फ 'कर्म-की-कसौटी' पर कसता हो और देखता हो कि घृणा पाप से संभव है, पापी से नहीं। पापी और पाप के बीच जो भेद-विज्ञान बनता है, उसकी राह मानवता की ओर जाती है।

जवाहराचार्य ने खादी में-से अस्पृश्यता को उपलब्ध किया। वे एक ऐसे जैनाचार्य हुए जिन्होंने व्यक्ति और राष्ट्र, राष्ट्र और विश्व के युगों की सीमाओं, पीड़ाओं, और व्यथाओं को समझा, उनका अनुभव किया, और उन पर चन्दन-लेप किया।

वे एक ऐसे महामनुज थे, जिन्होंने विषमताओं के अभिशाप को अपनी अनुभूति में जिया और उन लोगों की पीड़ा को जिनका प्रतिपल ऋण हम पर है—जाना। जिस व्यक्ति के मुँह से ये शब्द निकलते हों कि 'उच्चता का अर्थ क्या कृतघ्नता होता है' उस व्यक्ति के समाज-दर्शन की पूरी गहराई से खोज-बीन होनी चाहिये। साधुमार्गी समाज का यह दायित्व है कि वह इस दर्शन के सूत्रों को खोजे और विश्व-हित में उन्हें विकसित करे।

अस्पृश्यता की समस्या आज भी हमारे सामने है; किन्तु हम उसका समीचीन समाधान नहीं ढूँढ़ पा रहे हैं। हम किसे छुएँ, किसे न छुएँ यह संकीर्णता तो विज्ञान के आविष्कारों ने खत्म कर दी है, या कहिये कि जिन्दगी में जो तेज़ी और ताज़गी आयी है उसने हमारे भीतर से अस्पृश्यता और छुआछूत को करीब-करीब समाप्त कर दिया है।

अब हम स्टेशनों पर पानी के लिए जातपाँत नहीं पूछते – सफर करते समय इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं देते कि हमारे पास-पड़ोस में कौन व्यक्ति बैठा है? जो बैठा है वह बलाई है, हरिजन है, चमार है, या कोई और है? हम सिर्फ यह देखते हैं कि हमें जगह मिल गयी है या नहीं?

अब हमारा ध्यान खालिस मौलिकता की ओर चला गया है। हम जानने लगे हैं कि पानी पानी है, वह न शूद्र हो सकता है, न द्विज; हाँ, वह प्रासुक, अ-प्रासुक; स्वच्छ, अस्वच्छ अवश्य हो सकता है।

जब आदमी मौलिकताओं की ओर जाने लगता है, तब कोई सम्यक्/सार्थक संभावना बनती है। परिवर्तन कैसा हो, कैसा न हो, यह सब मार्ग-दर्शक इकाइयों पर निर्भर करता है। हमारी मार्ग-दर्शक इकाई सदियों से साधु-सन्त रहे हैं। आज भी हैं।

साधुमार्ग का ध्यान आज भी मौलिकताओं की ओर है। वह यह देखना चाहता है कि आदमी आदमी हो, प्राणी प्राणी हो, आत्मा आत्मा हो— क्योंकि न तो वह शूद्र हो सकता है, न ब्राह्मण, न वैश्य, और न क्षत्रिय— यदि कोई यह या वह हो सकता है तो 'जन्मना' नहीं हो सकता, 'कर्मणा' हो सकता है।

यह कसौटी महावीरकालीन है, जिसका उपयोग जैनाचार्य जवाहरलालजी ने बीसवीं सदी में किया अर्थात् हम कहेंगे कि महावीर-काल की समस्याएँ और हमारी समकालीन समस्याएँ अधिक भिन्न नहीं हैं; अतः उनका यह सूत्र कि 'जन्मना' कोई विषमता नहीं है, जो विषमता या भेदभाव है वह कर्मणा है आज भी प्रासंगिक है और सामाजिक क्रान्ति का अप्रतिम सूत्र है। एक ऐसा रचनात्मक सूत्र है यह जिसके चरणों में बैठ कर साम्यवाद भी स्वाध्याय कर सकता है। यह एक ऐसा सूत्र है जिसमें-से राजनीति को भी ज्ञान की ताज़गी ग्रहण करनी चाहिये यह कि 'जन्म से कुछ नहीं, जो है या होता है कर्म से ही संभव है'। कर्म ही अन्तिम कसौटी है मनुष्य के छोटे-बड़े, खरे-खोटे, स्पृश्य-अस्पृश्य होने की।

यदि कोई व्यसन-मुक्त है तो वह जैन है फिर भले ही वह जैन कुल में जन्मा है अथवा नहीं; और यदि कोई व्यसनों में सिर-से-पैर तक डूबा है

तो उसके जैन वंश-कुल में जन्म लेने पर भी क्या हम उसे जैन कह पायेंगे ? यह हुई कोई कसौटी जो सम्प्रदायातीत होने के साथ ही मानवता-परक और नैतिक है ।

आप क्या सोचते हैं : यदि इस पर सारे जैनों को — खासतौर से उन्हें जो समाज का नेतृत्व कर रहे हैं — कसा जाए तो क्या हम कह पायेंगे कि वे जैन हैं ? सात व्यसनों में से कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी में तो उनका पाँव अटककेगा ही ।

पूरा जैन कोई नहीं है आज, कोई एक बटे सात है, कोई दो बटे सात, कोई छह बटे सात; किन्तु सात बटे सात कोई नहीं है — मुश्किल यह है कि जो जैन नहीं है इस तरह वह अधिक रौब गाँठ रहा है और शिखर पर चढ़ कर कह रहा है कि वह 'जैन' है

खुद आईना देख नहीं रहा है और जब कोई दिखा रहा है तब उस पर नाराज हो रहा है, आँखें तरेर रहा है । क्या यह ठीक है ? क्या इस सब को छान-बीन नहीं होनी चाहिये ?

प्रस्तुत 'विशेषांक' इसी तरह की छान-बीन का एक प्रयास है; यह एक ऐसा आईना है जिसमें कोई भी अपनी मुखछवि देख सकता है और अपनी असलियत को पहिचान सकता है ।

इस विशेषांक को संपादित करते हुए मुझमें जिस तथ्य ने सबमें अधिक हलचल पैदा की तो इसी ने कि क्या हम इस/ऐसी यथार्थपरक कसौटियों को पुनरुज्जीवित करने का साहस/पराक्रम कर सकेंगे ? साधुमार्गी जैनाचार्य जवाहरलालजी (१८७५-१९४३ ई.) ने ऐसा किया था; किन्तु मुझे लग रहा है कि हम उनके उस सारे उपक्रम और संयोजन को दिन-ब-दिन भूल रहे हैं और उस रास्ते पर अपने पग डाल रहे हैं जो साधुमार्ग नहीं है ।

विशेषांक का लफ्ज-ब-लफ्ज संपादन करते हुए मेरा ध्यान इस तथ्य पर भी गया है कि श्रीमदजवाहरलालजी ने १९२७ ई. में — जबकि मेरा जन्म हुआ था — एक 'हुन्नरशाला' स्थापित की थी; 'क्यों की थी' इसका कहीं कोई जिक्र नहीं है; किन्तु तय है कि इसके पीछे आत्मनिर्भरता का कोई लक्ष्य रहा होगा । हम नहीं जानते कि आज वह है या नहीं; यदि है तो कहाँ है और किस हाल में है; चाहे जो हो इतना तय है कि वह जो/जैसी रही हो एक अद्भुत शुरुआत थी ।

क्या अब हम ऐसी कोई हुन्नरशाला कायम नहीं कर सकते, जिसमें श्रमणोपासक (श्रमणोपासिकाएँ तो इस शब्द में सन्निहित/सम्मिलित हैं ही) कम-से-कम आधा या एक घंटा सूत कातेँ और अपने साधु-साधिवियों के लिए शुद्ध वस्त्र उपलब्ध करायें ?

इसके दो फायदे होंगे। एक, हम धर्म की पवित्रताओं और उसकी मौलिकताओं से जुड़े रहेंगे; दो, हमें गर्व होगा कि हम अपने साधुवर्ग को जो वस्त्र उपलब्ध करा रहे हैं, वह अहिंसक है, शुद्ध है, तार-तार में हमारी श्रद्धाभक्ति में शराबोर है। उसके ताने-बाने में हमारा त्याग, हमारा श्रम, और हमारी साधना बिनी हुई है। क्या हम इस तरह की हुन्नरशालाओं (नाम कुछ भी हो सकता है) की स्थापनाओं की ओर तुरन्त ध्यान नहीं दे सकते ? क्या हम बिना गरीब-अमीर के भेद-भाव के ऐसी हुन्नरशालाओं में आ कर श्रम-स्वाध्याय नहीं कर सकते ? ध्यान रहे श्रम और श्रमण, श्रम और श्रमणोपासक, श्रम और श्रमण-संस्कृति का बड़ा घना संबन्ध है।

खादी सिर्फ खादी नहीं है, वह एक तवारीख और एक चिन्तन-धारा भी है। कताई-बुनाई के इतिहास में जब हम झाँकते हैं तब पता चलता है कि उसकी पृष्ठभूमि पर अध्यात्म का बहुत बड़ा हाथ है। सूत कातने से चित्त की चंचल वृत्तियों पर लगाम लगाने के लिए जो एकाग्रता मिलती है, वह अन्य किसी काम में नहीं मिल सकती। हमें देखना होता है वहाँ कि किस तरह एक रेशे से दूसरा रेशा बँध-गुंथ रहा है और किस तरह एक कचाई में से सुदृढ़ता और परिपक्वता क्रमशः जन्म ले रही है। संगठन में, एक होने में, जो शक्ति है, वह बिखरने या बिखरे होने में नहीं है। क्या सूत-कताई के समय हममें यह भावना उत्पन्न नहीं होगी ? किस तरह से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में विलीन हो कर एक संगठित समाज का प्रतीक सूत्र बन सकता है इसका उदाहरण सूत के अलावा क्या हो सकता है? कबीर जुलाहा था : किन्तु उसने बुनाई में-से पूरे अध्यात्म-शास्त्र को पढ़ लिया। वह निरक्षर था। किताब के वह खिलाफ था; किन्तु उसने ताने-बाने में-से जीवन का नवनीत पा लिया। उसने देखा था कि मेरा जीवन-वस्त्र किस तरह से रात के ताने और दिन के बाने से बुनता जा रहा है और पहिना हुआ वस्त्र किस तरह जीर्ण हो रहा है; किन्तु उसने अपनी नौ महीनों में बुनी गयी शरीर-रूपी चादर को ज्यों-का-त्यों सौंपने की कोशिश की – कहीं कोई दाग या कलंक नहीं आने दिया ? क्या हमारी चादर कबीर की चादर की तरह साफ है ? क्या हम उसे साफ रखने की कोशिश करते हैं ?

चरखा या तकली चल रही है; सूत टूट रहा है; कत्तिन उसे जोड़ रहा है तो ऐसा करते हुए सीख रहा है कि यदि समाज में कोई सूत टूट-बिखर जाए तो उसे कितनी और किस तरह की सावधानी से जोड़ देना होगा ताकि समाज में कोई बिखराव न आये, कोई फूट न फले-फूले ।

सामायिक में जब हम बैठते हैं तब हमारे मन की क्या स्थिति होती है— किस तरह भटकता है वह चारों ओर ? किस तरह वह तृष्णाओं में फँसा कभी घर, कभी व्यापार पर जा बैठता है ? हम सामायिक करते हैं किन्तु मन को सम पर नहीं ला पाते; किन्तु खयाल रहे जो सूत कातते या कात सकते हैं, वे अपने चित्त को जो सूत नहीं कातते हैं उनकी अपेक्षा अधिक काबू में रख सकते हैं; इस तरह जहाँ एक ओर सूत कताई में-से हमारे साधु-साधिव्यों के लिए हम अच्छे और साफ-सुथरे वस्त्र पैदा कर सकेंगे वहीं दूसरी ओर हम अपने मन को एकाग्र कर उसे स्वच्छ, स्वस्थ और संयत रख सकेंगे । मुझे विश्वास है साधुमार्गी जैन संघ अपने इस रजत जयन्ती वर्ष में राजस्थान और मध्यप्रदेश में कम-से-कम २५ हुन्नरशालाएँ अवश्य स्थापित करेगा । जहाँ-जहाँ 'समता भवन' हैं वहाँ-वहाँ तो यह काम बहुत आसानी से किया जा सकता है ।

कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विशेषांक साधुमार्गी जैन संघ की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया जा रहा है; किन्तु ऐसा वस्तुतः है नहीं; जो शाश्वत तथ्य इसमें संयोजित हैं वे एक या दो वर्ष में न तो पुरान होने वाले हैं और न ही नव्यतर, वे जैसे थे, वैसे हैं, वैसे रहेंगे । प्रस्तुत विशेषांक में सामग्री को जिस तरह संयोजित किया गया है उससे इसकी महत्ता/उपयोगिता बढ़ गयी है । ऐसा कभी नहीं लग पायेगा कि यह अंक किसी एक खास अवसर के लिए प्रकाशित किया गया था; जब भी, जो भी इसे स्वाध्याय के लिए उठायेगा इसमें-से उसे अपने जीवन को उज्वलतर करने के लिए अपूर्व उपकरण मिल जाएँगे । वह विशेषांक के पृष्ठों में-से गुज़र कर अपने गन्तव्य तक पहुँच सकेगा । कुछ पृष्ठ ऐसे हैं जो ऊपर-ऊपर उतने शाश्वत न लगें; किन्तु ध्यान से देखने पर उनके भीतर से भी एक सनातन योजना नज़र आयेगी । कुल मिला कर विशेषांक में आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर ऐसे प्रयत्न किये गये हैं जिससे सारी दुनिया में अमनोअमान कायम हो, मैत्री और बन्धुत्व का वातावरण बने, हिंसा का बर्बर दौर समाप्त हो, सारे मूलक आपस में मिलजुल कर एक-दूसरे की उन्नति के लिए काम करें, कहीं कोई छोटा-बड़ा न हो, न कोई अस्पृश्य हो और न कोई उपेक्षित — सब एक-दूसरे के मित्र हों और इस वसुधा को अपना कुटुम्ब बनायें, समझें । विशेषांक का संपूर्ण संयोजन इसी भावना से और इसी लक्ष्य की संपूर्ति के लिए है । 'साधुमार्गी संघ/समाज' का भी उद्देश्य यही है ।

—नेमीचन्द

आचार्य श्री नानालालजी के साथ २४ घंटे

पुष्पातिव हूँ एक जैनाचार्य से जो एक ऊँचे पाट पर, जिस पर एक कुशन है,
अपना दायीं चरण लटकाये अत्यन्त अप्रमत्त भाव से आसीन हैं
और मेरी प्रणति को धर्मलाभ-के-रूप में लौटा रहे हैं। चौड़ा ललाट,
साँवला रंग; समंदर-से-गहरे नेत्र, ऐसे नेत्र जिनके भीतर नेत्र हैं और जिन्होंने
मोतियार्थिबंद के आघात सहे हैं — एक चश्मा मोटी प्रेम का
नाकोनकश आध्यात्मिक, धवल चादर
मुखपत्ती में-से झाँकता सस्मित/अथक चेहरा और मन में सीधे गहरे उतर जाने
वाली वाणी ।

एक-एक शब्द सोचा हुआ। विवेक और मुनित्व की तुला पर तुला हुआ।
कोई छुपाव नहीं है। सब कुछ खुला है / मन के तमाम रोशनदान
उन्मुक्त हैं — कोई आच्छादन नहीं है उन पर। साफ-सुथरा जीवन, साफ-
सुथरा मनन; सब कुछ विवेक-के-रजोहरण से प्रमार्जित और सम्यक्त्व-की-पुंजणी
से निर्मल ।

जो कहते हैं, उसे सौ टका जीते हैं, और जो किया हुआ है, मानिये, उसकी जड़
आचरण में पाताल तक हैं। बातचीत में कोई झुंझलाहट या चंचलता
नहीं है। कोई सवाल कीजिये, अक्षुब्ध उत्तर लीजिये। निराकुलता का एक
पूरा-का-पूरा दरिया लहरें ले रहा है। चारों ओर अखूट वत्सलता की
कादम्बिनी (मेघघटा) धिरी है और मैं उसकी शीतल छाँव में मन्त्रमुग्ध बैठा हूँ।
तय है कि मुझे लगभग पन्द्रह-दिनों तक उनसे जैन धर्म/दर्शन/समाज के विभिन्न
पहलुओं पर एक बहुपत्ती बातचीत करनी है और अपने प्रिय पाठकों को
उनके सड़सठ साला जीवन का अनुभावामृत पान कराना है। विशेषांक के
सिलसिले में मैं उनके साथ किस्तों में चौबीस घंटे बिताने की
चित्तवृत्ति में हूँ।

१२ जुलाई/रविवार को पहली उपनिषद् (बैठक) हुई। मेरे लिए यह एक
बेहद उपयोगी अध्यात्म-सत्र था; सत्संग/समागम का एक अद्वितीय अवसर।
मेरे मित्र गजेन्द्र सूर्या मेरे साथ हैं। उन्होंने मुझे नियमित लाने-ले-जाने का
जिम्मा लिया है। वे साधु-की-चादर की तरह निष्कलंक और निर्मल
मन के शख्स हैं। इन उपनिषदों में वे सर्वत्र, प्रतिपल/प्रतिपग मेरे साथ रहे हैं
और उन्होंने देखा है कि मैंने किस उत्कण्ठा से प्रश्न किये हैं और आचार्यश्री
ने किस विभोरता से उनके उत्तर दिये हैं। यदि उन सारे चर्चा-क्षणों को

लिखने बैठें तो कम-से-कम एक दो-तीन सौ पृष्ठों की किताब तो बन ही जाएगी; किन्तु 'तीर्थकर' एक विचार-मासिक है, जिसकी सीमाएँ हैं, अतः मुझे यह सब ८-१० पृष्ठों में ही समेटना पड़ रहा है। काम मुश्किल है; किन्तु करना तो है ही।

कई कठिनाइयाँ सामने हैं। टेप-रेकार्डिंग काम में ले नहीं सकता और कोई आशुलिपिक साथ में नहीं है। यद्यपि आचार्यश्री के बोलने में त्वरा नहीं है, वे रफ्तः रफ्तः बोलते हैं और मुझे मौका देते हैं कि मैं उन्हें नोंद लूँ; किन्तु मेरी भी सीमाएँ हैं अतः कड़ी बीच-बीच में टूट रही है — जुड़ रही है और मैं अपने काम में जुटा हुआ हूँ। हाथ अविराम चल रहा है और आचार्यश्री अत्यन्त आश्वस्त स्वर में मुझे मेरी जिज्ञासाओं के समाधान दे रहे हैं।

कुल मिला कर ये बैठकें मनःप्राण को ताजा किये हुए हैं और एक इस तरह की दीपमालिका मनोपटल पर सँजोये हुए हैं कि कैसा भी अँधेरा आये मुझे निराशा होने की जरूरत नहीं होगी। जैन धर्म/दर्शन के ऐसे कितने पक्ष हो सकते हैं, जिनकी तुलना हम आधुनिक विज्ञान के विविध इलाकों से कर सकते हैं — यह देख कर मैं हैरान हूँ।

मैं उनसे मुखातिब हूँ। लग रहा है मुझे कि यदि साधुमार्गी जैन संघ ने ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की कि आचार्यश्री के भीतर खुले ज्ञान-निर्झर जन-जन तक पहुँचें तो यह एक ऐसी भूल होगी जिसे कभी नहीं सुधारा जा सकेगा, हम सब एक ऐसे अमृत-कुण्ड से वंचित रह जाएँगे जो आज के राह-भटके आदमी को सही दिशा दे सकता है—उसके तन-मन को ठण्डक पहुँचा सकता है।

जैनाचार्य नानालालजी आग्रही बिलकुल नहीं हैं। वे सहज हैं। उन्हें कदाच कभी ऐसा लगता है कि उनका पाँव किसी भ्रम या त्रुटि पर है तो वे तुरन्त आत्मस्वीकृति या आत्मशोधन के लिए तैयार रहते हैं।

ऐसे कई मौके आये जब उन्होंने अपनी बात को बड़े आश्वस्त चित्त से रखा और दूसरों के विचारों को खूब धीरज से सुना। उनके सामने छोटा-बड़ा कुछ होता नहीं है।

घर का 'नाना' किसी की व्यर्थ की 'हाँहाँ' में नहीं पड़ता जैसा कि आमतौर पर कुछ साधु सस्ती लोकप्रियता-के-लोभ में वैसा करते देखे जाते हैं।

वे 'ना' कह सकते हैं एक बार, दो बार, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे 'हाँ' कभी कहते ही नहीं। सम्यक्त्व और सत्य के लिए

उनके मन में प्रतिक्षण 'हाँ' है और मिय्यात्व के लिए प्रतिपल 'ना' । वे साहसी हैं, सरल हैं, निग्रन्थ हैं ।

उनकी गठरी में ग्रन्थ हैं, ग्रन्थियाँ नहीं हैं । मन को ग्रन्थियों से मुक्त करने के लिए उन्होंने 'समता-दर्शन' और 'समीक्षण-ध्यान' जैसी आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को आविष्कृत किया है । ये दोनों, भारतीय चिन्तन, विशेषतः अध्यात्म को उनका बहुमूल्य योगदान हैं । वे सत्यान्वेषी हैं और चाहे जो/चाहे जब उनके पास आये उसे सत्य की खोज में प्रवृत्त करने में रूचि लेते हैं । चुनौतियों को झेलने में उन्हें आनन्द मिलता है । सम्यक्त्व-के-लिए-पराक्रम और संघर्ष नानालालजी की एक विशिष्टता है । शाम के पाँच बज कर पाँच मिनट हुए हैं । १२ जुलाई विवार का दिन है । इतवारिया धर्मशाला का आचार्यश्री का पड़ाव-वक्ष है । मैं उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ कर रहा हूँ । वे कह रहे हैं अत्यन्त स्निग्ध टोन में—'डॉक्टर साहब' (उनकी उस वात्सल्यमयी टोन को शब्दांकित करना संभव नहीं है) ।

मैंने आसन खींच लिया है और मैं उनके बिलकुल नज़दीक हो गया हूँ । मन में नाना जिज्ञासाएँ हैं । कई साधु-संतों से मिला हूँ, कई आचार्यों से भेंट हुई है; किन्तु यह अवधूत उन सब से भिन्न है— जुदा है । अपनी जिदों पर अडा है (इन्हें जिद कहा जाए या शुद्धता; कोई फैसला नहीं कर पा रहा हूँ) ; किन्तु जिस रेखा पर ये खड़े हैं वह सुचिन्तित है, जल्दबाज़ी में निर्णीत नहीं है । वे ध्वनि-विस्तारक या टेप-रिकॉर्डर का उपयोग नहीं करते; क्यों नहीं करते ? इसके उनके अपने तर्क हैं । उनका मानना है कि इससे वायुकायिक जीवों की विराधना होती है— जैनाचार से इनकी कोई संगति नहीं है ।

दूसरी ओर उनकी यह दलील भी है कि ऐसा न करने से अपरिग्रह का अंकुश लगातार बना रहता है । कीर्ति की मूर्च्छा कम होती है और श्रोता सावधानी तथा मनोयोग से सुनता है । यन्त्रीकरण की जटिलताओं से भी बचा जा सकता है । यन्त्रों का कोई अन्त नहीं है । आज एक को काम में लीजिये, कल दूसरा अनिवार्य हो उठेगा, परसों तीसरा दरवाज़ा खटखटायेगा और बापकी साधना भग्न, या भुग्न हो जाएगी । आप कुछ कर ही नहीं पायेंगे; इसलिए यदि परेशानियों को कम करना हो तो मशीनों-के-दैत्य से स्वयं को बचाना चाहिये । मुझे लगा कि खादी पहिनने के पीछे भी कदाचित् यही सिलसिला है—जवाहरलालजी के मन में भी यही रहा होगा । मैं पूछ रहा हूँ कि आज से बावन साल पहले जब आपने दीक्षा ग्रहण की थी तब के और आज के श्रावक में क्या फर्क आ गया है ? बोले—

बदलाव हुआ है। वात्सल्य घटा है। पहले गुप्तदान द्वारा बिना कोई अहसान जताये एक श्रावक दूसरे श्रावक की मदद करने में गौरव समझता था, अब वैसा नहीं है, किंचित् है, किन्तु वह बात/वह रंगत नहीं है। शिथिलताओं से तो हर जमाने में जूझना पड़ा है। संघर्ष आज भी जारी है— जारी रखना चाहिये इसे ताकि प्रमाद से बचा जा सके और धर्म की मौलिकताओं को बचाया जा सके। साधुओं और श्रावकों की भूमिकाएँ वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं। दोनों पूरक हैं। स्वाध्याय, सेवा और शुद्धाचरण में हम अपने युग की अनेक समस्याओं का समाधान तलाश सकते हैं।

१३ जुलाई/सोमवार की उपनिषद् का तेवर/जायका बिलकुल जुदा था। सिलसिला वही था। प्यास और तड़प की क्रिस्म भी वही थी; किन्तु मोड़ बदल गया था। बोले — हमें सात्त्विक ज्ञान के लिए लोगों में एक रचनात्मक जिज्ञासा जगानी चाहिये। लोग दुनियावी ज्ञान की ओर दौड़ रहे हैं; किन्तु इस भागमभाग में उनका सब में बड़ा नुकसान हो रहा है सम्यक्त्व का मुट्ठी से खिसकना। बोले—

समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान दो ऐसे हथियार हैं, जिनसे हम आज के युग की विषमताओं के महाभारत को जीत सकते हैं। आचार्य जवाहरलालजी महाराज के कारण स्वाध्याय की वृत्ति लौटी है — पुनरुज्जीवित हुई है।

स्वाध्याय को हमें अपने जीवन का अभिन्न अंग फिर बनाना चाहिये और ऐसे प्रयत्न करने चाहिये कि सामाजिक रागद्वेष घटे और साधु तथा श्रावक एक-दूसरे के नजदीक आयें। वस्तुतः उन्हें एक-दूसरे की शोधक इकाइयों के रूप में विकसित होना चाहिये। समता-दर्शन (दे. पृ. १२५-१३३) के विविध सोपानों की चर्चा करते हुए उन्होंने उसके स्वरूप पर व्यापक प्रकाश डाला।

१४ जुलाई/मंगलवार को समता-दर्शन पर चर्चा हुई। बोले — हमें समता-दर्शन के इक्कीस सूत्रों का पालन करना चाहिये। मैंने अनुभव किया है कि सामान्य बातों में-से ही विशिष्टता आविर्भूत होती है। इन सूत्रों में-से गुजरते हुए हम एक तरह की सामायिक या समाधि में-से गुजरते हैं। श्रावक को हक है कि वह किसी भी शिथिलता को चुनौती दे; किन्तु दे उसे दूर करने के लिए — किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं। चुनौती का स्वरूप रचनात्मक हो, उपगूहनात्मक हो, और सद्भावनापरक हो। श्रावक की हैसियत इतनी बड़ी है कि यदि वह आगमोक्त कसौटियों का जानकार है तो आचार्य तक को चुनौती दे सकता है। इन/ऐसी परम पावन चुनौतियों के कारण ही साधुमार्ग निष्कलंक बना हुआ है। हम एक-दूसरे को गलत नहीं समझते,

१६६/साधुमार्ग विशेषांक

बल्कि एक-दूसरे को परस्पर उपकारक इकाई मानते हैं। दृष्टि ऐसी ही होनी चाहिये—विकास करना चाहिये इस तरह के उदार और सहिष्णु व्यक्तित्व का।

जब प्रसंगवश प्राकृत भाषा और साहित्य की बात चली तो बोले — उनका भरपूर प्रचार होना चाहिये। प्राकृत सरल है। उसका व्याकरण और वाक्य-विन्यास सरल है। उसे कुछ ही दिनों में सीखा जा सकता है। संघ इसके लिए काम कर रहा है। वास्तव में जैनधर्म को यदि जानना है, उसकी तमाम गहराइयों में, तो प्राकृत सीखे बिना कोई रास्ता नहीं है।

जब साधुमार्ग के साधुओं और श्रावकों के परस्पर संबन्धों की चर्चा चली तो बोले — साधुमार्ग बहुत पुराना है। जितना पुराना णमोकार महामन्त्र है, उतना पुराना है साधुमार्ग। साधुमार्ग में गुण और कर्म को महत्त्व दिया गया है। उसमें गुण-पूजा है, व्यक्ति-पूजा नहीं है। इसी तरह श्रावक हो या साधु, कर्म से ही उसे जाना जा सकता है। भगवान् महावीर का वह कथन कि

कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही शूद्र—जन्म से कोई कुछ नहीं होता। इसी तरह कर्म से ही श्रमणोपासक की पहिचान बनती है, वह जिस वंश में जन्मता है उससे उसकी पहिचान नहीं बनती।

१५ जुलाई/बुधवार को धर्म और विज्ञान पर चर्चा हुई बोले—
शास्त्र की दृष्टि में

जो विज्ञानवान् है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह विज्ञानवान् है। विज्ञान वस्तुतः आत्मा का मूलगुण है। कहीं कोई छलावा नहीं है, सब कुछ अने-कान्तात्मक है। हमारा लक्ष्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप है तदनुसार ही हमारी संपूर्ण साधना है। हमें समझना चाहिये कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं, वे एक-दूसरे से संघर्षरत नहीं हैं। असल में जब हम खोजना शुरू करेंगे, तभी कुछ पायेंगे। जैनधर्म विज्ञान का अखूट खजाना है। हम अभागे हैं कि हमसे बारबार इसकी कुंजी गुम जाती है। हमें इस खजाने का न सिर्फ़ खुद उपयोग करना चाहिये वरन् सारी दुनिया के लिए उसे खोल देना चाहिये।

१६ जुलाई/गुरुवार को तीर्थंकरों के अवदान पर विचार हुआ। मैंने कहा— तीर्थंकर अपने युग के सर्वश्रेष्ठ परमाणुविद् थे। उन्होंने इसे अपनी साधना में दिगम्बर देख लिया था। संवर-निर्जरा की प्रक्रियाएँ बिना

परमाणु-दर्शन के तीव्रतर नहीं हो सकती। बोले - तीर्थकरों की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने पूर्व तीर्थकरों को न कभी पढ़ा और न कभी सुना; बल्कि सृष्टि के निगूढ़ रहस्यों को तपःसाधना से जाना तथा जानने के लिए स्वयं के जीवन को प्रयोगशाला का रूप दिया।

पदार्थ की जो परिभाषा आज विज्ञान दे रहा है, वह तीर्थकर सदियों पहले दे चुके हैं। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' के रहस्य को समझ लेने पर पदार्थ की गहराइयों में उतरने में कोई कठिनाई नहीं है। आज का वैज्ञानिक यन्त्रों और औजारों में उलझ गया है; आत्मतत्त्व उसकी मुट्ठी से खिसक गया है। हमारी पारिभाषिक शब्दावली का यदि एक अनासक्त और संतुलित विश्लेषण किया जाए तो हम पायेंगे कि धर्म आज भी विज्ञान से दो कदम आगे है। विज्ञान उन्हीं दार्शनिक तथ्यों की पुष्टि कर रहा है, जिन्हें आज से सदियों पहले धर्म ने स्थापित किया था। सापेक्षता शुद्ध ज्ञान की माता है। वे अल्बर्ट आइन्स्टाइन का नाम लेते हुए बोले - विज्ञान ने इसे विलम्ब से खोजा और अपनाया किन्तु जबसे भी उसने इसे अपनाया है उसकी जययात्रा अधिक सफल-सार्थक सिद्ध हुई है। पता नहीं अब क्यों हम इस स्वस्थ चिन्तन-पद्धति को विस्मृत करना चाहते हैं? ध्यान रखिये, जैनाचार्यों ने भौतिकी, जैविकी, गणित जैसी जटिल/सूक्ष्म विद्याओं पर भी काफी गहरा विमर्श किया है।

छह दिन के अन्तराल के बाद आज फिर गजेन्द्र सूर्या आचार्यश्री के पड़ाव पर ले गये हैं। २२ जुलाई/बुधवार है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर चर्चा कर रहा हूँ। पुनर्जन्म एक जटिल समस्या है। कुछ पुनर्जन्म को मानते हैं, कुछ नहीं मानते; किन्तु जो आत्मा का अस्तित्व मानते हैं उन्हें तो पुनर्जन्म मानना ही होता है। मैंने पूछा कि इस संबन्ध में जैनधर्म की क्या धारणा है? बोले - पुनर्जन्म का सीधा-सादा अर्थ है एक शरीर को छोड़ कर अगले शरीर में प्रवेश। जैनधर्म का 'उत्पादव्ययध्रौव्य' सिद्धान्त इससे जुड़ा हुआ है।

शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य; पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है। संवेदना का विश्लेषण करने पर भी पुनर्जन्म को जाना जा सकता है। पूर्व-स्मृति से भी इसकी पुष्टि होती है। शास्त्रों में जाति-स्मरण की अनेक घटनाओं का विवरण आया है; वर्तमान में भी इस तरह की सैकड़ों घटनाएँ देश-विदेश में हुई हैं/होती रहती हैं। परामनोविज्ञान ने

भी पुनर्जन्म के समर्थन में तथ्यों का आकलन किया है। असल में सफलता की असली कुंजी तत्त्वश्रद्धान है—

उसके मिलने पर पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध दिखायी देता है। ध्यान की प्रक्रिया में-से हो कर भी पुनर्जन्म-की-सत्यता सिद्ध होती है।

चूँकि सूरज डूबने को था अतः पटाक्षेप हुआ और चर्चा को दूसरे दिन के लिए रोक लिया गया।

२३ जुलाई/गुरुवार/शाम लगभग डेढ़ घंटे तक कर्मसिद्धान्त पर चर्चा हुई। चर्चा कुछ गहरी और तकनीकी थी। आचार्य बोले—डॉक्टर साहब, संपूर्ण जैनदर्शन कार्य-कारण पर टिका हुआ है। यहाँ किसी तर्कहीन तथ्य को स्वीकार नहीं किया गया है। कर्मसिद्धान्त की आधार-भूमि कार्य-कारण-नियम (लॉ ऑफ काॅजेशन) है। इससे भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त पृष्ठ होता है। जैन कर्मसिद्धान्त जैसा बोना, वैसा काटना तक ही सीमित नहीं है—वह इससे बहुत आगे और गहरे गया है।

२४ जुलाई/शुक्रवार को 'साधु और साधुमार्ग' टॉपिक छिड़ गया। आचार्यश्री बोले—मैं 'साधु' शब्द को विशेषण-रूप में ही लेता हूँ। साधु से साधुत्व बनता है। साधुत्व अच्छाइयों, मुक्तों और आदर्शों का महायोग है। वह श्रमणोपासक के लिए मानक है, आदर्श है।

मैं द्रव्यसाधुत्व के पक्ष में तो हूँ, किन्तु उसे भावसाधुता का साधन-मात्र मानता हूँ। द्रव्यसाधुत्व साध्य नहीं है, साधन है; साध्य भावसाधुत्व ही है। साधना में जब तक अविकलता नहीं बनती, कुछ घटित नहीं होता।

इसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान जरूरी हैं। आलोचना वर्तमान का प्रमार्जन है, प्रतिक्रमण अतीत का धारावाहिक/सावधान अवलोकन, और प्रत्याख्यान अनागत में दृढ़तापूर्वक क्रम उठाते जाने का त्याग-संकल्प है। बुनियादी लक्ष्य समत्व है। जब तक हम विषमताओं और ग्रन्थियों से मुक्त नहीं होते, सत्य के नजदीक नहीं पहुँच सकते। समत्व तक पहुँचने, या सम में उतरने का माध्यम है द्रव्यमुक्ति। जैसे-जैसे हम समत्व की गहराइयों में गोते लेते हैं, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर हमारी मूर्च्छा घटती जाती है।

साधु वह है जो समता से साक्षात्कार करे। समत्व और सम्यक्त्व एक ही हैं। दोनों एक-दूसरे में गड्डमगड्ड हैं, एक को पाने में दूसरे की प्राप्ति निश्चित है।

शिथिलाचार और क्रियोद्धार का संक्षिप्त इतिहास बताते हुए उन्होंने कहा—साधुमार्ग ने शिथिलाचार का कड़ा मुकाबला किया है, यही कारण है कि वह

आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है और जैनधर्म की मौलिकताओं की अचूक रक्षा कर रहा है ।

२५ जुलाई/शनिवार को साधुमार्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा—मैं तो अपने साधु-साध्वियों को भाई-बहिन मानता हूँ । मेरे यहाँ छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है । एक संस्मरण सुनाते हुए बोले— एक बार जब मैं सीढ़ियाँ चढ़ रहा था; एक साधु ने जो मुझे पहिचान नहीं पाया पूछा—‘कौन है ?’ मैंने कहा—‘नाना’ । ‘आचार्य’ मैंने नहीं कहा, ‘नाना’ कहा । आचार्यत्व परिग्रह है । मैं इसे सहज लेता हूँ, इसे अहंकार की तरह पर्त-दर-पर्त जमने नहीं देता । साधुमार्गी संघ में कोई छोटा-बड़ा नहीं है । सब समान हैं ।

साधुमार्ग की विशेषताओं को संक्षेप में बताते हुए उन्होंने कहा — साधुमार्ग निष्कण्टक नहीं है; वह दीखता सरल है, है कठिन । मर्यादा-पालन, अनुशासन, आत्मानुसंधान, निःशंक/स्वतन्त्र चिन्तन, अनवरत स्वाध्याय, सत्य-की-खोज, शिथिलाचार का विरोध और उससे बचाव, सम्यक्त्व में निश्चलता, सादगी, सारल्य, निष्कपटता, प्रजातान्त्रिक जीवन-पद्धति, राष्ट्रीय दृष्टि, लोकहित-के-लिए कटिबद्धता, रचनात्मक परिवर्तन के लिए अनुकूलता, उदारता, विनय, तितिक्षा, संगठन, समन्वय, समत्व, विश्वमैत्री इत्यादि साधुमार्ग के मूल आधार हैं !

समतादर्शन उसकी खास बुनियाद है । व्यक्ति और समूह में युगयुगों से पड़ी ग्रन्थियों को खोलना इसकी आरम्भिक प्रक्रिया है । खोलना और गलाना, गलाना और निकाल फेंकना इस प्रक्रिया के प्रमुख चरण हैं ।

२६ जुलाई/रविवार और २८ जुलाई/मंगलवार को अधिक चर्चाएँ नहीं हुईं । किन्तु एक महत्त्वपूर्ण वाक्य आज/इस क्षण भी मन पर टिका हुआ है— विकास की ओर हमारा ध्यान है । धर्म में वय की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व दिया गया है ।

फिर एक लम्बा कालान्तर (गैप) आ गया । विशेषांक की तैयारी चल रही थी । प्रेस को मैटर (मुद्रण-सामग्री) देना था; अतः मैंने पन्द्रह दिनों से कुछ अधिक की छुट्टी ले ली और फिर १९ अगस्त/बुधवार को उनसे मिला । इस बार कषाय पर चर्चा चली । समीक्षण-ध्यान में इन पर जुदा-जुदा विचार होता है ताकि व्यक्ति के भीतर जो सघन ग्रन्थियाँ अवस्थित हैं, उन्हें खोला जा सके । बोले—

(शेष पृष्ठ १८३ पर)

साधुमार्गी शब्द-कोश

(शब्द-संख्या २००)

- संकेत : अ.स. = अन्य रूप; दे. = देखिये; पृ. = पृष्ठ; प्रा. = प्राकृत; व्यु. = व्युत्पत्ति
- अकल्पं = अकल्प; अयोग्य विचार; शास्त्रोक्त विधि-मर्यादा से बाहर का आचरण।
- अक्रियं = नास्तिक; परलोक-विषयक धारणा को न मानने वाला।
- अक्रियावादी = ज्ञान के साथ क्रिया को मोक्ष-मार्ग न मानने वाला; आत्मा को निष्क्रिय मानने वाला।
- अघातिकर्म = जीव-गुणों का घात न करने वाले कर्म, ये चार हैं - वेदनीय, अःयु, नाम, गोत्र; घातिकर्म हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय।
- अणुव्रत = हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह का स्थूल त्याग।
- अतिचार = स्वीकृत संकल्प/प्रतिज्ञा को तोड़ने की क्रिया।
- अध्यवसाय = मनोभाव, विचार।
- अनन्तानुबन्धी = जिस कषाय के बन्ध का अन्त न हो; तीव्रतम कषाय; सम्यक्त्व की घातक चित्तवृत्ति, जिसके उदय से सम्यग्दर्शन नहीं होता; यदि होता है या हो चुका है तो नष्ट हो जाता है।
- अनाचार = स्वीकृत व्रत-प्रत्याख्यान को तोड़ना; व्रत-भंग; साधु के लिए अकरणीय कार्य।
- अनासातना = अपने से गुणों में श्रेष्ठ व्यक्ति का आदर न करना।
- अनिवृत्तिकरण = अनिर्वर्ति; जिस विशिष्ट आत्मपरिणाम के द्वारा जीव ग्रन्थि-भेद कर आनन्द-जनक सम्यक्त्व को उपलब्ध करता है।
- अनुकम्पा = समवेदना; किसी भूखे-प्यासे दुखियारे प्राणी को देख कर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना और उसके दुःख को दूर करने की चिन्ता करना।
- अनुभागबन्ध = फलदान-शक्ति; एक बंधभेद; कर्म-प्रकृतियों की वर्गणाओं का फलदान-शक्ति के अनुसार नियोजन।
- अनमोदन = समर्थन, प्रशंसा।
- अन्तराय = बाधा, विघ्न, रुकावट।
- अन्तर्दर्शन = आत्मावलोकन, आत्मनिरीक्षण, अं. इन्द्रोत्प्रेक्षण।
- अन्तर्गण = प्रा. अण्णाण, अज्ञान, मिथ्याज्ञान।
- अपवाद = संकट-काल; कठिन परिस्थिति।
- अप्रशस्त = बुरा, दूषित, विकृत।
- अबंभं = मैथुन; अब्रह्मचर्य।
- अबोहि = मिथ्याज्ञान, ज्ञान का अभाव, अबोधि।

अमग्न=मिथ्यात्व, कषाय आदि; अमार्ग ।
 अतिकृत्तिकरण=निर्मलीकरण; स्वयं को विकारमुक्त करना ।
 असंजम=असंयम; अज्ञान; हिंसा आदि कार्यों से अनिवृत्ति ।
 असंयति=संयम-हीन व्यक्ति ।
 असूया=ईर्ष्या; डाह; जलन; द्वेष; दूसरों के गुणों में दोष निकालना ।
 अस्तेय=अचौर्य; चोरी न करने का व्रत ।
 अहंकार=गहन ममत्व; आत्मा से भिन्न वस्तुओं में अपनेपन का दुराग्रह ।
 आगम=शास्त्र; तीर्थंकर-देशना; आप्त-वाणी ।
 आगमिक=आगम से संबन्धित; शास्त्रोक्त ।
 आचरण=चारित्र्य; वह उपायभूत माया-व्यवहार जिससे दूसरे जीवों का घात हो;
 आचार ।
 आत्मदर्शन=समता-दर्शन का तीसरा सोपान; वसुधैव कुटुम्बकम् की उदार भावना
 के साथ आत्मविसर्जित होना; अन्य सोपान हैं—सिद्धान्त-दर्शन, जीवन-दर्शन,
 परमात्म-दर्शन; दे. पृ. १३३ ।
 आत्मप्रेरणा=आत्मसुझाव; अं. अँटो-सजेश्चन ।
 आधाकर्मी=साधु के निमित्त तैयार किया गया आहार-जल आदि ।
 आरा=पूर्वभाग; काल-भेद; ये १२ हैं—६ उत्सर्पिणी के और ६ अवसर्पिणी के ।
 आरोहण=चढ़ना; शरीर की ऊँचाई; आरूढ़ होने की क्रिया ।
 आर्त=दुःखी, पीड़ित, संतप्त ।
 आर्हत मत=जैनधर्म ।
 आर्हति ज्योति=आत्मा की परमोच्च अवस्था; परम ज्ञान-ज्योति ।
 आलुञ्चन=अ. रू. आलुचन; अपने दोषों को उधाड़ना; आलोचना के बाद की
 क्रिया ।
 आवरण=आच्छादन; अज्ञान आदि दोषों के कारणभूत कर्म ।
 आशंसा=अप्राप्त वस्तु को पाने की इच्छा ।
 आसन=बैठकी; आत्मा में अनन्य अवस्थान; योग-संबन्धी ध्यान-मुद्रा (यथा—
 वीरासन, पद्मासन आदि) ।
 उच्छ्वास=छोड़ा हुआ श्वास; श्वास छोड़ने की क्रिया ।
 उत्सर्ग=बाधा-मुक्त साधना; शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए की जाने वाली
 साधना; त्याग ।
 उद्देशिक=उद्दिष्ट; निमित्त से बनाया गया आहार ।
 उपयोग=एकाग्रता; चेतनता का अनुसरण करने वाला अबाध परिणाम; अं.
 कंसेन्ट्रेशन ।

उपशम=कषायों को शान्त करना; कषाय-दमन।

उपादेय=ग्रहण-योग्य; हेय से विपरीत।

एकल विहार=किसी साधु का एकाकी विहार (जो मुनि/साधु बहुत दिन का दीक्षित है, जो तपस्या में वृद्ध है, और जो आचार-शास्त्रों में पारंगत है उसे शास्त्रों ने एकल विहार की अनुमति दी है; स्वेच्छाचारी को अकेले विहार करने की अनुमति नहीं है); ी=अकेले विहार करने वाला साधु।

एग=एक।

ओघ=सामान्य; सामान्य श्रुत-कथन।

औदारिक=उदार का अर्थ स्थूल है तदनुसार स्थूल द्रव्य-निर्मित शरीर।

करुणा=दयाभाव; किसी प्राणी का दुःख देख कर अन्तःकरण का द्रवित होना।

कल्प=मर्यादा; अनुष्ठान; शास्त्रोक्त विधि; कार्य-सीमा।

कषाय=आत्मा का भीतरी कलुष परिणाम; दूषित भावनाएँ जिनसे संसार की वृद्धि हो, ये चार हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ।

कार्मण=कर्म से संबन्धित; आठ कर्मों का सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध-संचय (कार्माण शरीर)।

काल=समय; छह द्रव्यों में-से एक; अन्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश; मृत्यु।

कुलथेरा=कुल-नायक; कुल-स्थविर; पंच।

गण=स्थविर-संतति; तीन पुरुषों अथवा श्रमणों का समूह; मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध साधुओं का समूह।

गवेषण=आहार की निर्दोषता की जाँच-परख।

क्षेत्र=स्थान; शरीर; खेत; जहाँ द्रव्यावगाह हो।

गणथेरा=गण-नायक; गण-प्रमुख।

गामथेरा=ग्राम-स्थविर; गाँव का मुखिया; पटेल।

गुणस्थान=आत्म-विकास की श्रेणियाँ; ये १४ हैं।

घन=ठोस; शुद्ध; खालिस; परतत्व से रहित हो कर आत्मतत्त्व-में-भरपूर; अं. प्योर; (ज्ञानघन=ज्ञान से भरपूर)।

घातिकर्म=जीव-गुणों के आच्छादक कर्म; दे. अघातिकर्म।

चतुर्विध संघ=साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का संयुक्त समाज।

चादर=प्रच्छादन; अखण्ड वस्त्र; चदर; साधु-वस्त्र; (इसे श्वेतम्बर साधु संख्या में अधिकतम ३ रख सकता है)

चैत्यवासी=मन्दिर-मार्गी; दे. देरावासी।

छःकाय=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, और तप्त २ से ले कर ५ इन्द्रिय-

युक्त जीव ।

छद्मस्थ = राग-द्वेष और काम-क्रोध से युक्त व्यक्ति; अपूर्ण ज्ञानी ।

छल-छद्म = कपटाचार; फरेब; मयाचारी ।

जातिथेरा = जाति-नायक; (मनुष्य-जाति को एक माना गया है) ।

जित-व्यवहार = आचार्यों द्वारा प्रणीत मर्यादाएँ ।

जिनकल्पी = वीतराग पुरुषों-जैसी उत्कृष्ट साधना करने वाला ।

जीवन-दर्शन = समीक्षण-ध्यान की द्वितीय सीढ़ी; दे. पृ. १३३ ।

टब्बा = शास्त्रों का राजस्थानी और गुजराती में किया गया पदार्थ (पद + अर्थ)
एवं भावार्थ ।

तर्जनी = अँगूठे के पास की उँगली; डराने-धमकाने (तर्जन) के लिए काम में आने
के कारण तदनुसार अभिहित उँगली ।

ढूँढिया साधु = आत्मशोधार्थी; आत्मान्वेषी; (व्यु. ढूँढ = ढूँढना); बाईस टोळा
संप्रदाय का अनुयायी; -मार्ग = ढूँढिया साधुओं द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय ।

तीर्थ = साधु, साध्वी; श्रावक, श्राविका ।

तेरापंथ = भीखणजी द्वारा १७६० ई. में प्रवर्तित पंथ; (व्यु. 'तेरा' शब्द को '१३'
संख्या तथा 'तेरा' सर्वनाम दोनों से जोड़ा गया है) ।

तैजस = प्रभा; शरीर से निकलने वाली किरणें; -शरीर = तेज और प्रभा से युक्त
शरीर ।

थाला = टाणा; कुए की जगत् ।

थेरो = स्थविर, थविर; दे. स्थविर ।

दर्शन = श्रद्धा; सम्यक्त्व; सहज बोध ।

दव्वं = द्रव्य; ये छह हैं - जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ।

दिगम्बर = जैनों के दो बड़े सम्प्रदायों में से एक, जिसका साधुवर्ग निर्वस्त्र रहता है
(व्य. दिक् + अम्बर; दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हैं) ।

दृष्टाभाव = इस तरह देखना कि जिसमें कोई आसक्ति या हिस्सेदारी न हो;
साक्षिभाव ।

देरावासी = मूर्तिपूजक; एक श्वेताम्बर संप्रदाय; दे. चैत्यवासी ।

द्रव्य = साधन; उपकरण; द्रव्य; अं. सब्स्टेंस; दे. दव्वं ।

द्वेष = अप्रीतिजनित परिणाम; ईर्ष्या; जलन; डाह ।

धर्म = स्वभाव; गुण; कर्तव्य; शुभ कर्म; सदाचार ।

धर्माचार्य = जो किसी सद्धर्म-साधना में प्रगति का उपदेश देता है ।

ध्यान = आनन्द; आत्म-चिन्तन; किसी एक वस्तु या विषय पर दृष्टि को एकाग्र
करना बनाये रखना ।

ध्यानमुद्रा=दे. ध्यान; आत्म-चिन्तन की मुद्रा; शरीर की ऐसी अवस्था जो आत्म-चिन्तन के लिए की जाती है; आत्म-चिन्तन के लिए देह की सुस्थिर/अचंचल अवस्था।

नगरथेरो=नगर-प्रमुख; राज्य और प्रजा के बीच का प्रधान पुरुष।

निगोद=जो अनन्तानन्त (अनन्त + अनन्त) जीवों को भूमि (गो) देता है (इन जीवों का साधारणरूप में एक ही शरीर होता है); (ब्यू. नि=नियत, गो=भूमि, द=देता है अर्थात् जो स्वयं अनन्तानन्त जीवों की बस्ती (कॉलोनी) होते हैं); साधारण वनस्पति।

निर्ग्रन्थ=राग-द्वेष/परिग्रह-की-ग्रन्थि को नष्ट करने वाले साधु।

निर्युक्ति=आगमों की विस्तृत प्राकृत-व्याख्या।

पचस्वाण/पचखाण=प्रत्याख्यान; परित्याग की प्रतिज्ञा; निन्द्य कर्मों से निवृत्ति।

पचोला=पाँच दिन का उपवास।

पण्डित=साधु; पाप-कर्मों का सर्वथा त्याग करने वाला।

पण्डितापण्डित=श्रावक।

प्रतिक्रमण=विषय-कषाय में प्रवृत्तमान आत्मा को स्व-स्वरूप में लौटाने की साधना।

प्रतिलेखन=वस्त्र, पात्र, स्थान आदि का सावधानतया अवलोकन।

पद्मासन=जब एक जंघा का मध्यभाग दूसरी जंघा से मिल जाए तब पद्मासन की मुद्रा बनती है; अर्द्ध=इसमें दायीं पैर बायीं जंघा के नीचे और बायीं पाँव दायीं जंघा अथवा जंघा और पिंडली की संधिरेखा के नीचे रहता है। इसे सुखासन भी कहते हैं। यह सहज साध्य होता है।

परमाणु=स्वभाव पुद्गल (स्कन्ध को विभाव पुद्गल कहा जाता है); सर्व स्कन्धों का अन्तिम भाग; पुद्गल की वह अविभागी अभिव्यक्ति जो स्वयं स्वयं का आदि मध्य और अन्त है—यह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है।

परमात्म दर्शन=समीक्षण-ध्यान का चौथा सोपान; दे. पृ. १३३।

परमात्म भाव=समीक्षण-ध्यान के अन्तिम सोपान पर होने वाला आत्मानुभव।

परिग्रह=मूर्च्छा; आसक्ति; संग्रह।

परियायथेरा=जितेन्द्रिय।

पसत्थेरा=अध्यापक; धर्मोपदेशक; प्रशास्ता।

पर्यकासन=वज्रासन; बायें पैर को दायीं जंघा पर और दायें को बायीं जंघा पर रख कर हाथों को वज्राकृत पीछे ले जा कर पाँव के अंगुष्ठ पकड़ने से बनने वाली मुद्रा। जैनाचार्यों ने इसे ही पर्यकासन कहा है।

पासत्था=पाशर्वस्थ; शिथिलाचारी साधु।

पौषघ्न=उपवास करके पूरे दिन आत्म-साधना में संलग्न रहना; उसे परिपुष्ट

करना।

प्रकृति=स्वभाव; शील; कर्म-प्रकृतियाँ=ज्ञानावरणादि के भेद से ये ८ हैं।
प्रत्याख्यान=त्याग; अप्रमत्तता को जागृत करने के लिए मर्यादापूर्वक संकल्प;
दे. पचक्खाण, पच्चखाण।

प्रमार्जिका=स्थान एवं शरीर आदि के प्रमार्जन के लिए ऊन के धागों से बनी
हुई वस्तु (प्रमार्जन=जीवों की रक्षा के लिए मृदु उपकरणों द्वारा उपकरणों पर
आयी/जमी धूल आदि झड़ाना)।

प्रमोद=मुनिजनों/गुणीजनों के गुणों के चिन्तन से होने वाली आनन्दानुभूति।

प्राणायाम=शरीर में निरन्तर प्रवहमान प्राणशक्ति का नियन्त्रण; श्वास द्वारा
शरीर पर शासन; अन्तरंग=चित्त की चंचलता का निरोध, परभाव-रमणता
का रचन; दुर्विचारों से आत्मा की रक्षा; बाह्य=शरीर की प्राणशक्ति को
उत्प्रेरित तथा समृद्ध करना।

प्रायश्चित्त=दोषों की आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि।

प्रासुक=निर्दोष; निर्जन्तुक।

बन्ध=जीव का कार्माण वर्गणा जाति के सूक्ष्म स्कन्धों से रागद्वेष के कारण संयोग।
बालपण्डित=श्रावक।

बावीस टोळा=बाईस संप्रदाय; धर्मदासजी ने चैत्र शुक्ला १३, १७७२ वि. सं.
(१७१५ ई.) में धारा नगरी में अपने समस्त शिष्य-समूह को २२ संप्रदायों में
विभाजित कर दिया। इस प्रकार २२ मुनियों/साधुओं के नाम से २२ संप्रदाय
बने; साधुमार्गी जैनाचार्य जवाहरलालजी को इन टोळों का पूज्यश्री माना
जाता था।

बावीस संप्रदाय=दे. बावीस टोळा; (व्यु. टोळो - राजस्थानी शब्द=समूह,
झुंड, दल)।

भगवं=परमात्मा।

भण्डोपकरण=पात्र, रजोहरण आदि उपकरण।

भाव=विचार।

भावशुद्धि=अविकृतिकरण के बाद की प्रक्रिया, जिसके द्वारा भावों को निर्मल किया
जाता है। यह निर्विकारता का चौथा सोपान है; अन्य हैं—आलोचन, आलुञ्चन,
अविकृतिकरण।

भ्रामरी=प्राणायाम का एक भेद जिसमें भ्रमर की तरह गुंजारव किया जाता है।

भेदविज्ञान=शरीर और आत्मा को पृथक् देखने/करने की अध्यात्म-विद्या।

मर्यादा=सीमा; विवेक।

मस्तिका=लुहार की धौंकनी की तरह तीव्र श्वास लेने की क्रिया।

माध्यस्थ = उदासीन वृत्ति ।

मिच्छत्तं = मिथ्यात्व; दे. मिथ्यात्व ।

मिच्छामि दुक्कडं = मेरा दुष्कृत मिथ्या (निष्प्रभावी) हो ।

मिति = मैत्री ।

मिथ्यात्व = जिनोपदिष्ट तत्त्वों/उपदेशों में संशय; तत्त्वार्थों का अश्रद्धान; असत्य ।

मुखपत्ती = मुँहपत्ती; श्वेताम्बर स्थानकवासी साधु वायुकायिक जीवों की रक्षा के लिए मुख पर एक लघुवस्त्र-खण्ड बाँधते हैं; अ.रू. मुख-वस्त्रिका, मुख-नासिका ।

मुखवस्त्रिका = मुखपत्ती; एक संयम-उपकरण; दे. मुखपत्ती ।

मुमुक्षु = मुक्ति की इच्छा रखने वाला ।

रट्ठथेरा = राष्ट्र-स्थविर; राष्ट्रपति; राष्ट्रायक ।

राग = आसक्ति; ममकार ।

लब्धि = शक्ति ।

लेश्या = विचार; भावना; अनुरंजित योग-प्रवृत्ति ।

वासना = अविच्युति से स्थापित संस्कार; अदम्य वांछा ।

वात्सल्य = साधर्मी जन - विशेषतः अतिथि, गुरु, ग्लान (रूग्ण) और तपस्वी आदि के विषय में अनुराग; सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अनुराग ।

विभ्रम = किसी बहुआयामी (अनेकान्तात्मक) वस्तु का सर्वथा नित्य या क्षणिक माना जाना ।

विकार = दोष; अपराध ।

विरमण = त्याग; व्रत-प्रत्याख्यान ।

विराघक = साधना में आये दोषों की आलोचना न करने वाला; अपनी विशुद्ध आत्मा को छोड़ परद्रव्यों पर आसक्त व्यक्ति ।

वीतराग = रागद्वेष-रहित ।

व्यसन = कुटेव (व्यु.वि + असन) ।

व्यामोह = अपने या अपनों के लिए धन, ऐश्वर्य, यश आदि बटोरने की अन्धी वासना ।

वेयावच्च = वैयावृत्त्य; सेवा; शुश्रूषा ।

व्यावच्च = आहार-जल ला कर देना; वैयावृत्त्य ।

व्युत्सर्ग = छह आवयकों में से अन्तिम; अहंकार एवं ममकार का त्याग ।

शक्ति-जागरण = शक्ति के दुरुपयोग को रोकना, जगाना तथा उसे यथाशक्ति ऊर्ध्वग करना; समीक्षण-ध्यान का एक महत्त्वपूर्ण चरण ।

शिथिलाचारी = जिसका आचरण दोषपूर्ण (शिथिल) है ।

शिथिलीकरण = शरीर को ढीलना; तनाव-मुक्त होना; हल्काना; निर्भार होना; अं. रिलेक्सेशन ।

शुक्ल = ध्यान में पवित्रता गुण का संयोग; एक ध्यान-भेद; संकलेश-रहित परिणाम।
शुद्धि = ज्ञानावरण और दर्शनावरण के विनष्ट होने से उत्पन्न निर्मल ज्ञान और दर्शन।

शैलीशीकरण = शैलेश (मेरु) की तरह की निश्चलता प्राप्त करना; वृत्तियों के चांचल्य को खत्म करना; मन को मेरुवत् अचंचल बनाना।

श्रमण = साधु; स्वयं के श्रम (तप) से कर्मक्षय द्वारा मुक्ति प्राप्त करने वाला।

श्रमणोपासक = श्रावक; श्रमण/साधु की उपासना करने वाला; सद्गृहस्थ।

श्रावक = श्रमणोपासक; अणुव्रतों को पालन करने वाला।

श्वास = सांस; प्राणवायु।

संज्वलन = 'सं' का अर्थ एकीभाव है, अतः जो क्रोध, मान आदि के साथ एकीकृत (संयुक्त) हो कर जलते (व्यक्त होते) रहते हैं, वे संज्वलन कषाय कहलाते हैं।

संघथेरा = संघस्थविर; संघ-नायक।

संथागार = संघ का सभास्थल; टाउनहॉल।

संधारा = जीवन-पर्यन्त अनशन।

संमूर्च्छिम = गर्भ के बिना जन्म लेने वाले जीव।

संयति = साधु; इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला साधक।

संयमासंयम = श्रावक, जिसने एक अंश से असंयम का त्याग किया है।

संस्थान = शरीर; संस्था।

संचित = जीव-सहित पदार्थ।

सच्चं = सत्य, यथार्थ; सिद्धान्त; वस्तु-स्वरूप।

समता-दर्शन = एक जीवन-दृष्टि जो विषमताओं का निवारण करती है और व्यक्ति को अन्तर्द्वन्द्वों से परे ले जाती है; एक जीवन-दर्शन जिसमें व्यक्ति सम (संतुलित) सोचता है, सम जानता है, सम देखता है, सम करता है—निज को सम बनाता है; साधुमार्गी जैनाचार्य नानालालजी द्वारा प्रणीत जीवन-दर्शन जिसके ४ सोपान हैं—दे. पृ. १३३।

समकित = सम्यक्त्व; दे. सम्यक्त्व।

समीक्षण = सम्यक् रीति से समतापूर्वक अवलोकन; साधुमार्ग के वर्तमान आचार्य (जन्म-१९२० ई.) द्वारा प्रतिपादित नूतन ध्यान-विद्या (समीक्षण-ध्यान)।

सम्यक्त्व = पदार्थों का श्रद्धान; वस्तुत्व-बोध; सही, संतुलित, स्वाभाविक, वस्तुस्वरूप का बोध।

सर्व्वं = सर्व, सब।

साधना = किसी कार्य को सिद्ध या संपन्न करने की क्रिया।

साधर्मिक = समान धर्म का मानने वाला।

साधुमार्ग = दे.पृ. ५,६; अध्यात्म-साधना का वह मार्ग, जिसमें साधुओं को आदर्श माना जाता है; दे. बाईस टोळा।

(शेष पृष्ठ १९१ पर)

साधुमार्ग / साहित्य (चुनें और पढ़ें)

संकेत : अं. = अंग्रेजी; ग. = आचार्य श्रीगणेशीलालजी; गु. = गुजराती; ज. = आचार्य श्रीजवाहरलालजी; ज.कि. = जवाहर किरणावली; तृ. = तृतीय संस्करण; द्वि. = द्वितीय संस्करण- ना. = आचार्य श्रीनानालालजी; प्र. = प्रथम संस्करण; से. = सेट; हिं. = हिन्दी ।

अंजना; ज.कि. १६

अखण्ड सीभाग्य; ना.; १९८७

अनाथ भगवान्-१, २; ज.कि. २९, ३०; प्र. १९५५, द्वि. १९७७

अनूकम्पा-विचार-१, २; ज.

अनुभव पराग; मुनि शान्तिलाल

अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्रीनानेश; शान्ति मुनि; १९८२

अमृत सरोवर; ना.

अविस्मरणीय झलक : आ. श्रीनानेश का सौराष्ट्र-प्रवास; पीरदान पारख; १९८४

अष्टाचार्य गौरव-गंगा; मुनि ज्ञान; १९८६

आचार्य श्रीजवाहरलालजी म.सा. : व्यक्तित्व एवं कृतित्व; डॉ. नरेन्द्र भानावत/
महावीर कोठिया

आचार्य श्रीनानेश : विचार-दर्शन

आचार्य श्रीनानेश : एक परिचय; गु.हिं.

आत्मदर्शन (व्याख्यान-संकलन); ग.

आध्यात्मिक आलोक; ना.

आध्यात्मिक वैभव; ना.

उदाहरण-माला-१, २, ३; ज.कि. २५, २६, २७; द्वि. १९६९

उभरते प्रश्न समाधान के आयाम; ना.

ऊँडाण ना हस्ताक्षर; गु.; ना.

ऐसे जिएँ; ना.

कुकुम के पगलिये; ना.

क्रान्तदृष्टा श्रीमद्जवाहराचार्य; संपादन-डॉ. शान्ता भानावत; १९७६

गहरी पर्व के हस्ताक्षर (दैनंदिनी-संकलन); ना.; १९८२

गुह्वन्दना; ना.

गृहस्थ-धर्म, १, २, ३; ज.कि. ३१, ३२, ३३, प्र. १९५७, द्वि. १९७८

चिन्तन, मनन, अनुशीलन १, २

जलते जाएँ जीवन-दीप; ना.

जवाहर-ज्योति प्रवचन-संकलन; द्वि. १९७१

जवाहर विचार-सार

जवाहर स्मारक; ज.कि. ७; द्वि. १९७५

जामनगर के व्याख्यान; ज.कि. २३; द्वि. १९७१, तृ. १९८४

जिणधम्मो; ना.; १९८४

जीवन-धर्म; ज.कि. ४; द्वि. १९७५

जीवन और धर्म; ना.; १९८२

जैन मुनि आणि धर्म; ना.; म.

जैनाचार्य पूज्य श्रीजवाहरलालजी की जीवनी, भाग-१; शोभाचन्द्र भारिल्ल/इन्द्रचन्द्र
शास्त्री; प्र. १९४७, द्वि. १९८२

स्वर्गीय जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज की जीवनी

जैन संस्कृति का राजमार्ग; ग.

ताप और तप; ना.

तीर्थंकर चरित्र १,२; से.५

दिव्य जीवन; ज.कि. २; द्वि. १९७५

दिव्य दान; ज.कि. १

दिव्य संदेश; ज.कि. ३; तृ.सं. १९६६, चतुर्थ संस्करण १९८२

धना चरित्र श्री; से. ५

धर्म और धर्मनायक; ज.कि. १३; तृ. १९८४

धर्मपाल बोधमाला

धर्म-व्याख्या; से. ५

नवनिघान; ना.

नारी-जीवन; ज.कि. २८

परिग्रह-परिमाण व्रत; से. ४

पाँच समिति तीन गुप्ति का थोकडा

पांडव चरित्र - भाग १; २ ज.कि. १७, १८;

पावस प्रवचन, १-५; ना.

प्रवचन-पीयूष; ना.

प्राकृत पाठमाला; श्यामलाल ओझा

प्रार्थना-प्रबोध; ज.कि. २४

प्रेरणा की दिव्य रेखाएँ; ना.

बीकानेर के व्याख्यान; ज.कि. १९; द्वि. १९७०

भगवती सूत्र व्याख्यान; भाग ३,४,५,६; से.१

भगवान् महावीर आधुनिक संदर्भ में; डॉ. नरेन्द्र भानावत; प्र. १९७४
 भगवान् महावीर एण्ड हिज रेलेवेन्स इन कंटेम्पररी एज; डॉ. नरेन्द्र भानावत, डॉ.
 प्रेममुमन; अं.; प्र. १९७६
 भीनासर के व्याख्यान; ना.
 मंगल वाणी; ना.
 मान समीक्षा; ना.; प्र. १९८७
 मोरवी के व्याख्यान; ज.कि. २१
 राजकोट के व्याख्यान १,२,३; से.३
 राम-वनगमन; ज.कि. १४; चतुर्थ संस्करण १९७६
 रुक्मिणी-विवाह; ज.कि. ६; चतुर्थ संस्करण १९५२, पंचम संस्करण १९७८
 लक्ष्यवेध; ना.
 लगते प्यारे दिव्य सितारे; प्र. १९८१
 लघुदंडक बासठिया; धर्मेश मुनि; प्र. १९८७
 लॉर्ड महावीर एंड हिज टाइम्स; अं.; डॉ. के.सी. जैन; प्र. १९७४
 संकल्प/समता/स्वास्थ्य
 सकडाल पुत्र; से.५
 सती मदनरेखा; ज.कि. ३५
 सती राजमती; ज.कि. ३४
 सद्धर्म मण्डनम्; ज.; द्वि. १९६६
 सनाथ-अनाथ निर्णय; से.५
 सफल सौराष्ट्र प्रवास; गु.
 समता क्रान्ति का अह् वान; ना.
 समता क्रान्ति चे अह् वान; म.; ना.
 समता जीवन प्रश्नोत्तर; ना.
 समता दर्शन अने व्यवहार; गु.; ना.
 समता दर्शन : एक दिग्दर्शन; ना.
 समता : दर्शन और व्यवहार; ना.; प्र. १९७३
 समता नवसर्जन; सम्पत् मुनि; प्र. १९८५
 समता निर्झर; ना.
 समता स्वाध्याय स्तवन संग्रह; प्र. १९८१
 समराइच्च कहा; छगनलाल शास्त्री
 समीक्षण धारा; ना.
 समीक्षण ध्यान : प्रयोग-विधि; गु.; ना.
 समीक्षण ध्यान : एक मनोविज्ञान; ना.; प्र. १९८७
 समीक्षण ध्यान/विधि-विधान; शान्ति मुनि; प्र. १९८७
 सम्यक्त्व पराक्रम; ज.कि. ८-१२; द्वि. १९७२
 सम्यक्त्व-स्वरूप; से. ४
 सम्बत्सरी; ज.कि. २२; प्र. १९४९; द्वि. १९७७
 साधुमार्ग और उसकी परम्परा; मुनि ज्ञान; प्र. १९८५

सामायिक सूत्र

सुदर्शन चरित्र; से. ५

सुबाहुकुमार; ज.कि. ५

सौंदर्य-दर्शन (कथा-संग्रह); शान्तिचन्द्र मेहता

शान्ति के सोपान; ना.

शालिभद्र चरित्र; ज.कि. २०

श्रमणोपासक पाक्षिक; आरंभ १९६२

—संघ-स्थापना विशेषांक; वर्ष ५, अंक ७; अक्टू. १९६७

—महावीर जयन्ती विशेषांक; वर्ष ११, अंक २०, २१; मई १९७४

—श्रीमज्जवाहराचार्य शताब्दी विशेषांक; वर्ष १४, अंक ६; सितम्बर १९७६

—समता विशेषांक; वर्ष १६, अंक ३-४; अगस्त १९७८

—बाल-विशेषांक; वर्ष १७, अंक ६; सितम्बर १९७९

—बाल संस्कार शिक्षा संगोष्ठी विशेषांक; वर्ष १९, अंक ६-७; अक्टूबर १९८१

—धर्मपाल विशेषांक; वर्ष २२, अंक ५; मार्च १९८४

—दीक्षा विशेषांक; वर्ष २२, अंक ७; अप्रैल १९८४

—रजत जयन्ती विशेषांक; वर्ष २५, अंक १८; सितम्बर १९८७

श्रावक का अस्तेय व्रत; से. ४

श्रावक का सत्य व्रत; से. ४

श्रावक का परिग्रह-परिमाण व्रत; से. ४

श्रावक के चार शिक्षाव्रत; से. ४

श्रावक के तीन गुणव्रत; से. ४

श्रीमद्जवाहराचार्य : राष्ट्रधर्म; प्र. १९७८

श्रीमज्जवाहर यशोविजय महाकाव्यम्; ना.

श्रीमद्जवाहराचार्य : समाज; ओंकार पारीक

श्वेताम्बर तेरहपंथ; से. ५

हरिश्चन्द्र-तारा

हुशियचौश्रीजगनाना/गुरु चमकते भानु समाना

(हम चाहते थे कि इन पृष्ठों में साधुमार्ग से संबन्धित सारे प्रकाशनों को अकारादिक्रम से संयोजित कर दिया जाए; किन्तु हमारी सीमाएँ हैं। एक तो हमारे पास कोई वर्गीकृत सूची नहीं है, दूसरे तीर्थंकर संदर्भ ग्रन्थालय में सारे प्रकाशन उपलब्ध नहीं हैं, तथापि हमने श्रमपूर्वक उक्त सूची तैयार की है और उसे अपने प्रिय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। हमें विश्वास है श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ इस और ध्यान देगा और जल्दी ही एक ऐसी अनुक्रमणी प्रकाशित करेगा जिसमें अब तक प्रकाशित साहित्य अकारादिक्रम से स-परिचय संयोजित हो ताकि जिज्ञासुओं तथा शोधार्थियों को स्वाध्याय एवं अनुसंधान की अपेक्षित सुविधा प्राप्त हो सके।)

—संपादक

आचार्य श्री नानालालजी के साथ २४ घंटे

(पृष्ठ १७० का शेष)

कषायें बंधन में डालने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। सरल शब्दों में, आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम का नाम कषाय है। आत्मा के स्वरूप का धात करने के कारण कषाय सब में बड़ी हिंसा है। मिथ्यात्व सब में बड़ी कषाय है। आसक्ति की तीव्रताओं की दृष्टि से कषाय के चार भेद हैं— अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन। क्रोध, मान, माया, लोभ से गुणा करने पर भेद सोलह हो जाते हैं। जैसे ही चर्चा ने शास्त्रीय मोड़ लिया मैंने कहा— आप तो कषाय का अर्थ बताइये और बताइये कि यह अहितकर क्यों है? बोले— क्रोध आदि कलुषताएँ कषाय हैं। चूँकि ये आत्मा के स्वभाव को 'कष'ती हैं अर्थात् उसकी हिंसा करती हैं इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं। इसी संदर्भ में प्रदेश, प्रकृति, स्थिति, और अनुभाग बंधों पर भी चर्चा हुई (दे. पृ. १७१-१७८, १९१)। बोले— सब कुछ वैज्ञानिक है। जैनदर्शन में एक भी शब्द फिजूल नहीं है। वहाँ सब कुछ सार्थक और प्रसंगिक है। निर्मल अन्तर्दृष्टि चाहिये; उसके बिना कुछ नहीं होगा। मेरे द्वारा पुनः प्रस्तुत 'समीक्षण-ध्यान' व्यवित और समाज दोनों के लिए उपयोगी है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ का समीक्षण करते हैं, तब मन की ग्रन्थियाँ आपोआप खुलने लगती हैं। चित्त निर्ग्रन्थ होने लगता है। रागद्वेष गलने लगते हैं।

राग-द्वेष इस तरह कुछ अनन्य हैं कि राग-में-द्वेष और द्वेष-में-राग गर्भित हुआ है। किसी एक को छोड़ने पर दूसरा अपने-आप बिदा हो लेता है।

२० अगस्त/गुरुवार को आचार्यश्री ने समीक्षण-ध्यान को व्यौरेवार समझाया (दे. पृ. १३५-१४४)।

२१ अगस्त/शुक्रवार को तप पर चर्चा हुई। बाले— जैन तप भेद-विज्ञानमूलक है। यदि वहाँ यह दृष्टि नहीं है तो तप कितना ही क्यों न हो, व्यर्थ और निष्फल है। तप तप है, उसका विज्ञापन नहीं किया जाता। तप सम्यक्त्व के लिए की गयी उत्कट साधना का नाम है। मैं तप के प्रचार पर, उससे संबंधित जुलूसों और शोभायात्राओं पर बराबर अंकुश रखता हूँ। वह साधु ही क्या, जो सत्य कहने में झिझक अनुभव करता हो। मैं तो श्रावक का भी उपकार मानता हूँ। वे मुझे संयम में सावधान रखते हैं। जब कोई श्रावक मुझे मेरी त्रुटि बताता है, तब मैं उस त्रुटि की आलोचना करता

हूँ, उस पर ध्यान देता हूँ और बताने वाले के प्रति कृतज्ञता अनुभव करता हूँ। दोष जानने चाहिये ताकि उन्हें यथासमय दूर किया जा सके। बोले – दवाई तो हम लेते हैं, किन्तु बाद को प्रायश्चित्त अवश्य करते हैं। साधुमार्गी संघ में साधु-साध्वी में कोई भेद-भाव नहीं है। संयम के धरातल पर सब बराबर हैं। मैं उन्हें गुरु-चेले की नज़र से कभी नहीं देखता, बल्कि भाई-बहिन मानता हूँ। मैं अपने कार्य में लगा रहता हूँ।

मुझे यदि कोई योग्य साधु मिल जाए तो मैं पूरी तरह से आत्मोन्नयन में लग सकता हूँ। आत्मशुद्धि ही साधु का सर्वस्व है। यही उसका मूलधन है। वह कम, या नष्ट होता है तो फिर कुछ बच नहीं रहता।

वैसे ही, क्रोध पर अपने विचार प्रकट करते हुए वे बोले—

क्रोध एक किस्म की विवेक-शून्यता है। मेरे पिता में क्रोध अधिक था, माँ में बहुत कम था। क्रोध का मूल कारण अज्ञान या शलतफहमी है। क्रोध छुतहा रोग है; इससे बचना चाहिये। मौन और क्षमा इसके मुख्य उपाय हैं।

ईश्वर के स्वरूप पर चर्चा चली तो बोले—ईश्वर क्या है? दुनिया के सारे प्रकाश यदि जोड़ लिये जाएँ तो जो जोड़ बनेगा उसका नाम ईश्वर है। ईश्वर प्रकाश-का-कैवल्य है। ज्ञान और प्रकाश पर्याय हैं। दोनों दो अलग अस्तित्व नहीं है।

खादी की बात चली तो बोले – आचार्य गणेशीलालजी महाराज खादी धारण करते थे। आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने उसे संघ के लिए अपरिहार्य बनाया। खादी की पृष्ठभूमि पर अहिंसा और राष्ट्रीयता दोनों हैं; पावनता भी है। मैं/हमारे तमाम साधु-साध्वी खादी का ही उपयोग करते हैं। यह त्याग का प्रतीक भी है।

इस तरह कई किस्तों में उनसे विविध विषयों पर लगभग २४ घंटे बातचीत हुई। इतने कम पृष्ठों में उस सबको समेटना संभव नहीं है, फिर भी इन अंशों में उनका अंतरंग तो झलक ही आया है – छलक-छलक पड़ा है। हमें विश्वास है पाठक इससे आवश्यक लाभान्वित होंगे और बिन्दुओं को स्वाध्याय की प्रक्रिया में सिन्धुओं में परिवर्तित करेंगे।

—नेमीचन्द्र

१८४/साधुमार्ग विशेषांक



१९ जुलाई १९८७ को श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के कुछ प्रमुख समाजसेवियों से मुलाकात का मौका मिला। बुनियाद में इरादा था कि 'तीर्थकर' के 'साधुमार्ग विशेषांक' के लिए संघ के कुछ ऐसे व्यक्तियों से बातचीत की जाए जो साधुमार्ग की अस्मिता और सिद्धान्त, उसकी गतिविधियों और प्रवृत्तियों, उसकी सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिकाओं, उसके मानवीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोण, उसके श्रमणों और श्रमणोपासकों के व्यक्तित्व तथा उसके आगमिक एवं व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डाल सकें; किन्तु जैसा परिकल्पित था, वैसा संभव नहीं हुआ। अपनी योजना को अधिकांशतः संपन्न करने की दृष्टि से उक्त दिन उपलब्ध नौ महानुभावों के सम्मुख कुछ सवाल रखे गये और जवाब रेकॉर्ड किये गये। मूलतः, इस तरह, ये बातचीतें हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ सिर्फ सारांशतः ही दे पा रहे हैं। सही है कि कुछ महत्त्व के लोग छूट गये हैं; किन्तु इसकी वजह उनका यथासमय उपलब्ध न हो पाना ही है। हमें विश्वास है साधुमार्गी समाज इन विचारों से लाभान्वित होगा और संघ को अधिक उदार, सक्रिय, प्रभावी और बहु-मुखी बनायेगा। जिन महानुभावों के विचार यहाँ दिये जा रहे हैं उनके नाम (अकाराधिक्रम से) इस प्रकार हैं—केशरीचंद सेठिया (मद्रास), गजेन्द्र सूर्या (इन्दौर), गणपतराज वोहरा (पीपलिया कलाँ), गुमानमल चौरङ्गिया (जयपुर), दीपचन्द भूरा (देशनोक), धनराज बेताला (जयपुर), पी सी चौपड़ा (ग्नलाम), भंवरलाल काठारी (बीकानेर), सरदारमल काँकरिया (कलकत्ता)।

—संपादक

अभी करने को बहुत है / केशरीचन्द सेठिया

जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज में अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा थी। उन्होंने अपने युग में समाज को ऐसा साहित्य दिया जिससे वह राष्ट्र की मुख्य सांस्कृतिक धारा से जुड़ सका। व्यक्तिधर्म से ले कर राष्ट्रधर्म तक उन्होंने धर्म की भूमिका को स्पष्ट किया। स्वाध्यायी के रूप में उन्होंने एक पण्डित-परम्परा (जिन्हें वे तीसरा वर्ग कहते रहे हैं) का प्रवर्तन किया। उनका विपुल साहित्य हमारे सामने है। आज साहित्य के प्रति लोगों में उतना रूझान नहीं है कि वे खरीद कर पढ़ें, फिर भी परिवर्तन हुआ है और लोग स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हुए हैं। साधुमार्गी समाज में लेखक कम हैं, अतः जैसा सुन्दर साहित्य चाहिये, वैसा प्रकाश में नहीं आ पा रहा है। मैं इस सबसे संतुष्ट नहीं हूँ। जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी की दो कृतियाँ अविस्मरणीय हैं: 'सद्धर्म मण्डनम्' और 'अनुकम्पा-विचार'। इनमें उन्होंने कई समकालीन धार्मिक समस्याओं का निवारण किया है। ये काफी तर्कसंगत हैं और कई भ्रान्तियों को दूर करती हैं। संघ ने जैन धर्म और दर्शन, प्राकृत भाषा और साहित्य के शिक्षण और प्रचार-प्रसार पर भी ध्यान दिया है। प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालयीन स्तर तक कोशिश हुई है। पत्राचार पाठ्यक्रम की योजना भी है। 'समता प्रसार संघ' के तत्वावधान में जो स्वाध्यायी तैयार होते हैं, वे बड़े समर्पित चित्त से एक रचनात्मक भूमिका निभा रहे हैं। सही है कि हम वर्तमान आचार्यश्री के वैज्ञानिक चिन्तन को वांछित परिमाण में प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं, फिर भी हमारी भावी योजनाओं में उसके लिए काफी गुंजाइश रखी गयी है। हममें प्रबुद्धजन कम और व्यवसायी अधिक हैं अतः कुछ मुश्किलें हैं, जो क्रमशः दूर हो रही हैं।

अच्छे नतीजे निकले हैं; निकल सकते हैं / गजेन्द्र सूर्य

संघ ने युवाओं में काफी काम किया है। पुणे (महाराष्ट्र) के निकट 'समता शिक्षा संस्कार केन्द्र' चल रहा है। इसके अच्छे नतीजे निकले हैं। ऐसा ही एक केन्द्र हम यहाँ भी शुरू करने जा रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी काम हुआ है। 'श्रमणो-पासक' के अलावा 'समता युवा संदेश' (पाक्षिक/रतलाम) भी प्रकाशित होता है। यह युवाओं में काफी लोकप्रिय है। 'संदेश' का मूल लक्ष्य युवाओं को संगठित करना, उन्हें जैन धर्म और दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित कराना, उन्हें व्यसनमुक्त करना/रखना, सेवा की नवचेतना जागृत करना तथा स्वाध्याय के लिए एक स्वस्थ मानसिकता की रचना करना है। 'संदेश' गत तीन सालों से निरन्तर निकल रहा है। समाज में कोई तीस हज़ार युवा हैं। 'संदेश' की एक हज़ार प्रतियाँ छपती हैं। 'संदेश' का क्या असर होता है, इसका मूल्यांकन करने की योजना है। मैं तो, फिल-हाल, यही कह सकता हूँ कि युवावर्ग में काफी उत्साह है और वह हर संभव त्याग के लिए तैयार है।

सामाजिक क्रान्ति की पहल / गणपतराज बोहरा

संघ ने सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में काफी काम किया है। दहेज-प्रथा, मृत्युभोज और बाल-विवाह के लिए हम लोगों ने काफी संघर्ष किया है। सफलता भी मिली है। दहेज के रूपान्तर भले ही विकसित हो गये हैं; किन्तु कुल मिला कर लोग इस की बुराइयों को जानने लगे हैं। मृत्युभोज नव्वे प्रतिशत खत्म हो गया है। अब जो भी होते हैं 'स्वामी वात्सल्य' के नाम से होते हैं। प्रबुद्ध वर्ग ने अब इनमें सम्मिलित होना बन्द कर दिया है। बाल-विवाह लगभग बन्द हैं। लड़की की उम्र प्रायः १६-१७ और लड़के की २०-२१ अब होती ही है। विधवा-विवाह पर भी पुनर्विचार हुआ है। नवजागृति की एक लहर है, सफलता मिल रही है; किन्तु गति धीमी है। हमें चाहिये कि आधुनिकता से जुड़ने के लिए व्यर्थ के आडम्बरो को खत्म करें। नव-युवकों में धर्म-भावना है; किन्तु उन्हें सही ज्ञान दे कर उसे मजबूत करने की कोई सच्ची कोशिश नहीं है। युवावर्ग को धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप चाहिये। वर्तमान आचार्य श्री वैसा कर रहे हैं। हम अपनी प्रगति का सालाना लेखा-जोखा लेते हैं। प्रस्ताव आते हैं, पारित होते हैं; किन्तु अभी प्रस्ताव और मैदान के बीच की खाई को खत्म करना संभव नहीं हो पाया है। मैं चाहता हूँ कि नव-निर्माण के इन क्षणों में हमारी कथनी-करनी में कोई फर्क न हो, भरपूर एकता हो।

संख्या की अपेक्षा गुणात्मकता पर अधिक ध्यान / गुमानमल चोरड़िया

संघ का प्रमुख कार्यालय बीकानेर (राजस्थान) में है। क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से संघ के अनुयायी मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र और कर्नाटक में बसे हुए हैं। इनकी संख्या लगभग सवा लाख होगी। अलग से कोई प्रामाणिक आँकड़ा हमारे पास नहीं है; किन्तु इसके लाख से ऊपर होने में कोई संदेह नहीं है। हम संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता को अधिक महत्त्व देना चाहते हैं। अभी तक श्रमणोपासकों में-से जितने भी अनगार निकले हैं, वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की दृष्टि से गुणी हैं और भगवान् मह्यवीर के उपदेशों का अक्षरशः पालन कर रहे हैं। संघ शिथिलाचार के खिलाफ है। हमारे साधु-साध्वियों की संख्या ढाई सौ से ऊपर है; किन्तु वर्तमान आचार्य-प्रवर का अनुशासन इतना कठोर है (निर्मल भी) कि उनमें परस्पर कोई भेदभाव नहीं है—सब अपनी-अपनी साधना में लीन हैं। बंगाल में हमारे साधु-साध्वियों का विहार अभी तक नहीं हुआ है, तमिलनाडु में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों का विहार अधिक हुआ है। संघ अन्धविश्वासों और आडम्बरो के विरुद्ध है और जैनधर्म के निर्मल/अविकृत स्वरूप के प्रचार-प्रसार में विश्वास रखता है।

हम एक परिवार की तरह काम कर रहे हैं / दीपचन्द भूरा

मैं विगत दस वर्षों से संघ की विविध गतिविधियों में हिस्सा ले रहा हूँ; किन्तु उन्हें पास से देखने-परखने का अवसर मुझे अपने कार्यकाल (अध्यक्ष रहे हैं) में ही प्राप्त हुआ है। मेरा अनुभव है कि साधुमार्गी जैन संघ सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक जागरण की दृष्टि से एक सुसंगठित अखिल भारतीय संघ है। उदयपुर-स्थित 'आगम अहिंसा समता प्राकृत शोध संस्थान' का उल्लेख मैं यहाँ करना चाहूँगा। उक्त संस्थान के तत्वावधान में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से उच्चकोटि के विद्वान् तैयार होते हैं। संस्थान आगम-प्रकाशन का कार्य भी कर रहा है। संस्थान संघ की ज्ञानोन्मुखता का प्रतीक है। संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि उसके कार्यकर्ता एक परिवार की तरह मिलजुल कर काम करते हैं। यही कारण है कि अभी तक जितने चुनाव हुए हैं, सभी सर्वसम्मत हुए हैं। आज की कुत्सित राजनीति में संघ एक निर्मल श्वेत कमल की तरह है। संघ का वर्ष में एक बार अधिवेशन होता है, जिसमें हर भाई-बहन को स्वतन्त्र रूप से बोलने का मौका मिलता है। संघ की एक महिला समिति भी है, जो महिला-जागृति का कार्य करती है। इसके अलावा 'समता युवक संघ' और 'नाना बाल मण्डली' का भी गठन किया गया है। जितने भी कार्य हाथ में हैं, उन्हें सही ढंग से चलाया जा रहा है। संघ का एक मुद्रणालय है, जिसमें संघ की मुखपत्रिका 'श्रमणोपासक' छपती है। संघ ने इस वर्ष अपनी स्थापना के २५ वर्ष संपन्न किये हैं। यही वर्ष आचार्यश्री के पञ्चीसवें आचार्यपद-ग्रहण वर्ष के रूप में भी मनाया जा रहा है। इस शुभ उपलक्ष्य में ज्ञान-ध्यान-तप ज्यादा-से-ज्यादा हों अतः सभी संत-सतियाँ, श्रावक-श्राविकाएँ जी-जान से जुटे हुए हैं। इतना सब होते हुए भी मैं संघ की प्रगति से संतुष्ट नहीं हूँ। संघ में समर्पित कार्यकर्ताओं का अभाव है; जो कार्यकर्ता मैदान में हैं वे भी अपनी व्यस्तताओं के कारण पूरा समय और सहयोग नहीं दे पा रहे हैं; परिणामस्वरूप संघ को जो कार्य कर लेने चाहिये वह उन्हें कर नहीं पा रहा है या विलम्ब से कर पा रहा है। फिर भी हम आशान्वित हैं कि संघ-चक्र में गति आयेगी और वह समाज-सेवा के क्षेत्र में कुछ अभिनव कीर्तिमान स्थापित करेगा।

तन्त्र-मन्त्र में कोई विश्वास नहीं / धनराज बेताला

साधुमार्गी साधुवर्ग आत्मकल्याण के अतिरिक्त समाजहित के कार्य भी करता है। आबालवृद्ध सबको धर्मरत रखने में उसकी एक विशद भूमिका है। इस समाज में लगभग ढाई सौ साधु-साध्वी हैं। नवदीक्षितों को धर्मशिक्षा देने के लिए संघ की एक सुनियोजित योजना है। श्री सु.सां. शिक्षा सोसायटी (नोखा) इस क्षेत्र में अच्छा काम कर रही है। वर्तमान आचार्य के कठोर अनुशासन के बावजूद दीक्षाओं में वृद्धि हुई

है। समाज में विद्वानों की संख्या कम है। इनमें से कुछ संस्कृत, कुछ हिन्दी/संस्कृत, कुछ हिन्दी/संस्कृत/अंग्रेजी के जानकार हैं। श्रावक, साधुओं से पारम्परिक स्वाध्याय और धार्मिक व्रतानुष्ठानों की प्रेरणा लेते हैं। उनकी कोशिश होती है कि वे प्रवचनों आदि के माध्यम से जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के बारे में जानें और उन्हें अपने जीवन में अभिव्यक्त करें। संघ के स्थानक और उपासने दोनों हैं— इनके अलावा समता भवन भी बन कर तैयार हो रहे हैं। हमारा समाज अन्ध-विश्वासों से काफी दूर है। तन्त्र-मन्त्र की ओर हमारे साधुओं का बड़ा कड़ा रख है। उनका इनमें कतई विश्वास नहीं है। उनकी मूल दृष्टि सम्यक्त्व पर है; वे उसी का प्रतिपल प्रतिपादन करते हैं। हमारे साधुओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी कथनी-करनी में एकरूपता। यही कारण है कि उनका हम सबके व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र पर काफी गहरा प्रभाव हुआ है।

धर्मान्तरण नहीं, व्यसन-मुक्ति का मानवीय अभियान / पी. सी. चौपड़ा

‘धर्मपाल अभियान’ (मालवा के बलाइयों में व्यसन-मुक्ति की पहल) १९६३ में शुरू हुआ। अभियान ने अछूत माने जाने वाले बलाइयों को सामाजिक सुरक्षा और प्रतिष्ठा प्रदान की। उन्हें आचार्य-प्रवर ने बताया कि मनुष्य-जीवन अनमोल है, दुर्लभ है; उसे कौड़ी की तरह बर्बाद नहीं कर देना चाहिये। मालवा में लगभग ९०,००० बलाइयों ने व्यसन-मुक्त जीवन जीने का संकल्प किया है। अभी तक इसका कोई व्यापक मूल्यांकन तो नहीं हुआ है; किन्तु काम लगातार हुआ है इसमें कोई संदेह नहीं है। संघ की कोशिश रही है कि जात-पात के बन्धन ढीले हों, रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास खत्म हों, तथा मनुष्य-जीवन की महत्ता को समझा जाए। धर्मपाल अभियान धर्मान्तरण का आन्दोलन नहीं है, यह अच्छे संस्कार डालने और व्यसन-मुक्त जीवन की उपयोगिता को प्रचारित करने का एक रचनात्मक कदम है। रतलाम में संघ एक ‘धर्मपाल छात्रावास’ चलाता है, जिसमें नवीं से बी.ए./एम.ए. तक की कक्षाओं के धर्मपाल छात्र निःशुल्क रह कर शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं; किन्तु दुखदायी यह है कि सरकार उन छात्रों को सुविधाएँ देना बन्द कर देती है, जो स्वयं को ‘धर्मपाल’ लिखना शुरू कर देते हैं। इसका सीधा मतलब यह हुआ कि सरकार नहीं चाहती कि जो लोग व्यसन-लिप्त हैं उन्हें व्यसनमुक्त बनाया जाए। इस ओर कोई ठोस कदम उठाना चाहिये। सरकार को यह जानना चाहिये कि धर्मपाल अभियान धर्मान्तरण का आन्दोलन नहीं है वरन् हृदय-परिवर्तन की एक रचनात्मक पहल है। यह एक ऐसा सर्वांगीण आन्दोलन है जिसमें आबालवृद्ध सभी को संस्कारित करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसे क्षेत्रों में संघ ने ‘समता भवन’ भी निमित्त किये हैं, जहाँ तरह-तरह की समाजसेवी गतिविधियाँ चलायी जाती हैं।

भावुकता की अपेक्षा ठोस योजनाओं की ओर कदम / भँवरलाल कोठारी

संघ का लक्ष्य अच्छे संस्कार डालना और योग्य शिक्षण देना है। १९६२ में स्थापित इस संघ ने विगत पच्चीस वर्षों में काफी विस्तृत पैमाने पर काम किया है। १९६५ में गणेश जैन छात्रावास (उदयपुर) स्थापित हुआ। मेवाड़-क्षेत्र में संघ के वित्तीय अनुदान पर लगभग तीस पाठशालाएँ चल रही हैं। शिक्षा की दृष्टि से संघ ने दो प्रकार की योजनाओं को अमल में लाने का संकल्प किया है—ग्रामोन्मुख और नगरोन्मुख। धर्मपाल योजना एक ऐसी योजना है, जिसने जनैतरों में व्यसन-मूक्त जीवन-मृत्यों को स्थापित करने की उल्लेखनीय पहल की है। इसने संपूर्ण मालवा क्षेत्र को प्रभावित किया है और संघ को राष्ट्रीय तथा मानवीय चेतना से जोड़ा है। हम चाहते हैं कि धर्मपाल भाई त्यागमूलक वृत्ति से धर्म से जुड़े, किसी लोभ या लाभ की वृत्ति से नहीं। संघ के कार्यकर्ता भी इस क्षेत्र में पूरी निष्काम भावना से कार्य कर रहे हैं। इधर के सालों में स्वाध्याय की वृत्ति बढ़ी है। मूल में हमारी तमाम योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य सम्यग्ज्ञान है, अतः तदनुसार हम सम्यक् शिक्षण के लिए प्रयत्नशील हैं। हम भावुकता की अपेक्षा ठोस और व्यावहारिक योजनाओं पर अधिक जोर देना चाहते हैं।

साधु और श्रावक परस्पर पूरक / सरदारमल काँकरिया

साधुमार्गी जैन संघ काफी सक्रिय संघ है। इसका विस्तार लगभग सारे देश में है। धीरे-धीरे लोग अब इसके उद्देश्य को समझने लगे हैं। संघ चाहता है कि श्रमणों और श्रमणोपासकों में चरित्र की ऐसी निर्मलता विकसित हो कि उनमें संयम के लिए निष्ठा बढ़े, चरित्र की निर्मलता समृद्ध हो, और उनकी कथनी-करनी का अन्तर निरन्तर घटता जाए। १९६२ में संघ की स्थापना हुई थी। आज उसे पच्चीस वर्ष हो रहे हैं। पहले लोगों में उत्साह कम था, अब खूब है; इस बीच उसका विस्तार हुआ है, वह फला-फूला है। संघ का एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित होता है—'श्रमणोपासक', जिसकी ४,००० प्रतियाँ छपती हैं। श्रावकों में लिखने-पढ़ने की रुचि कम है; किन्तु उसमें दिनों-दिन वृद्धि हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में संघ शुरू से जागृत रहा है। गणेश जैन छात्रावास, धर्मपाल छात्रावास, शिविर, पद-यात्राएँ आदि उसकी इसी जागरूकता के प्रतीक हैं। उसने बालकों और महिलाओं में भी काम किया है। रतलाम का 'महिला उद्योग मन्दिर' इसकी जीती-जागती मिसाल है। समाज की महिलाएँ अब घर की चहारदीवारी से बाहर आ रही हैं और समाज के कामों में पूरी तत्परता से हाथ बँटा रही हैं। कई महिलाएँ विदुषी हैं। संघ राष्ट्रीय संदर्भों में भी यथायोग्य भूमिका निभाता रहा है। अकाल-जैसे संकटों में उसने यथायोग्य योग

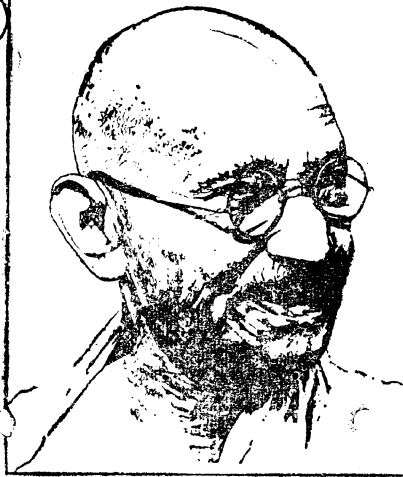
दिया है। साधु हमारे प्रेरणा-स्रोत हैं। वास्तव में इस संघ में साधु और श्रावक परस्पर पूरक इकाइयाँ हैं। इनमें आपस में कोई टकराहट नहीं है। कभी-कभार यदि कोई मतभेद होता भी है तो वह शान्ति और सद्भाव से निबट जाता है। व्यसन-मुक्ति के लिए मालवा-के-क्षेत्र में 'धर्मपाल अभियान' चल रहा है। हमारे युवक काफी प्रगतिशील हैं; यदि बुजुर्ग वक्त के साथ बदलते हैं तो वे अवश्य साथ आयेंगे और काम करेंगे; फिलहाल उनकी शक्ति का उपयोग कम ही हो पा रहा है। 'आगम अहिंसा समता प्राकृत संस्थान' (उदयपुर) का स्वतन्त्र भवन बन कर तैयार है। यहाँ हम एक 'बहुत् केन्द्रीय जैन ग्रन्थालय' कायम कर रहे हैं। इसे हम विद्वानों और शोधार्थियों के उपयोग का तो बनायेंगे ही, एक आम श्रावक के स्वाध्याय के उपयुक्त भी बनायेंगे। संघ में विद्वान् कम हैं, किन्तु हम इनकी कमी स्वाध्यायियों द्वारा पूरी कर रहे हैं। हम लोग ज्यादातर व्यवसायी हैं, अतः जितना बन पड़ता है उतना कार्य संपूर्ण समर्पण के साथ करते हैं।

(पृष्ठ १७८ का शेष)

साधुमार्गी समाज = साधुमार्ग का अनुयायि-वर्ग।
 सामायिक = समभाव को जीवन में प्रकट करने के निमित्त की जाने वाली साधना।
 साम्य = समता; समदृष्टित्व; समभाव; दे. समता-दर्शन।
 सावद्य = पापयुक्त; जिस कार्य में जीव-हिंसा हो।
 सिद्धान्त-दर्शन = समता-दर्शन का प्रथम सोपान; अन्य तीन हैं - जीवन-दर्शन, आत्म-दर्शन, परमात्म-दर्शन; दे.पृ. १३३।
 सुत्तथेरा = सूत्रोपदेशक; अपने अनुभव को समाज की अन्तिम इकाई तक पहुँचाने वाला उपदेशक।
 सुप्रणिधान = पात्र आदि का सविवेक प्रयोग।
 सुविहित मार्गी = स्थानकवासी।
 सूझता आहार = दोष-रहित आहार-पानी।
 स्थविर = धर्म-नायक; नायक; ज्ञान, वय, एवं साधना में वृद्ध परिपक्व बुद्धि वाला साधक;
 कल्प = उल्लिखित साधकों-जैसी उत्कृष्ट साधना करने वाला।
 स्थानकवासी = सुविहित मार्गी; चैत्यवासियों के शिथिलाचार के विरोध में १२२८ ई. के लगभग आविर्भूत जैन सम्प्रदाय।
 स्वाध्याय = आत्मचिन्तन; स्व-स्वरूप का मनन।
 स्थिति = बन्ध के ४ भेद हैं—प्रदेश, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग; जगत् में अनन्तानन्त कार्माण वर्गणाएँ हैं, जब वे राग-द्वेष-मोह के परिणाम से आत्मा के साथ निबद्ध होती हैं तब इस क्रिया को 'प्रदेशबन्ध' कहते हैं, प्रदेशबन्ध के समय कार्माण वर्गणाओं का निमित्तानुरूप विभाजन 'प्रकृतिबन्ध' है; इस तरह विभाजित कार्माण वर्गणाओं की अवधि का निर्धारण 'स्थितिबन्ध' है; तथा इन वर्गणाओं की फलदान-शक्ति का निर्धारण 'अनुभागबन्ध' है।
 स्थैर्य = निश्चलता; स्थिरता।
 हेय = छोड़ने योग्य।

△ △ △

तीर्थकर : सित. अक्टू. ८७/१९१



सागर में बंदों की भांति हम सब एक दूसरे के साथ घुल मिलकर रहें। अगर बंदों को सागर से अलग कर दें तो वे सूख जाएगी, उनका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। लेकिन जब वे सागर में समा जाती हैं तो बड़े से बड़े जहाजों को भी तैरा कर किनारे तक ले जाती हैं। हम पर भी तो यही बात लागू होती है। आखिरकार हम भी तो मानव-समुद्र हैं।

**सागर में बंदों की भांति
हम सब घुल मिलकर रहें।**

पर अब ऐसा नहीं लगता

संपादकजी,

अणुव्रत पर जो लेख आपके पत्र में प्रकाशित हुआ था उस पर कोई अनु-चिन्तन हुआ या नहीं मुझे ज्ञात नहीं, पर इसका विरोध भी नहीं हुआ है। मैं तो तेरापंथ समाज को जागरूक समाज समझता था, पर अब ऐसा नहीं लगता।

किन्तु हाँ, इस बीच एक तेरापंथी भाई आये थे जो कि अपनी आपबीती सुना रहे थे कि किस प्रकार मृगीग्रस्त एक युवक साधु को रात के बारह बजे जबरन साधुवेश उतरवा कर उसके घर पहुँचा दिया गया जिसके पिता की मृत्यु ५-६ दिन पहले ही हुई थी। पति-वियोग में व्याकुल माँ ने जब अपने पुत्र की यह दशा देखी होगी तब उस पर क्या बीती होगी, यह अकल्पनीय है।

एक और घटना सुनायी जिसमें एक वयोवृद्ध हृदय-रोग-ग्रसित चलने-में-अशक्त रुग्ण साधु को स्थिरवास से पौप-साध की कड़कती सर्दी में अन्यत्र विहार कर जाने का आदेश दिया गया। स्थानीय लोगों एवं डॉक्टरों ने आचार्यश्री से अर्ज भी किया; किन्तु सुनवायी यह हुई कि उन्हें दो साधुओं के साथ साइकिल-रिक्शे में बैठा कर गन्तव्य स्थान को रवाना कर दिया गया; परिणामतः रास्ते में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

दोनों ही घटनाएँ यदि सत्य हैं तो हृदय-विदारक ही नहीं मानवता की घोर विरोधी भी है। इन दो घटनाओं को सुन कर मन में कुछ प्रश्न उभर पड़े—

क्या रुग्ण हो जाने से किसी को साधु-संघ से निकाल दिया जा सकता है? और वह भी रात बारह बजे? क्या इस विषय में उनके परिजनों से कोई बातचीत नहीं की जा सकती थी? उनका इलाज नहीं करवाया जा सकता था? जबकि अन्य कई साधुओं का इलाज अस्पताल में रखकर हुआ है। क्या यह इसलिए नहीं हुआ कि उनके घर वाले पैसों वाले नहीं हैं? निकालने का इल्जाम है कि मृगी के कारण वह जहाँ-तहाँ गिर जाता था जिसे कि श्रावक उठा कर लाते जिससे साधु-मर्यादा भंग होती थी। तो क्या उसकी देख-रेख के लिए एक-दो साधुओं को लगाया नहीं जा सकता था? जबकि जिन साधुओं के रिश्तेदार धनी हैं उनकी देख-रेख के लिए लगाया जाता है। यदि रुग्ण होने पर साधु-संघ से निकालने का ही नियम है तो सभी रुग्ण साधुओं को क्यों नहीं निकाल दिया जाता?

वृद्ध साधु अब कुछ ही दिनों के मेहमान हैं ज्ञात होने पर भी उन्हें विहार करने का आदेश देना कितना न्याय-परक है? जो हिलने-डुलने में भी अशक्त था उसे जबरन रिक्शे में डाल कर विहार करवाना परिणामतः राह में ही मृत्यु हो जाना—तब बताइये इस पाप का भागी कौन है? क्या सर्दी के अन्त की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती थी?

रामजेठमलानी के दस प्रश्न हर रोज पत्रों में निकलने के पश्चात् अब तो प्रश्न करना ही गुनाह-सा लगता है; किन्तु जो प्रश्न सहज ही मन में उभरते हैं उन्हें व्यक्त किये बिना भी नहीं रहा जा सकता। मानता हूँ संघ-व्यवस्था के लिए आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि है, पर यह नहीं कि आज्ञा देने से पहले वे अपना विवेक ही खो बैठें। रुग्ण, हृदय-रोगग्रस्त, हिलने-डुलने में असमर्थ साधु को भयंकर ठंड में रिक्शे में डाल कर ले जाया गया यह तो तेरापंथ की विज्ञप्ति नं. ८२७ (६ पन्ना) से भी मालूम होता है। इस कार्य को करने वाले साधुओं को पुरस्कृत किया गया यह भी विज्ञप्ति से ज्ञात होता है। क्या यह किसी व्यक्ति को फाँसी की सजा दे कर जो फाँसी के तख्ते पर लटकाये उसे पुरस्कृत करने जैसा नहीं है? कोई भी विवेकशील व्यक्ति इन प्रश्नों का जवाब चाहे बिना नहीं रह सकता।

संपादकजी, शायद आपने भी समाचार-पत्रों में देखा होगा कि आचार्यश्री एक लाख रुपयों का 'अणुव्रत पुरस्कार' सीमान्त गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खान को घोषित करने गये थे तो उन्होंने इसे ठुकरा दिया। दूसरे दिन स्पष्टीकरण आया कि आचार्यश्री नहीं अणुव्रत समिति के इन्टरनेशनल प्रेसिडेंट श्री शुभकरण दशानी ने देना चाहा था। भला आचार्यश्री को पैसे से क्या लेना-देना? किन्तु क्या बिना आचार्यश्री की अनुमोदना के ऐसा हो सकता है? करना, कराना, या अनुमोदन करना क्या तीनों एक ही नहीं है?

मुझे खुशी है कि खान साहब ने पुरस्कार को ठुकरा दिया। अहिंसक व अणुव्रती न होते हुए भी जिसने यह पुरस्कार लिया उन पर यह एक तमाचा तो है ही, इससे इस पुरस्कार की अन्तःसारहीनता भी प्रकट होती है।

संपादकजी, मैंने एक तेरापंथी साधु से पूछा—आप जो माइक पर बोलते हैं, बिजली की रोशनी एवं पंखा इस्तेमाल करते हैं क्या उससे अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीवों का घात नहीं होता? आपने तो साधु होते समय (षट्कायिक) जीवों को (९ कोटि से) अभयदान देने की शपथ ली थी; क्या वह इससे भंग नहीं होती? क्या आपको इसका पाप नहीं लगता? उन्होंने जवाब दिया—मुझे क्यों लगेगा? मैंने थोड़े ही लोगों से कहा है कि माइक लगाओ? लोग अपनी सुविधा के लिए लगाते हैं। जिस प्रकार आचार्यश्री ने 'अणुव्रत पुरस्कार' देने के आग्रह से बचना चाहा उसी प्रकार यह उनका भी तर्क था। मुझे वे साध्वियाँ स्मरण हो आयीं जो माइक पर बोलती नहीं, रात को बिजली के प्रकाश में आती नहीं, पंखे की तो बात ही क्या? भले ही हम उन्हें कट्टर कहें; किन्तु अपने प्रति वे ईमानदार हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि आज के युग में माइक आदि का इस्तेमाल नहीं किया जाए; मैं तो यह कहना चाहूँगा हूँ यदि इस कार्य में पाप है तो उसे स्वयं पर ही लेना चाहिये अन्य पर थोपना यह सरासर मिथ्यात्व है। — गणेश ललवानी

रत्नकरण्ड श्रावकाचार का एक सुगम संस्करण*

जैनाचार्य (समन्तभद्र ६८ ई. के लगभग) की यथार्थोन्मुख कृति 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में यद्यपि १५० श्लोक हैं, तदपि इसमें जैनाचार, विशेषतः श्रावकाचार, को जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह युग-संदर्भों की मीमांसा तो करता ही है, आगामी कल के लिए भी नये आधार खड़े करता है। हम इसे श्रावकीय आचार का 'मैनीफेस्टो' कह सकते हैं।

यों तो 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' बहुर्चाचित ग्रन्थ रहा है; किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त में इसका महत्त्व-बोध अधिक तीव्रता से हुआ। जैन पत्रकारिता के पितृपुरुष श्रेष्ठ हिराचंद नेमचंद डोशी (१८५६-१९३७) ने जून १८९९ में र.क.आ. का मराठी-अनुवाद प्रकाशित किया। लगता है उनके समय में श्रावक की सामाजिक और धार्मिक भूमिका पर विचार होना शुरू हो गया था। इस संदर्भ में "जैन बोधक" (मराठी) के अगस्त १८९० के अंक में 'श्रावक कोणाला म्हणावे?' (श्रावक किसे कहा जाए) लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें स्व. श्री जोशी ने श्रावक के 'नाममात्र श्रावक' और 'वास्तविक श्रावक' ऐसे दो भेद किये थे। कहा जा सकता है कि उनका उक्त वर्गीकरण आज भी काफी प्रासंगिक और सार्थक है।

आज से पूरी एक सदी पहले जब हमने यह महसूस किया था कि श्रावक की सामाजिक भूमिका का पुनर्मूल्यांकन और पुनर्निर्धारण हो, तब क्या आज हम इतने मुर्दा हो गये हैं कि उस दबाव को पुनः महसूस न कर सकें ?

१९३६ ई. में पं. गौरीलाल पद्माकर के निरुक्त और हिन्दी-अनुवाद के साथ 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' पुनः प्रकाशित हुआ। इसके साथ प्रभाचन्द्रिय टीका भी है। १९५५ में 'मेरी भावना' के रचयिता पं. जुगलकिशोरजी मुस्तार का 'समीचीन धर्मशास्त्र' (र.क.श्रा.) प्रकाश में आया। यह एक क्रान्तिकारी किताब है। इसकी ११८ पृष्ठीय 'प्रस्तावना' में स्व. मुस्तारजी ने ग्रन्थ की महत्ता आदि पर तो प्रकाश डाला ही है, जैन श्रावक के स्वरूप की भी विवेचना की है। प्राचीन, अर्वाचीन, और समीचीन (र.क.श्रा. श्लोक २ में प्रयुक्त) शब्दों का विश्लेषण भी उन्होंने किया है और माना है कि चूँकि 'समीचीन' न कभी नया होता है, न पुराना अतः धर्म के लिए यही विशेषण सार्थक हो सकता है। इसके बाद बीसवीं सदी के आधे भाग में कभी ब्र. भूरामलजी (आचार्य श्रीज्ञानसागरजी) का र.क.श्रा. संबन्धी अनुशीलन

* मानव धर्म; ब्र. भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागर); श्री दिगम्बर जैन पंचायत सभा, ललितपुर (उत्तरप्रदेश); पृ. ६८; मूल्य—छह रुपये; डिमाई/८; द्वितीय संस्करण।

‘मानव धर्म’ शीर्षक से सामने आया । आचार्य श्रीज्ञानसागरजी का जन्म १८९१ ई. में हुआ । वे संस्कृत के रससिद्ध साहित्य-मनीषी थे । पूरी आधी सदी तक उन्होंने संस्कृत वाङ्मय की अविस्मरणीय सेवा की । उनके ‘वीरोदय’, ‘जयोदय’, और ‘दयोदय’ संस्कृत साहित्य के उल्लेखनीय महाकाव्य हैं । वे न सिर्फ जैन साहित्य के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे वरन् उन्होंने संपूर्ण भारतीय वाङ्मय को अपनी अप्रतिम प्रतिभा से उपकृत किया है ।

आलोच्य कृति उनकी बहुमूल्य साधना का एक ऐसा अमृतफल है, जो जन-जन तक पहुँच कर उसकी सामान्य जिन्दगी को प्रभावित/प्रेरित कर सकता है, उसके पूरे जीवन की धारा पलट सकता है । ‘मानव धर्म’ सिर्फ चंद मुट्ठी-भर लोगों के लिए लिखी गयी किताब नहीं है, बल्कि कॉमन मैन (आम आदमी) के लिए है । इसमें विद्वान् लेखक ने सामान्य जन के जीवन-द्वार पर अचूक दस्तक दी है और उसके आँगन पर नीतिशास्त्र-की-नरम धूप को उतारने का पराक्रम किया है । ‘रत्न-करण्ड श्रावकाचार’ के पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद (टीकाएँ) आदि तो मिलते हैं; किन्तु लोक-सुलभ भाषा-शैली में न तो कोई अनुवाद ही मिलता है और न ही कोई टीका । वस्तुतः ‘मानव धर्म’ न तो अनुवाद है, न टीका; बल्कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकों पर छोटी-छोटी आत्मीय बातचीतों का सुबोध संकलन है । इसकी शैली इतनी अपूर्व, अद्भुत, सुगम और मर्मस्पर्शी है यदि इस क्षण, जब कि हमारा आचार खतरों के बारूद-ढेर पर खड़ा है हम इसकी लाखों-लाख प्रतियाँ प्रकाशित नहीं करते हैं तो आने वाली पीढ़ियों के प्रति गहन अपराध करते हैं और अनैतिकताओं से जूझने के अपने उत्तरदायित्व से चूकते हैं । ‘मानव धर्म’ र.क.श्रा. का लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ उल्था नहीं है, बल्कि बिन्दु-दर-बिन्दु अमृत-घट है, जिसे यदि आज हम चूकते हैं, तो सदा के लिए चूकते हैं । पता नहीं इतनी अच्छी किताब को इतनी अशुद्धियों के साथ इतने रद्दी ढंग से क्यों छपा गया ? क्या हम इस सूरज को एक नगण्य/मामूली चिराम बनाये रखना चाहेंगे या एक व्यापक पटल पर पूरे विश्व के सामने प्रस्तुत करना चाहेंगे ?

‘मानव धर्म’ की सबसे बड़ी विशेषता है तीर-से-उतरते छोटे-छोटे सटीक वाक्य और मन को निःसंकोच छूने वाले छोटे-छोटे उदाहरण । हमारे खयाल से यदि आलोच्य किताब के दृष्टान्तों, उदाहरणों और सूक्तों को ही दो-तीन लघु संकलनों में प्रकाशित किया जाए तो यह एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी क्रम हो सकता है । हम यहाँ इसके कुछ अंशों को उद्धृत करना चाहेंगे । पृ. ६ पर देखिये — ‘काललब्धि-रूप तलैया पर पहुँच कर सूक्ति माता द्वारा मालूम करने पर एकाएक इसके अंतरंग अमर अविनाशी हूँ । इस शरीर से बिल्कुल भिन्न हूँ ।’ पृ. ७ पर देखिये — ‘कुछ अपनी होशियारी से भी काम लेना चाहिये । देखादेखी करना, शास्त्र नाम सुन कर ही उसे मान बैठना, एवं उपदेशक मात्र पर विश्वास कर लेना — ये तीनों ठीक

नहीं। हम लोग जब दो पैसे की हंडिया भी लेते हैं तब सोचते हैं फिर भला जिन पर हमारे उत्तर लोक का उत्तरदायित्व है उनके बारे में हम बिल्कुल बेखबर बने रहें ऐसा ठीक नहीं।' पृ. १५ पर किसी लोककवि की इन पंक्तियों को देखिये— 'पनही पशु की होत है, नर का कुछ नहीं होय।/नर यदि नर करणी करे तब नारायण होय।—पशु का हर अंग प्रायः मनुष्य के काम में आया करता है, उसके चमड़े से पगरखी बनती है, जो काँटों से बचाती है; परन्तु यह मनुष्य शरीर ऐसा निकम्मा है, जो किसी काम में नहीं आता, मरने पर जला दिया जाता है, जिसके लिए कफन और काठ भी लगाने पड़ते हैं।' इस तरह 'मानव धर्म' में हजारों-हजार सूक्ति-मणियाँ बिखरी पड़ी हैं, आवश्यकता है इनके उपयुक्त प्रकाशन और सम्प्रेषण की।

कुल मिला कर यह एक ऐसी किताब है, जिसे 'अखण्ड भक्तामर पाठ' या 'सिद्धचक्र-मण्डल विधान' या 'इन्द्रध्वज मण्डल विधान' से भी अधिक गहन निष्ठा से पढ़ा जाना चाहिये (घोखना नहीं)। पता नहीं इसे पढ़ने के बाद आप कोई 'विधान' करना चाहेंगे या स्वयं का 'भाग्य-विधान'? आशा करनी चाहिये कि जल्दी ही इसका एक सर्वजनसुलभ, अत्यन्त निर्दोष, और सुन्दर संस्करण जैन-मात्र के लिए उपलब्ध किया जाएगा।

मराठी पत्रकारिता के पितामह*

महाराष्ट्र में एक ही वर्ष में तीन ऐसी विभूतियों ने जन्म लिया, जिन्हें हम १८५७ ई. के स्वतन्त्रता-संग्राम के उषःकाल/तड़के के रूप में ले सकते हैं। सूरज के आने से पहले जिस तरह उसकी रोशनी का आभास होने लगता है कि अब वह ऊगा, अब वह आया, ठीक इसी तरह आये भारतीय क्षितिज पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०); गोपाळ गणेश आगरकर (१८५६-१८९५); और हिराचंद नेमचंद डोशी (१८५६-१९३७)। तीनों का जन्म १८५६ ई. में हुआ। तीनों स्वतन्त्रता-संग्राम की गोद में पले। तीनों को भारतीय स्वातन्त्र्य का इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

शेठ हिराचंद नेमचंद डोशी ८१ साल जिये; किन्तु उन्होंने इन आठ दशकों में जो काम किये उन्हें सदियों तक प्रणाम किया जाएगा। वे जैन पत्रकारिता के

* शेठ हिराचंद नेमचंद डोशी; आद्य जैन पत्रकार आणि सुधारक मराठी; डॉ. विलास संगवे; अहिंसा प्रसारक ट्रस्ट, ८२ बजाज भवन, नरीमन पॉइंट, बम्बई-४०० ०२१; पृष्ठ ७६; मूल्य—चार रुपये; डिमाई/८-१९८७.

पितृपुरुष थे— उन्होंने जो कुछ एक सदी पहले कभी शुरू किया था, वह सब आज भी आधा-अधूरा है; आये, उसे पूरा करें।

सितम्बर १८८५ में सोलापुर से उन्होंने 'जैन बोधक' शीर्षक से एक मासिक पुस्तक का प्रकाशन शुरू किया। वे क्रान्ति-पुरुष थे— अत्यन्त निर्भीक, निष्पक्ष, मेधावी। उन्होंने जो/जिस तरह लिखा, वह/वैसा/उस तरह लिखना अब संभव नहीं है। एक समय था जब पूरे देश के जैनों में 'जैन बोधक' की दुन्दुभि बजती थी और वह उनका मार्गदर्शन करता था; किन्तु आज उसके हाथ में लाठी आ गयी है, उसकी दाढ़ें हिलने लगी हैं, और कमर झुक गयी है। हमें आशा करनी चाहिये कि उसमें फिर से प्राण-प्रतिष्ठा होगी और वह एक बार फिर सिंह-गर्जना करेगा।

हम हिराचंद नेमचंद डोशी को सिर्फ मराठी-पत्रकारिता का पितृपुरुष कह कर उनके कद को छोटा नहीं करना चाहेंगे; बल्कि कहेंगे कि उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में जिन उज्ज्वल परम्पराओं को स्थापित किया, हमें जी-जान से उन्हें सीचने और हरा-भरा रखने के प्रयत्न करने चाहिये।

डॉ. संगवे ने उनके अमर व्यक्तित्व और कृतित्व को ठीक वक्त पर प्रस्तुत किया है— ऐसे वक्त पर जबकि हमें ऐसे महामनीषियों से प्रेरणा और उत्साह-वर्द्धन की जरूरत है। उन्होंने कम-से-कम पृष्ठों की गागर में, उनके सागर-व्यक्तित्व को समेटने का स्तुत्य प्रयास किया है।

समीक्ष्य कृति के नौ हिस्से हैं। विद्वान् लेखक ने उन्हें 'परिवर्तनों की गंगोत्री' कहा है। पाँचवें भाग में लेखक ने उनके अंतरंग व्यक्तित्व की सफल झलक दी है। वे सुलझे हुए और समर्पित समाज-सुधारक थे। उन्होंने जर्जर रूढ़ियों और अंधी परम्पराओं को कभी स्वीकार नहीं किया। वस्तु-स्वरूप पर उनका ध्यान प्रतिपल रहा। श्रावकीय कर्तव्य के निरूपण में उन्होंने श्रावक-की-अस्मिता पर अच्छा प्रकाश डाला है। क्या कोई संस्था उनके चुने हुए लेखों और अप्रलेखों को हिन्दी में प्रकाशित करने का पुण्यार्जन नहीं करेगी? हम समझते हैं यह उनके उस महान् व्यक्तित्व के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी। 'अहिंसा प्रसारक ट्रस्ट' की मैनेजिंग ट्रस्टी श्रीमती शरयू दफ्तरी ने निराशा के इस निबिड़ अंधकार में उन-जैसे व्यक्ति को सामने ला कर जो उत्तम कार्य किया है उसके प्रति हम सब एक गहरी कृतज्ञता का अनुभव करते हैं।

—ने. चं. जैन

(सूक्ति-शक्तियाँ : पृष्ठ ८० का शेष)

संज्ञा भी दे सकते हैं। इस सदी में श्रमणों से कहा गया कि चाहे जितने संघर्ष और संकट झेलने पड़ें, किन्तु संयम की रेशे-भर क्षति नहीं होनी चाहिये। इस तरह आचार्य चौथमलजी ने साधुमार्गी समाज के आन्तरिक विकास पर ध्यान दिया और उसे विशुद्ध किया।

वे शिथिलता और प्रमाद के लिए बज्र की भाँति कठोर बने रहे। उनका अनुशासन निर्मम था; किन्तु अक्रूरण नहीं था; वे सख्त थे, किन्तु वत्मलता से भरे-पूरे थे। वे शिष्यों की संख्या कम हो, इससे तो संतुष्ट हो सके; किन्तु शिथिलाचार का रास्ता खुले इसे उन्होंने स्वप्न में भी स्वीकार नहीं किया।

आचार्य चौथमलजी के देहावसान के बाद साधुमार्गी समाज की श्रमणाचार्य-परम्परा का द्वितीय उत्थान शुरू होता है।

आचार्य श्रीलालजी का आना समाज के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ। उनका जन्म १८५९ ई. में उस समय हुआ जब कि देश में स्वतन्त्रता-संग्राम की गर्मी आकाश में थी। उन्होंने अध्यात्म-साधना पर तो बल दिया ही, जीवदया की धारणा को भी नये सिरे से परिभाषित किया। उन्होंने जीवदया (आज भी यह विवादास्पद है; किन्तु साधुमार्ग का दृष्टिकोण इस सिलसिले में बहुत स्पष्ट है और जैनगम से पूरी संगति रखता है) के कलुषित, एकान्तवादी, या हठाग्रही रूप को स्वीकार नहीं किया, बल्कि सभी स्थितियों में अहिंसा को आधारभूत बनाया और साफ-साफ शब्दों में कहा कि जीवदया हर स्थिति में जीवदया है; वह किसी स्थिति में हो और किसी में न हो—यह असंभव है। अहिंसा हमारा परम धर्म है, अतः हम उसे बाला-ए-ताक़ रख कर जीवदया का निरूपण नहीं कर सकते। उन्होंने कहा कि जीवदया का अर्थ परिपूर्ण/परिपक्व अहिंसा के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता। उन्होंने एक सम्प्रदाय-मुक्त मानसिकता के विकास में बहुत बड़ा योगदान किया। वे निर्मल मन के अप्रमत्त साधु थे, जिन्होंने जैनधर्म के आगम-प्रवर्तित रूप को कठिनतम परिस्थितियों में पूरे निरलस भाव से जी कर जनता-जनार्दन के सम्मुख रखा। १९२७ ई. में उनका निधन हो गया।

उनके बाद हुआ एक अभिनव सूर्योदय। १८७५ ई. में जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी का जन्म हुआ। उन्नीसवीं सदी का अन्तिम चतुर्थांश शुरू होने को था। इस कालखण्ड में जो आर्थिक और राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक उत्क्रान्तियाँ हुईं उनसे उन्होंने स्वयं को कभी बचाया नहीं बल्कि पूरे जैन समाज को उसका हिस्सेदार बनाया। उन्होंने राष्ट्र को धर्म से अलग नहीं रखा बल्कि व्यक्ति-

धर्म से ले कर राष्ट्र/लोकधर्म तक की तमाम सीढ़ियों पर उसे आरूढ़ किया । उनमें अदम्य साहस, अपरिसीम मनोबल, उदार दृष्टि, राष्ट्रीय सोच, स्वदेशी की उत्कट भावना, अखण्ड मानवीयता, और शिथिलाचार के खिलाफ एक बगावत कूट-कूट कर भरी हुई थी । वे उदार थे और पूरी तत्परता से एक आगम-सम्मत श्रमणाचार को जी रहे थे; किन्तु उन्होंने एक क्षण को भी ऐसा कुछ नहीं किया जो जैनधर्म और जैनदर्शन की मौलिकता को आहत करता हो । उन्होंने संपूर्ण जैनागम का सिन्धु-मन्थन किया और अपनी कठोर श्रमण-चर्या में-से उसे प्रकट किया ।

उनकी आस्था कथनी और करनी की एकता में थी । उन्होंने पूरे जैन समाज की निर्मल धर्म-चेतना और निष्कलुष आचार का जीवन्त प्रतिनिधित्व किया । उनके जीवन में जो घटनाएँ घटित हुईं उनसे सिद्ध होता है कि वे न सिर्फ जैन समाज के अपितु अखिल भारत और निखिल विश्व के थे । उन्होंने जो किया, प्राणिमात्र के लिए किया । जैनधर्म/दर्शन को उनकी समग्र जीवन्तता में पेश करना उनके लिए ही संभव था । १८७५ ई. में थांदला (मध्यप्रदेश) में उनका जन्म हुआ और १८९० ई. में दीक्षा । धार में उनका प्रथम चातुर्मास हुआ । समाज-सुधार की ओर उनका ध्यान शुरू से था । थांदला एक भील-बहुल कस्बा है । वहाँ भोई (मछुहारे) भी रहते हैं । उन्होंने सदाचार का पहला दीया अपने ही परांडे पर रखा । उन्होंने भोइयों में व्यसन-मुक्ति के संस्कार को जगाया ।

यह घटना आज से लगभग अस्सी साल पहले की है । इससे पहले वे वाजना के भीलों में व्यसन-मुक्ति का बिगुल बजा चुके थे ।

१९०८ ई. में समाज-सुधार का जो १६ कलमी घोषणा-पत्र थांदला के जैनों ने रखा वह इतने महत्त्व का है कि यदि आज भी उसकी कलमों को अक्षरशः प्रचारित किया जाए तो एक विशिष्ट सदाचार बन सकता है । ध्यान रहे, जवाहरलालजी की सुधारवादी चेतना आज भी सार्थक और प्रासंगिक है ।

१९१९ ई. में उन्हें युवाचार्य बनाया गया । इससे पूर्व १९१५ ई. में लोकमान्य वाल गंगाधर तिलक से उनकी भेंट हुई । लोकमान्य ने उस समय जैनधर्म पर अपने जो विचार रखे, वे अविस्मरणीय हैं । प्रो. राममूर्ति-जैसा बलिष्ठ पुरुष उनसे मिला, जिसने स्पष्ट कहा कि शाकाहार में-से जो बल-वैभव मिलता है वह मांसाहार में-से कभी मिल ही नहीं सकता ।

१९२० ई. में उन्होंने 'गुरुकुल योजना' का प्रवर्तन किया ।

इसी वर्ष उन्होंने असहयोग आन्दोलन के समान्तर अपनी सीमाओं में जैन समाज में 'स्वदेशी' आन्दोलन का सूत्रपात किया। स्वयं तो उन्होंने खादी पहिनना शुरू किया ही साथ ही अपने तमाम साधुवर्ग को खादी के उपयोग के लिए प्रेरित किया। यही वजह है कि आज भी उनका साधु-समुदाय खादी का बड़े गौरव के साथ इस्तेमाल करता है। जैनों में यही एकमात्र ऐसा साधु-समुदाय है जो खादी का उपयोग कर रहा है और विज्ञान के कई अभिशापपूर्ण उपकरणों/आविष्करणों से बचा हुआ है।

१९२३ ई. में घाटकोपर में उन्होंने 'जीवदया खाते' की स्थापना की। इसी वर्ष नासिक में 'अछूतोद्धार' को ले कर उन्होंने जो कुछ कहा है उसे इस विशेषांक में कम-से-कम तीन बार तो पढ़ा ही जा सकता है। शोषण-मुक्त समाज की स्थापना के लिए जहाँ एक ओर उन्होंने धन की सीमाओं और अकिंचनताओं को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर उन्होंने सूदखोरी का भी बहिष्कार किया।

१९२७ ई. में उन्होंने भीनासर में विधवाओं की दुर्दशा पर ध्यान दिया और नारी-मुक्ति/जागृति के क्षेत्र में जो भी वे कर सकते थे, किया। उन्होंने जो काम किया वह इतना बड़ा और विस्तृत था कि अन्ततः उन्हें कहना पड़ा कि अनगार और गृहस्थ के अलावा भी समाज में एक ऐसा तीसरा वर्ग होना चाहिये जो समाज को जगाये, उसकी धार्मिक तथा सामा-जिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे, और एक आवश्यक सामयिक भूमिका का निर्वाह करे। इसी वर्ष उन्होंने श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था की स्थापना की और एक हुन्नरशाला खुलवायी।

इसी वर्ष उनकी महामना मदनमोहन मालवीयजी से भेंट हुई। हिन्दी के महान् लेखक रामनरेश त्रिपाठी तब 'सरस्वती' के संपादक और 'पथिक' तथा एकान्तवासी योगी जैसी राष्ट्रीय कृतियों के रचयिता से भी उनकी भेंट हुई। उन्होंने उनके बारे में लिखा भी।

१९३१ ई. में देशनोक राजस्थान में एक सात कलमी सुधार घोषणा की। १९३२-३३ में अजमेर में जैन साधु-सम्मेलन हुआ। वर्द्धमान संघ बना। श्रावक तथा श्रमण सामाचारियाँ बनीं। ग्यारह सूत्री घोषणा हुई। १९३३ ई. में एक अपसरण 'डिफेक्शन' भी हुआ। इसी समय उनकी 'सद्धर्म-मंडन' जैसी अपूर्व कृति प्रकाश में आयी। १९३६ ई. में राजकोट में उनकी महात्मा गाँधी से भेंट हुई। इसी वर्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल भी उनसे मिले। डॉ. पट्टाभि-

सीतारमैया और ठक्कर बापा जैसे मनीषी भी उनसे मिले । यह १९३७ ई. की घटना है ।

१९४२ ई. में उन्हें लकवा हुआ ।

१८ जून १९४२ में उनका जो क्षमा-पत्र प्रकाशित हुआ वह उनकी आन्तरिक निर्मलता, और शिथिलाचार के खिलाफ जीवन-भर जूझी गयी लड़ाई का जीवन्त प्रतीक है : १० जुलाई १९४३ को यह सूरज डूब गया — किन्तु क्या हम मानें कि वह डूब गया ? क्या सूरज कभी डूबता है ?

उनका जो अक्षर-व्यक्तित्व आज हमारे बीच है, मानिये, उसमें इतनी शक्ति और ऊर्जा है कि वह यावच्चन्द्रदिवकरौ हमारी राहें रोशन रख सके ।

१८९० ई. में आचार्य गणेशीलालजी का जन्म हुआ । आचार्य गणेशीलालजी नवीनता और प्राचीनता के बीच एक रचनात्मक कड़ी थे । उन्होंने स्पष्ट कहा — मुझे समूह नहीं, संयम चाहिये; भीड़ नहीं, भावना और भव्यता चाहिये । वे एक शान्त/मौन क्रान्ति के उद्घोषक थे । संत विनोबा से उनकी भेंट हुई । जिस क्रान्ति का प्रवर्तन विनोबाजी ने किया वे उससे प्रत्यक्ष-परोक्ष किसी-न-किसी तरह जुड़े रहे । १९५२ ई. में जिन दिनों संत विनोबा भू-दान आन्दोलन का प्रवर्तन कर रहे थे, आचार्य गणेशीलालजी का देहान्त हो गया ।

वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी का जन्म असहयोग आन्दोलन (१९२० ई.) के जन्म की छाया में हुआ । उनके तीन अप्रतिम अवदान हैं — संस्कृति के क्षेत्र में समता-दर्शन (पृ. १३५-१४३) व्यक्ति-के-क्षेत्र में समीक्षण-ध्यान (पृ. १२५-१२३) और समाज-के-क्षेत्र में धर्मपाल अभियान (पृ. ५३-७४) हम उनके अपूर्व व्यक्तित्व की जीवन्त अनुभूति इस त्रिकोण के बीच ही कर सकते हैं । हम जानते हैं : वे शिथिलाचार के खिलाफ हैं, निरभिमान हैं, प्रतिपल जागृत हैं — अपने साधुसंघ और श्रमणोपासक समाज को अप्रमत्त बनाये रखने तथा जैनाचार की मौलिकताओं की रक्षा तथा उनके अनुपालन में ।

प्रस्तुत सूक्तियों (पृ. १२२-१२४) में से हम उनके विचारों को न केवल जान सकते हैं; बल्कि उन्हें जोड़-संजो कर उनकी/साधुमार्गी समाज की एक प्रेरक/मार्गदर्शक तस्वीर भी बना सकते हैं ।

△ △

अनूठा

‘तीर्थकर’ का प्रत्येक अंक ग्राह्य होता है। नवीन-नवीन सामग्री से परिपूर्ण बुद्धि-जीवियों को एक मुक्त बौद्धिक खुराक देता है। आचार्य लघु विशेषांक अपने आप में एक अनूठा अंक है। तथाकथित नामधारी पद पर एक करारा व्यंग्य कसा है। इसी तरह नित-नयी विधाओं से पिपासा को शान्त करेंगे।

—भगवती मुनि निर्मल, बाशी

सुसंकलित

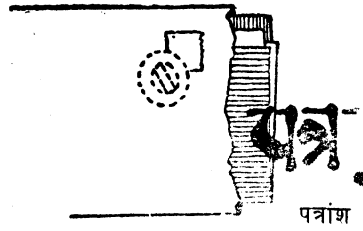
‘तीर्थकर’ के सुसंकलित आचार्य लघु विशेषांक (जुलाई-अगस्त के संयुक्तांक) में ‘प्रलयकर’ से ‘सरल’ तक के सभी लेख फिर-फिर पढ़ने और अपनी चादर में भी झाँकने का आमन्त्रण देते हैं। शब्द-कोश बहुत उपयोगी है। आचार्य विद्यानन्दजी से हुई बातचीत को पढ़ते समय पाठक स्वयं बात करता अनुभव करता है।

—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

बेजोड़

जैन पत्रों में ‘तीर्थकर’ ने जो अपना एकाकी स्थान बताया है वह सर्वविदित है। विशेषकर विशेषांक जो अब तक निकले हैं, बेजोड़ हैं। लघु विशेषांक की परिपाटी की सूझ-बूझ अपने में एक अनोखी है। आचार्य विशेषांक को एक ही बार में पढ़ गया, लेकिन पुनः पढ़ने के बाद ही संतोष होगा। ठोक-पीट कर बनाये हुए आदर्शच्युत आचार्यों के लिए पठनीय एवं चिन्तनीय है। भक्त तो जुट ही जाते हैं, पर आत्मकल्याण का उपदेश तो कोसों पीछे छूट जाता है। भविष्य में भी इसी तरह के विशेषांक समय-समय प्राप्त होते रहेंगे।

—के. च. सेठिया, मद्रास



बढ़िया

‘तीर्थकर’ के आचार्य-अंक में आपका विद्यानन्दजी से वार्तालाप बहुत बढ़िया लगा।

—आत्माराम सरावगी, कलकत्ता

अच्छा स्तर

आचार्य लघु विशेषांक अच्छा लगा, खासकर आप और आचार्य विद्यानन्दजी की बातचीत। ‘तीर्थकर’ का अपना बहुत अच्छा स्टेण्डर्ड (स्तर) है; किन्तु इसमें श्री सुरेश ‘सरल’ का लेख ‘कफ़न के नीचे ढँके लोग’ पढ़ कर खुशी नहीं हुई। मेरे अपने विचार से कोई भी जैन मुनि चौबीस घण्टे में आचार्य नहीं बन जाता। उसके पीछे बड़ी-बड़ी महत्त्व की बातें रहती हैं।

—डॉ. डी. सी. दानपति, जबलपुर

लघु कहाँ रहा ?

६६ पृष्ठों में आपने इतनी अधिक सामग्री दे दी है कि यह ‘लघु’ नहीं रहा। कलेवर या पृष्ठों को देखकर आप लघु कहते हों, तो पृथक् बात है। फिर बीच-बीच में रंगीन-चित्र/रंगीन पृष्ठ; जैन इतिहास में प्रथम रंगीन पत्रिका का संपादन/प्रकाशन आपके नाम के साथ टीप किया जाएगा।

प्रस्तुत अंक में आचार्य विद्यासागरजी की कविता ‘कोश के श्रमण’ बहुत गूढ़ और प्रभावनाकारी है, ऐसे जीवन साहित्यकार का मैं अनुग्राही हूँ। मेरा सौभाग्य कहें कि

उक्त पंक्तियाँ एक बार मैं उनके श्रीमुख से सुनने में सफल हो गया हूँ।

आचार्य विद्यानन्दजी से आपकी बातचीत पढ़ गया हूँ। आपके मौलिक और सर्वहितकारी प्रश्नों के सुन्दर समीचीन उत्तर प्रदान कर आचार्यश्री ने समाज/श्रावक के पथ पर विचार बिछा दिये हैं।

मैं इस विशेषांक की सार्थकता की कामना करता हूँ; देश के नए-पुराने आचार्यगण इसमें गुम्फित मीन संकेतों के प्रहार अपने ऊपर झेलेंगे और अपनी कायिक-आत्मिक निर्मलताओं में बढ़ोतरी करेंगे, विश्वास है। आपने जिस साहस का परिचय दिया है, वह संपूर्ण देश के मनीषी संपादकों के लिए श्लाघनीय है।

—सुरेश सरल, जबलपुर

A thought-provoking Issue

It is really good of you to publish this informative and thought-provoking issue आचार्य लघुविशेषांक of great topical importance and social significance as it lays down not only the essentials, history, status and functions of Acharyahood but also makes the readers to visualise the present disturbing situation in a proper historical perspective. In this respect your superb editorial entitled अर्थसाधु will serve as a directive for the Shravakas to understand properly the institutions of the caḥ sadhus in general and of the acharyas in particular. Your interview with Acharya munishri Vidyanandji on the eve of his assuming the position of Acharya is of a high historical value and will definitely serve as a source material clarifies his viewpoint, qualifications and experience for

the post of Acharya and also his plans for future action. The Jain Community is, therefore, extremely indebted of you for taking and publishing in time this interview.

—Dr. Vilas A. Sangave, Kolhapur

अणु में विराट

आचार्य लघु विशेषांक में वाचन में विराट् देखने को मिला। धर्म का 'दिक्सूचक' हमारे हाथ से छिटकता जा रहा है। जैसे हम ही हाथ में छुरा लेकर अहिंसा और अपरिग्रह का गला घोट रहे हों; समय की इस नब्ज पर आपने हाथ रखा है। आचार्य विद्यानन्दजी ने अपनी बातचीत में स्वानुभूति को शब्द देकर आचार्य और समाज की सापेक्षता पर स्वर्ण कलश धर दिये; अणु में विराट् को खोल दिया। आचार्य विद्यासागरजी ने अपनी कविता में एक-एक पैरे को पचाया है। दिनकर सोनवलकर की सशक्त सात सीढ़ियाँ, जिन पर चढ़कर आचार्य आचार्यत्व को जाता है, नीचे पृष्ठों पर आकाश बन गयीं। गणेश ललवानी के 'धर्म क्षत्रे, कर्म क्षत्रे' में किये गये ऑपरेशन से सड़ा गला अंग अथ्यात्म से बाहर फेंकने में व खत छत सविबत होंगे, जो अब भी अंतिम नहीं हैं। सुरेश सरल जो लोक के अभियन्ता ही नहीं, जैन संस्कृति के शिल्पकार भी हैं। 'प्रलयकर' की भाषा, भाव और शब्द-रचना न केवल 'आचार्य' को विश्लेषित करने में समर्थ हुई, बल्कि आगाह भी बनी उनकी कुछ जवाबदारियाँ बता कर। सभी रचनाओं के मणियों को पिरोया है संपादकजी ने सहज बोधगम्य पत्रकारिता के धाग में और भेंट की है आचार्य लघु विशेषांक की मणिमाला।

—पं. निहालचन्द्र जैन, बीना

(शेष पृष्ठ २०७ पर)

—२२वें ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा नई दिल्ली में गत २५ अगस्त, ८७ को की गयी। जिसके अनुसार वर्ष १९८६ के लिए यह पुरस्कार शीर्षस्थ उड़िया साहित्यकार डॉ. सच्चिदानन्द राउतराय को उनके भारतीय साहित्य में अप्रतिम योगदान के लिए प्रदान किया गया है। प्रबल मानवतावाद से अनुप्राणित उनकी कविता पतनोन्मुखी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध मानव-अधिकारों का खुला घोषणा-पत्र है। सच्ची राउतराय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने वाले दूसरे उड़िया साहित्यकार हैं।

ज्ञातव्य है, ज्ञानपीठ पुरस्कार भारतीय साहित्य में अन्यतम मान्यता प्राप्त कर चुका है। डेढ़ लाख की राशि का यह साहित्यिक पुरस्कार सर्वोत्कृष्ट सृजनात्मक योगदान के लिए प्रति वर्ष प्रदान किया जाता है।

—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने अपने रजत जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में 'तीर्थकर' के संपादक डॉ. नेमीचन्द जैन को 'समता पुरस्कार' से सम्मानित करने का निश्चय किया है। संघ द्वारा इस पुरस्कार हेतु बनाई गयी चयन-समिति ने डॉ. जैन की निर्भीक एवं स्वस्थ पत्रकारिता, उनकी वाग्मिता और अहिंसा तथा शाकाहार के लिए उनके समर्पण को समग्र भारत के लिए आदर्श मानते हुए इस पुरस्कार हेतु उनका सर्वसम्मति से चयन किया है।

यह पुरस्कार संघ के २५ वें वार्षिक अधिवेशन पर इन्दौर में २५ सितम्बर, ८७ को डॉ. जैन को प्रदान किया जाएगा। इस पुरस्कार में रु. २१००० की राशि भेंट की जाती है। डॉ. जैन समता पुरस्कार प्राप्त करने वाले प्रथम चिन्तक हैं।

—९ वाँ जैन साहित्य समारोह इस वर्ष नवम्बर, ८७ के तीसरे सप्ताह में सौराष्ट्र

(गुजरात) के वडालिया सिंहण (जामनगर के पास) में आयोजित किया जा रहा है। समारोह समिति के संयोजक डॉ. रमणलाल चौ. शाह हैं। अपेक्षित जानकारी श्री महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०० ०२६ से प्राप्त की जा सकती है।

—श्री दिगम्बर जैन अतिथय क्षेत्र खजुराहो के प्रांगण में लगभग पाँच लाख रूपयों की लागत से निर्मित भव्य एवं आकर्षक 'साहू शान्तिप्रसाद जैन कला संग्रहालय' का विधिवत् उद्घाटन गत २३ अगस्त, ८७ को केन्द्रीय रेल राज्यमंत्री श्री माधवराव सिंधिया के द्वारा संपन्न हुआ। उद्घाटन-समारोह की अध्यक्षता मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा ने की। भारतवर्षीय तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू अशोककुमारजी ने इस अवसर पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि आज इस संग्रहालय भवन के रूप में मेरे पिता श्री साहू शान्तिप्रसादजी का एक सपना साकार हुआ है।

—अखिल भारतीय जैन पत्रकार सम्मेलन में १० अन्य पत्रकारों के साथ 'तीर्थकर' के संपादक डॉ. नेमीचन्द जैन को पुरस्कृत किया है। सभी ग्यारह पुरस्कार ५-५ हजार रूपयों के हैं।

सम्मेलन की ओर से एक समारोह में दिल्ली प्रदेश के वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ के महासचिव श्री रामानन्द जैन को ११ हजार रूपयों का डॉ. दौलतसिंह कोठारी सद्भावना पुरस्कार देने की घोषणा २१ सितम्बर को की गयी।

समाचार - परिशिष्ट

तीर्थकर : सित. अक्टू. ८७/२०५

—अ. भा. दिगम्बर जैन परिषद् का आगामी वार्षिक अधिवेशन मध्यप्रदेश के औद्योगिक नगर भिलाई में २८-२९ नवम्बर, ८७ को आयोजित किया जा रहा है, जिसमें वर्तमान सामाजिक समस्याओं पर चर्चा के साथ साहित्य-गोष्ठी भी रखी गयी है।

—जन क्लब परिसंघ का छठवाँ वार्षिक अधिवेशन २६-२७ सितम्बर, ८७ को सतना में आयोजित किया गया। इस अवसर पर शाकाहार-प्रदर्शनी भी लगायी गयी।

—मूक प्राणियों के प्रति क्रूर व्यवहार पर ध्यान आकर्षित करने के लिए विश्व प्राणी संरक्षण दिवस मनाया जाता है। इस वर्ष नई दिल्ली में ४ अक्टूबर, ८७ को एनीमल वेलफेअर सोसायटी द्वारा बोट क्लब पर आयोजन किया जा रहा है।

—भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की एक बैठक ३-४ अक्टूबर, ८७ को आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में थुबोनजी अतिथय क्षेत्र में रखी गयी है। कमेटी के अध्यक्ष साहू अशोककुमारजी जैन के पत्रानुसार वर्तमान राष्ट्रीय एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह बैठक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

—स्व. धु. मनोहरलाल वर्णी 'सहजानन्द महाराज' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक वृहद् ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हो गया है। पूज्य वर्णीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बद्ध रचनाएँ आमंत्रित हैं। १५ अक्टूबर, ८७ तक निम्न पते पर रचनाएँ भेजी जा सकती हैं : श्री अशोक जैन, संपादक 'सहज आनन्द' वी-५/२६३, यमुना विहार, दिल्ली-११० ०५३।

—विगत तीन दशक तक श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता में प्रधानाचार्य-पद पर कार्यरत रहने के बाद सेवा-निवृत्त होने पर श्री रामानन्द तिवारी का गत १ अगस्त, ८७

को श्री जैन विद्यालय सभागार में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा एवं विद्यालय परिवार तथा कलकत्ता के अनेक शिक्षण संस्थानों की ओर से हार्दिक अभिनन्दन किया गया। अभिनन्दन-कार्यक्रम का संचालन एवं संयोजन श्री भूपराज जैन ने किया।

—अध्यात्म ध्यान योग शिविर का साप्ताहिक आयोजन (१६ से २२ सितम्बर, ८७) ब्र. कौशलजी के सान्निध्य में दि. जैन उदासीन आश्रम, इन्दौर में किया गया। जिसमें लगभग २५० से अधिक शिविरार्थी भाई-बहन सम्मिलित हुए।

—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के द्वि-सहस्राब्दी-समारोह के सन्दर्भ में इन्दौर में भी ११-१२ अक्टूबर, ८७ को विशाल आयोजन किया जा रहा है।

—भगवान महावीर हॉस्पिटल के चेयरमेन श्री सतपाल जैन के निधन पर दिल्ली में गत १३ अगस्त, ८७ को एक श्रद्धांजलि-सभा आयोजित की गयी।

—कर्मठ एवं वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री राजेन्द्रकुमार लुहाड़या के निधन पर १६ अगस्त, ८७ को कलकत्ते की समस्त दिगम्बर जैन समाज की संस्थाओं द्वारा श्रद्धांजलि-सभा का आयोजन किया गया।

—मद्रास में धर्मपरायणा सुश्राविका सरोज रानी सेठिया का निधन गत ४ अगस्त, ८७ को हो गया। उनकी इच्छानुसार किसी भी प्रकार की रस्म नहीं की गयी।

—इन्दौर में नईदुनिया प्रेस के जनरल मैनेजर श्री हीरालाल झांझरी की माताजी और समाजसेवी श्री बाबूलाल पाटोदी की बहिन श्रीमती केशरबाई का निधन गत ८ सितम्बर को हो गया। वे धर्मार्त्ता और सरल स्वभावी थीं।

—भोगीलाल लेहरचंद भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली के तत्वावधान में आचार्य हरिभद्रसूरि के अवदान पर एक त्रिदिवसीय (२५-२७ सितम्बर, ८७) संगोष्ठी का आयोजन किया गया है।

—श्रमण संघीय युवाचार्य श्री शिवमुनि एवं श्री विजयमुनि के सान्निध्य में संवत्सरी पर श्री पंजाब जैन धातु सभा, खार, बम्बई के अध्यक्ष श्री नृपराज जैन ने ध्यान-साधना एवं शोध केन्द्र स्थापित करने की घोषणा की।

—जैन विश्व भारती, लाडनूँ द्वारा दिल्ली में 'आचारांग' पर एक त्रिदिवसीय (९ से ११ अक्टूबर, ८७) विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है, जिसमें आयारो (प्रथम श्रुतस्कन्ध) की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाएगा। संगोष्ठी के संयोजक डॉ. के. आर. चन्द्र, अहमदाबाद हैं।

—कुशल चित्रकार और भावस्पर्शी कवि स्व. विकास शहा की स्मृति में 'श्राविका' संस्थानगर, सोलापुर के मुखपत्र 'श्राविका' के विशेषांक का प्रकाशन-समारंभ साहित्यिक श्री सुमेरु जैन की अध्यक्षता में २६ सितम्बर, ८७ को आयोजित किया गया।

(पत्रांश : पृष्ठ २०४ का शेष)

गुरुतर

लघु आचार्य विशांका आकार में लघु होते हुए भी गुरुतर है। होश (भाव) के श्रमणों से कोश (द्रव्य) के श्रमणों की भीड़ बढ़ती जा रही है। अपरिपक्व श्रमण भी रातोंरात आचार्य बन जाते हैं। निवृत्ति-परक जैनधर्म को प्रवृत्तिपरक बनाने की साजिश जोरों पर है।

आचार्य शब्द-कोश बहुत काम का है। प्रत्येक अंक में कोई-न-कोई धर्म से संबन्धित वैज्ञानिक लेख होते हैं, इसके लिए साधुवाद। —राजमल पर्वया, भोपाल

'तीर्थकर' : लघुविश्व-कोश

आपकी विशिष्ट दृष्टि से हरेक विशांका एक लघुकार्य एन्सायक्लोपीडिया की स्थिति धारण कर लेता है।

—अजित मुनि, पुणे

बच्चों के लिए (तीर्थकर)

'तीर्थकर' में प्रकाशित सामग्री का स्तर इतना ऊँचा होता है कि परिवार के बच्चे उसके लाभ से वंचित रह जाते हैं; अतएव बच्चों में जैनधर्म के प्रति रुचि जागृत हो इस प्रकार की सामग्री हेतु दो पृष्ठ नियत करें। —कृ. आशा जैन, छोटी कसरबाब

सम्पत्ति/प्राण

'आचार्य लघु विशांका' में समाज की जो ज्वलन्त समस्या है उसका आगम के अनुसार आपने खूब विश्लेषण किया है। यह विशांका न हो कर एक सम्पत्ति है। पूज्य आचार्यश्री के साथ जो वार्तालाप है, वह तो इसका प्राण है।

—जयकुमार जैन, फीरोजाबाद

शिक्षाप्रद

आचार्यश्री विद्यानन्दजी और आपकी जो बातचीत है, वह अपने-आप में काफी शास्त्रानुसार महत्त्वपूर्ण है। प्रश्नोत्तर न केवल पाठकों के लिए, अपितु सन्तों के लिए भी शिक्षाप्रद है। आशा है, यह विशांका जैनाचार्यों, मुनियों एवं सतियों (साध्वियों) के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

—मानवमुनि, इन्दौर

धरोहर/दस्तावेज

'तीर्थकर' का हर अंक जैन साहित्य की धरोहर है। कृपया इसमें अखबारी कागज का उपयोग न करें, भले ही मूल्य-वृद्धि कर दी जाए। ये दस्तावेज आने वाली पीढ़ी को मार्गदर्शक होंगे।

—अभिनन्दन साधेलीय, पाटन

तीर्थकर : सित. अक्ट. ८७/२०७

आजीवन सदस्य

६६५. डॉ. (कु.) नूतनप्रभा जैन
पो. जोहरीनगर २०५६२६
जि. मैनपुरी (उ.प्र.)
६६६. श्री सुनील कुमार जैन
सुनील किराना भंडार
झंडा चौक
पो. खुरई ४७०११७ (सागर)
६६७. श्री वीरेन्द्र जैन
२४८, बिलस्डन लेन
पो. लन्दन एन.डब्ल्यू २
(इंग्लैंड)
६६८. श्री आनन्दकुमार जैन
आनन्द साइकिल स्टोर
५०, महात्मा गांधी मार्ग
हनुमान चौक, पठार
पो. खुरई ४७०-११७ (सागर)
६६९. श्री आनन्द मलैया
द्वारा : डॉ. राजेन्द्र मलैया
पठार
पो. खुरई ४७०११७ (सागर)
१०००. श्रीमती सरलादेवी सेठी
द्वारा : श्री के. सी. सेठी
मुख्य इंजीनियर
म.प्र. विद्युत मंडल
पोलीग्राउण्ड
पो. इन्दौर ४५२००३ (म.प्र.)
१००१. श्री गोविन्दसिंह सेंगर
मुख्य इंजीनियर (सिविल)
१४५४/ई, 'अमृत',
नर्मदा रोड,
पो. जबलपुर ४८२००२ (म.प्र.)
१००२. श्री बाबूलाल राजकुमार जैन
फर्नीचर मार्ट
स्टेशन रोड
पो. खुरई ७४०११७ (सागर)
१००३. श्री बाबूलाल खुन्नीलाल जैन
रेडीमेड स्टोर
पो. खुरई ४७०११७ (सागर)
१००४. श्री शीला निलेश शाह
५/२७४, शक्ति निवास
देवधर रोड, मांटुगा
पो. बम्बई ४०००१९
१००५. श्री सागरमल मोहनलाल
चोरड़िया
मे. चोरड़िया फायनेंस प्रा.लि.
७१, अप्पु मुदाली स्ट्रीट
मायलापुर
पो. मद्रास ६००००४
१००६. श्री एच. प्रेमचन्द बोथरा
३, मधुराम मुदाली स्ट्रीट
मनडवेली, मायलापुर
पो. मद्रास ६००००४
१००७. श्री पारसमल चोरड़िया
मे. गौतम दास मिल
८१/६८, कोपरगंज
पो. कानपुर २०८००१ (उ.प्र.)
१००८. श्री अजित कुमार जैन
जैन मशीनरी एण्ड इलेक्ट्रिकल्स
पो. खुरई ४७०११७ (सागर)
१००९. श्री ज्ञानचन्द जैन, व्याख्याता
शिक्षक कॉलोनी
गुरुकुल रोड
पो. खुरई ४७०११७ (सागर)
१०१०. श्री सुभाषचन्द जैन, सेक्रेटरी
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कलां
नागोरी गेट
पो. हिसार १२५००१
१०११. श्री शीतल चन्द्र पालीवाल
सभापति भवन
मीरा बाग
सान्ताक्रुज (पश्चिम)
पो. बम्बई ४०००५४

'तीर्थंकर' के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

१. मुनिश्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४)	१०.००
२. श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५) (दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	१०.००
३. मुनिश्री चौथमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४. आचार्य श्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८; (सजिल्द फाइल में)	३०.००
५. साध्वीश्री विचक्षणश्री (फर.-माचं, ७८)	१५.००
६. पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७. गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८. जैन पत्र-पत्रिकाएँ (अग.-सित., ७७)	२०.००
९. वीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०. गमोकार मन्त्र खण्ड-१ (नव.-दिस., ८०)	१०.००
११. गमोकार मन्त्र खण्ड-२ (जनवरी, ८१) (गमोकार के दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	१०.००
१२. भक्तामर स्तोत्र (जनवरी, ८२)	२५.००
१३. जैन भूगोल (अगस्त, ८२)	२१.००
१४. श्रीमहावीर-तीर्थ (नवम्बर, ८२)	५.००
१५. जैन ध्यान/जैन योग (अप्रैल, ८३)	१०.००
१६. समाज-सेवा (नव. दिस., ८३)	१५.००
१७. प्रतिक्रमण/सामायिक (अक्टू.-नव., ८४)	१५.००
१८. प्रतिक्रमण शेषांक (दिसम्बर, ८४)	२०.००
१९. सामायिक शेषांक (जनवरी, ८५)	५.००
२०. श्रावकाचार-विशेषांक (माचं-अप्रैल, ८५)	५.००
२१. आहार-अंक (जून-जुलाई, ८५)	१५.००
२२. पूजा-विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८५)	४.००
२३. जैन जैविकी विशेषांक (फरवरी-माचं, ८६)	१०.००
२४. उपवास-अंक (मई, ८६)	१०.००
२५. जैन भौतिकी विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८६)	३.००
२६. टोना-टोटाका/जंतर-मंतर विशेषांक (फरवरी-अप्रैल, ८७)	१०.००
२७. आचार्य लघु विशेषांक (जुलाई-अगस्त, ८७)	१५.००
	५.००

विशेषांकों के संपूर्ण सेट का रियायती मूल्य रु. २८०.०० है रजिस्ट्री चाजं एक विशेषांक पर रु. ५/-, अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १/-०० वी.पी.पी. नहीं की जाएगी अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट से ही भेजिये।

प्रबन्ध सम्पादक, तीर्थंकर; ६५ पत्रकार कालोनी, इन्दौर-४५२००१

विज्ञान की प्रगति ने
हमारे सामाजिक और धार्मिक
जीवन के
तमाम संदर्भ बदल दिये हैं,
क्या यह बदलाव
हमारे परम्पारित अस्तित्व
के लिए करारी चुनौती नहीं है ?

अस्तित्व-संघर्ष
के इन क्षणों में
आप अवश्य पढ़ें
डॉ. नेमीचन्द जैन
की विचारोत्तेजक कृति

जैनधर्म : इक्कीसवीं शताब्दी

मूल्य—तीन रुपये; डाक-व्यय सहित पाँच रुपये

प्राप्ति-स्थान :

व्यवस्थापक, हीरा भैया प्रकाशन,
६५, पत्रकार कालोनी, कनाडिया रोड,
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

“

मन, वचन और कर्म से सत्य का आचरण करना ही सत्य की पूजा है ।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

अभयसिंह सुराणा

३, मेंगोलिन, कलकत्ता-७०० ००३

तीर्थंकर : सित. अक्टू. ८७/२११

“

खाद बना कर किसान गन्दगी का सदुपयोग करता है। क्या तुम गालियों का आत्म-कल्याण में उपयोग नहीं कर सकते ?

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

डी. सी. ग्रूप (प्रा.) लिमि.

२, क्लाइव घाट स्ट्रीट,

कलकत्ता-७०० ००१

“

होनहार के भरोसे पुरुषार्थ त्याग देना उचित नहीं है। पुरुषार्थ के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

नथमल लूणिया एण्ड सन्स

३५, आरमेनियन स्ट्रीट,

कलकत्ता-७०० ००१

“
जिन पदार्थों मेंसे सेक्रिन निकली, वे और कुछ नहीं, केवल डामर वगैरह
थे। इस कूड़े-कचरे मेंसे जब इस प्रकार की मिठाई निकल सकती है,
तब जिस आत्मा में अनन्त और असीम मिठास है; उसकी शोध-साधना
क्यों नहीं करते ?

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

श्री चुन्नीलाल मेहता चैरिटेबल ट्रस्ट,

६८ हेमप्रभा, मरीन ड्राइव्ह,

बम्बई-४०० ०१७

“ तुम जिसकी सेवा करते हो, उस पर अहसान मत जताओ। उपकार समझ कर नहीं, वरन् कर्तव्य समझ कर सेवा करो। ऐसा करने से तुम्हारे चित्त में अहंकार नहीं जनमेगा।

—जैनाचार्य अवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

गणपतराज बोहरा

पीपलिया-कलाँ ३०६ ३०७ (राजस्थान)

“
धर्म, व्यक्ति और समाज का जीवन है। जिन्हें जीवन पसन्द नहीं है, वे
धर्म से दूर रह सकते हैं।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

गुमानमल चोरड़िया

‘अरिहन्त’, १७, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर (राजस्थान) ३०२ ००४

“

निर्भय होने पर तलवार, विष या अग्नि वगैरह कोई भी वस्तु तुम्हारा बाल बाँका न कर सकेगी। वास्तव में दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड़ नहीं कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर बैठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है।”

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

वोरा वायर्स

डी-२ सेक्टर, इंडस्ट्रियल इस्टेट,

साँबेर रोड, इन्डौर-४५२ ००३

दूरभाष : ३२६६६

“

अपनी दृष्टि ऐसी उज्ज्वल बनाइये कि आपको दूसरे के गुण दिखायी दें।
अवगुणों की तरफ दृष्टि मत जाने दीजिये। हाँ, अवगुण देखने हैं, तो अपने
ही देखो।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

शिखरचन्द्र मिश्री

१, नूरमल लोहिया लेन

कलकत्ता-७०० ००७

“

मृदुता एक महान् गुण है और वह मान पर विजय प्राप्त करने से आता है। जिसमें नम्रता होती है, वही महान् समझा जाता है।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

तरुण टेक्सटाइल्स,

२०३/१, महात्मा गांधी रोड,

कलकत्ता-७०० ००१

“

आत्मबल में अद्भुत शक्ति है। इस बल के सामने संसार का कोई भी बल नहीं टिक सकता। इसके विपरीत, जिसमें आत्मबल का सर्वथा अभाव है, वह अन्यान्य बलों का अवलम्बन करके भी कृतकार्य नहीं हो सकता।”

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ

म्यूजिकल फिल्मस प्रा. लिमि.

९-ए, एस्प्लेनेड ईस्ट,

कलकत्ता - ७०० ०६९

तीर्थंकर : सित. अक्टू. ८७/२१६

“

आज अगर थोड़ा-बहुत शान्ति का अनुभव होता है तो उसका अधिकांश श्रेय अहिंसादेवी और क्षमा माता के ही हिस्से में जाता है। जगत् में इनका अस्तित्व न रहे तो संसार की शान्ति जितनी है, वह भी अदृश्य हो जाए।

—जैनाचार्य जवाहरलाल

हमारी शुभ कामनाओं के साथ
चम्पालाल जैन, ब्यावर (राजस्थान)



S. Kumars®

A Trusted Name in

**'TERENE' & 'TERENE' BLENDED
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES**

Phone : 29 84 32 / 31 58 33

Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026

Telex : 011-2952

Registered Office :

S. KUMARS

"NIRANJAN"

99, Marine Drive, BOMBAY-400 002

तीर्थकर : सित. अक्टू. ८७/२२९

भारतीय ज्ञानपीठ

गौरवशाली प्रकाशन परम्परा में नये कीर्तिमान

- **गूंगे सुर बांसुरी के** (कहानी संग्रह)—पन्नालाल पटेल
ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता गुजराती के विख्यात कथाकार पन्नालाल पटेल की चुनी गई श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। 45/-
- **महाभारती** (उपन्यास)—डॉ. चित्रा चतुर्वेदी “कार्तिका”
महाभारत की प्रमुख नारी पात्र द्रौपदी के ओजस्वी व्यक्तित्व को उजागर करने वाली एक सशक्त कृति। 50/-
- **शान्तला** (उपन्यास) चार भागों में—सी. के. नागराजराव
कर्नाटक के होयसल राजवंश की तीन पीढ़ियों का समूचा जीवन-परिवेश प्रस्तुत करने वाला विशाल ऐतिहासिक उपन्यास। 45/-, 55/-, 55/-, 55/-
- **भारतीय कहानियाँ** : 1984—संपादन : बालस्वरूप राही
भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कहानियों में से अग्रणी कथा-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई विशिष्ट कहानियाँ। कथाकारों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-
- **भारतीय कविताएँ** : 1984—संपादन : बालस्वरूप राही
भारतीय भाषाओं में वर्ष 1984 में प्रकाशित कविताओं में से अग्रणी काव्य-मर्मज्ञों द्वारा चुनी गई 75 विशिष्ट कविताएँ। कवियों के सचित्र परिचय-सहित। 55/-
- **खिलाफ़ हवा से गुजरते हुए** (काव्य-संकलन)—विनोद दास
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित नयी पीढ़ी काव्य-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ घोषित काव्य-संकलन। 25/-
- **मुक्तिदूत** (पौराणिक उपन्यास)—वीरेन्द्रकुमार जैन
(मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार, 1984 से सम्मानित)
अंजना और पवनंजय की प्रसिद्ध कथा पर आधारित उपन्यास का नया संस्करण, नयी साज-सज्जा के साथ। 30/-

जैन साहित्य : नये प्रकाशन

○ Tiruvalluvar and his Tirukkural

TIRUVALLUVAR, the author of the KURAL is said to have lived in the first century A.D. All religionists including the Christians claim Tiruvalluvar, but the internal evidence in the Kural—his definition of truth, his insistence on Ahimsa, his exhortations on non-killing and non-eating of meat and doing of no harm to living beings as well as his invocatory chapters on ascetics, householders etc., in addition as also his chapter of ten verses on Godhead—seems to speak out in no uncertain terms that by birth, and most certainly by conviction, he was Jain.

This book undertakes to spell out the implications of the tenets found in Kural and to relate them to Jaina doctrine as they should be.

Written by Ka Naa Subramanyam, a distinguished Tamil Writer.
Price Rs. 45/-.

○ षट्खण्डागम परिशीलन

“षट्खण्डागम” ‘जैन दर्शन और सिद्धान्त’ का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। परम्परा से आचार्य-कुलों में, साधु-श्रावकों एवं विद्वन्-मण्डलियों में इसका उच्चस्तरीय अध्ययन-परिशीलन होता आया है। “षट्खण्डागम परिशीलन” इसी दिशा में एक ऐसे विद्वान् के चिन्तन-मनन का सुफल है जिसने मूल ग्रन्थ और उसकी टीकाओं का आलोड़न किया है, उनका सम्पादन किया है। षट्-खण्डागम का अध्ययन उच्चतम एवं विशद स्तर पर जिन-जिन पहलुओं से किया जाना चाहिये वह सब प्रस्तुत परिशीलन में समाविष्ट है; जैसे—आगम-साहित्य की पृष्ठभूमि, ग्रन्थकारों और टीकाकारों की विवेचन-पद्धति, मूलग्रन्थ का विषय-परिचय, अन्य ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन, प्रमुख टीकाकार और टीकाएँ—इन सबका व्यापक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन और इतिहास। सोलह जिल्दों में प्रकाशित षट्खण्डागम और उसकी टीकाओं में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों की वर्णानुक्रम से विस्तृत सूची भी इस ग्रन्थ में नियोजित है।

जैन दर्शन के अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए एक अनुपम भेंट।

लेखक — पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। बड़ी साइज़ के लगभग एक हजार पृष्ठों में मूल्य 120/-।

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड

नई दिल्ली - ११०००३

समुद्र में सिन्धु और बिन्दु दो चीजें हैं। जब जल का भण्डार है तब सिन्धु है। अनेक बिन्दु हैं तभी सिन्धु बनता है। यदि एक बिन्दु सिन्धु से पृथक् हो जाये तो सूर्य उसको सुखा देता है पर सिन्धु के साथ रहने पर दो सूर्य भी उसे नहीं सुखा सकते। इसी प्रकार जो समाज से, धर्म से कट कर रहेगा वह सूख जायेगा, चाहे वह कोई सामाजिक प्राणी हो, आध्यात्मिक प्राणी हो या तत्त्वज्ञानी हो, उसका अस्तित्व नहीं रहेगा।

—प. पूज्य आचार्य विद्यानन्द मुनिश्री



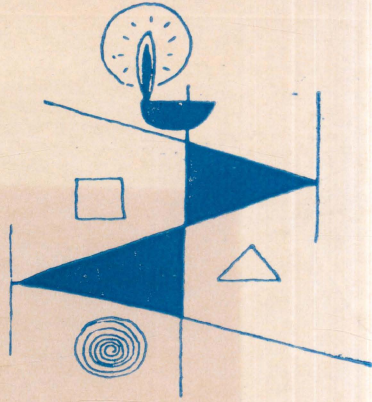
हमारे रेडिऑटर्स निम्नलिखित गाड़ियों में ओरोजिनल इक्विपमेंट के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं—

- | | |
|---|---|
| <input type="checkbox"/> मारुती बस | <input type="checkbox"/> डी.सी.एम. टोयाटा 'डायना' |
| <input type="checkbox"/> प्रीमियर पव्मिनी/प्रीमियर ११८ एन. ई. | <input type="checkbox"/> टाटा ट्रक |
| <input type="checkbox"/> महिंद्र जीप/महिंद्र ट्रैक्टर | <input type="checkbox"/> महिंद्र एन.सी. ट्रक |
| <input type="checkbox"/> एस्कॉर्ट्स ट्रैक्टर | <input type="checkbox"/> बजाज टैंपो |
| <input type="checkbox"/> आल्बिन निसान कंबेस्टर | |

भारत रेडिऑटर्स प्रा. लि.

प्रधान कार्यालय : ८१, बजाज भवन, नरीमन पॉइंट, बम्बई-४०० ०२१

दूरभाष : २०२ ००८५/२०२ १४९७/२०४ ४९३८



जैनधर्म मूलतः साधुमार्गी

जैनधर्म और बौद्धधर्म मूलतः साधुमार्गी धर्म थे। जहाँ तक जैन साहित्य के पर्यालोचन का प्रश्न है उससे तो यही प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में एक मात्र अनगार या मुनिधर्म का ही प्राधान्य था। जब मुनिधर्म को धारण करने की ओर रुचि कम हुई तब श्रावक धर्म का विस्तार अवश्य हुआ; किन्तु मुनिधर्म का महत्त्व कभी भी कम नहीं हुआ; क्योंकि परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति मुनिधर्म के बिना नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त जैनधर्म में आज तक अक्षुण्ण है।

—‘अनगार धर्माभूत’, पण्डित आशाधर; प्रस्तावना—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 15

सर्वप्रथम मुनिधर्म

यो यतिधर्ममकथयन्नूपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१९॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।

अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आ. अमृतचन्द्र (६६२-१०५५ ई.) ।

जो अल्पमति उपदेशक मुनिधर्म को न कह कर श्रावकधर्म का उपदेश देता है, उसे जिनागम में दण्ड का पात्र कहा है; क्योंकि उस दुर्बुद्धि के क्रम का भंग करके उपदेश देने से दूर तक उत्साहित हुआ भी शिष्य श्रोता तुच्छ स्थान में ही संतुष्ट हो कर ठगाया जाता है; अतः वक्ता को प्रथम मुनिधर्म का उपदेश करना चाहिये, यह पुराना विधान है।

चलता-फिरता शव

- सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है, और सब सिद्धियों में श्रेष्ठ है।
- जिसकी दृष्टि सम्यक् है वह कभी कर्तव्य-विमूढ़ नहीं होता।
- जो स्वयं - अपने आप में - लीन है, वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।
- सम्यक्त्व-विहीन व्यक्ति हजारों करोड़ साल तक के प्रचण्ड तप से भी बोधि-लाभ नहीं करता।
- सम्यग्दृष्टि निःशंक होता है, इसीलिए अनायास ही निर्भय भी होता है।
- सम्यक्त्व-से-रिक्त व्यक्ति चलता-फिरता 'शव' है।
- शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण, सोना-माटी में राग-द्वेष के अभाव को समता कहते हैं।
- जो श्रमण समता-से-रहित है उसका वनवास, कांयक्लेश, उपवास और अध्ययन सब व्यर्थ है।
- क्षमा, मृदुता, सरलता, साधना, निर्लोभ, अदीनता, तितिक्षा (सहिष्णुता) और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि - ये सब साधु की निशानियाँ हैं।
- साधु को कमल-की-पाँखुरी की तरह निलिप्त और आकाश की भाँति निरवलम्ब (स्वाधीन) होना चाहिये।
- जो समस्त प्राणियों पर समभाव रखता है असलें में श्रमण वही है।
- श्रमणत्व का नवनीत है - उपशम।
- साधु पग-पग पर दोषों की संभावना को ध्यान में रखता हुआ चले, छोटे-छोटे दोष को भी पाश-जाल समझ कर सावधान रहे।
- जो साधु अध्यात्मभाव-रूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं विनय में श्रेष्ठ है, वे ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुंडरीक (श्वेत) कमल हैं।

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]